ऋग्वेदीय संवाद-सूक्त

डॉ॰ सत्यदेव चौधरी

ऋग्वेदीय-संवाद-सूक्त : एक परिचय

समस्त ऋग्वेद-संहिता को १० मण्डलों में विभक्त किया गया है जिनमें कुल मिलाकर १०२८ सूक्त हैं । इनमें समग्रतः १०, ५५२ मन्त्र हैं । उक्त सूक्तों में लगभग २२ आख्यान-सूक्त हैं जिनमें लगभग ११ सूक्त संवाद-रूप में प्रस्तुत हैं, इनमें २ (अक्षसूक्त और भिक्षुसूक्त) स्वगत-भाषण हैं । इस पुस्तक में इन्हीं ११ सूक्तों पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है, जिनमें कुल मिलाकर १७५ मन्त्र हैं।

इन संवाद-सूक्तों में से तीन सूक्त वर्षा के देवता इन्द्र से संबन्धित हैं, दो सूक्त अगस्त्य और लोपामुद्रा तथा पुरूरवा और उर्वशी दम्पतियों से संबन्धित हैं और एक सूक्त यम-यमी यमल से तथा एक सूक्त विश्वामित्र और दो नदियों से। इस संकलन में एक अन्य अति मनोरम सूक्त सूर्यासूक्त अथवा विवाह-सूक्त है जिसके मन्त्र विवाह-संस्कारों में इस युग तक सोल्लास तथा साह्लाद उच्चारित होते चले आ रहे हैं ।

उपर्युक्त सूक्तों के प्रत्येक मन्त्र का सस्वर मूल पाठ तथा पद-पाठ, अन्वय और विशिष्ट पदों का अर्थ देने के अनन्तर इनका संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषाओं में यथासंभव सहज, सरल, सुबोध अनुवाद किया गया है। प्रयास यह भी रहा है कि अनुवाद में आरोपित तथा अतिरिक्त अर्थ का समावेश किसी रूप में न हो । इससे मूल विषय को समझने में पर्याप्त सुगमता होती है।

प्रत्येक सूक्त की 'विवृति' के अन्तर्गत संक्षिप्त मूल कथा और शौनक-विरचित बृहद्देवता के अनुरूप विशिष्ट अभिप्राय देने के पश्चात् यह कथा ब्राह्मण-ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, महाकाव्य, नाटक आदि में क्या रूप ग्रहण करती चली गयी है, इस

क्रमशः....

पूज्य पिता

दिवंगत चौधरी वासुदेव जी आर्य

को समर्पित

जिन की यह अभिलाषा पूर्ण न हुई

कि मैं वैदिक साहित्य का विद्वान् बनूँगा।

— सत्यदेव चौधरी

ऋग्वेदीय संवाद-सूक्त

डॉ० सत्यदेव चौधरी

अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली - 2

मेरी अपनी बात

अपने आरम्भिक छात्र-जीवन में कभी कहीं पढ़ा था कि नाटक में संवादतत्त्व का मूल स्रोत ऋग्वेद है। इसके बाद आगे चलकर अपनी विभिन्न परीक्षाओं की वेदविषयक पाठ्यपुस्तकों से तथा संस्कृत-साहित्य से संबन्धित इतिहास-ग्रन्थों से ऋग्वेद के आख्यान-सूक्तों से परिचित हुआ। ये संख्या में लगभग २० हैं[१] तथा इनमें कम-से-कम ११ सूक्त ऐसे हैं जो संवाद, स्वगतभाषण अथवा एकाकी भाषण के रूप में प्रतिपादित हैं।

उक्त सूक्तों में से सर्वप्रथम मैंने **'यम-यमी सूक्त'** (ऋग्० १०.१०) का विवरण सन् १९४५-४६ में एम०ए० (संस्कृत) परीक्षा की तैयारी करते समय एम. विन्टरनिटत्स के ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन लिट्रेचर' (१म भाग, पृ० १०६-१०७) में पढ़ा था । इसने मुझे अत्यन्त आकृष्ट किया था । बहिन का भाई के प्रति अत्यन्त कामुकता-पूर्ण आकर्षण तो मुझे बेहद अखरा था, पर इस पर ध्यान दिये बिना, जब मैंने एक नारी को एक पुरुष के प्रति प्रणय-निवेदन करते पाया, और वह भी सहवास की उत्कट अभिलाषा के साथ[२], तो यह प्रसंग मुझे अति रोचक भी लगा और आश्चर्यजनक भी । रोचक तो यह प्रसंग है ही, आश्चर्यजनक इसलिए कि कोई नारी, विशेषतः भारतीय नारी, और वह भी वैदिक युग की नारी, इस प्रकार की मिन्नत-समाजत कर रही है ऐसे कृत्य केलिए किसी पुरुष से, बल्कि अपने सगे भाई से।

उक्त इतिहास-ग्रन्थ (पृ० १०३-१०४) में दूसरा रोचक सूक्त मुझे **'पुरूरवा-उर्वशी-संवाद'** से संबन्धित लगा । आश्चर्यजनक यह संवाद भी प्रतीत हुआ कि एक नारी अपने पति को छोड़कर चली जा रही है, जिसका कोई दोष नहीं, जिस में कोई कमी नहीं, उस पुरुष को जिसके

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति (बलदेव उपाध्याय), पृष्ठ ११५।

2. *I, Yami, am possessed by love of Yama,*
that I may rest on the same couch beside him.
I as a wife would yield me to my husband
Like car-wheels, let us speed to meet each other. (Rg., 10.10.7)

साथ उसने कई वर्ष बिताये हैं, जिससे उसके एक अथवा अनेक पुत्र उत्पन्न हुए हैं,[1] और कामुकता के आवेग में वह सदा उससे सन्तुष्ट रही है।[2] आश्चर्य इस पर भी हुआ कि पुरूरवा कैसा मर्द है ! मर्द होकर भी विलाप करता है, बिसूरता और तड़पता-फिरता है ।

उक्त पुस्तक (पृ० १०७-१०९) में मैंने **'सूर्या-सूक्त'** (ऋग्० १०.८५) का विवरण पढ़ा था जिसे 'विवाह-सूक्त' भी कहते हैं।[3] इसी सूक्त के एक मन्त्रांश **'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथास'** (मं० ३६) के निम्नलिखित इंगलिश-रूपान्तर से मैं अति रोमांचित हुआ था, आज भी होता हूँ— तब और दृष्टि से, किन्तु आज और दृष्टि से —

"I take thy hand in mine for happy fortune
that thou mayst reach old age with me thy husband."

समय बीतता गया । कुछ वर्ष पूर्व मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय की एक संगोष्ठी में एक लेख पढ़ा था–'नारी का एक रूप यह भी : यम-यमी-संवाद के संदर्भ में' । इसे प्रस्तुत करने के बाद मेरे पुराने संस्कार जाग उठे । मैंने ऋग्वेद से मूल रूप में संवाद-सूक्त पढ़ने शुरु कर दिये। उक्त तीनों सूक्त पढ़ने के बाद मैंने **'लोपामुद्रा-अगस्त्य-संवाद'** (ऋग्० १०.१७९) पढ़ा। लोपामुद्रा की अगस्त्य से शिकायत और रमणाभिलाषा की पूर्ति केलिए उसे प्रेरित करना और उकसाना, और तभी अगस्त्य मुनि बोल उठे — **धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्** (अस्थिर-मनस्का नारी संयमी पुरुष को भी सन्मार्ग से विचलित कर देती है)। (मं० ४)

इनके बाद **'पणि-सरमा-संवाद'** (ऋग्० १०.१०८) तथा **'विश्वामित्र-नदी-संवाद'** (ऋग्० ३.३३) पढ़े। देवशुनी सरमा चोरी की गयी गौएं ढूँढती-ढूँढती ठीक स्थान पर जा पहुँची। 'पुलिस-डॉग्स' जासूसी आज भी करते हैं । विश्वामित्र के सविनय अनुरोध पर विपाट् (व्यास) और शुतुद्री (सतलुज) नदियों ने अपना बहाव कम कर दिया । यही मिथकीय कार्य आगे चलकर महाभारत में भी हुआ । यमुना का जल-स्तर कम हो गया और अपने सिर पर नवजात शिशु को लिये वसुदेव नदी से पार हो गये ।

---

१. देखिए पृष्ठ २४९, २५३, २५७, २६१।
२. **वैतसेन श्नथिता** (मन्त्र ४)।
३. इस सूक्त के अन्तर्गत अनेक मन्त्र स्वगत-भाषण, एकाकी भाषण अथवा संवाद-रूप में प्रतिपादित हैं।

'इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि' (ऋग्० १०.८६) सूक्त मुझे बिल्कुल नहीं भाया । इन्द्राणी बेतुकी और लिज़लिज़ी बातें करती है, और वृषाकपि पति-पत्नी के बीच व्यर्थ में ताक-झाँक करता है ।

इनके बाद मैंने **'अक्षसूक्त'** और **'भिक्षुसूक्त'** (ऋग्०, क्रमशः १०.३४ और १०.११७) पढ़े । ये दोनों सूक्त स्वगत-भाषण हैं, और स्वगत-भाषण को नाटकों में संवाद माना जाता है। 'अक्षसूक्त' का जूएबाज़ ऐलूश कवष अपनी आदत से मजबूर है, पर मन से साफ़ है । जो मनुष्य अपनी बुराई को 'बुराई' समझता है, उसे सदा केलिए छोड़ देने का संकल्प भी वही कर सकता है। 'भिक्षुसूक्त' का भिक्षु अंगिरस अपने प्रकार का विचित्र दार्शनिक है । कहता है, 'आदमी वह भी मरता है जो नियमित रूप से भोजन खाता रहता है; वह भी मरता है जो दूसरों की दया पर अपनी भूख मिटाता है; और वह तो मरता ही है जिसे खाने को कुछ नहीं मिलता । तो सिद्ध हुआ कि भूख मृत्यु का कारण नहीं है ।'

इस संग्रह में **'इन्द्र-मरुत्-अगस्त्य-संवाद'** तथा **'इन्द्र-अगस्त्य- संवाद'** (ऋग्० १.१६५ तथा १.१७०) भी जोड़े गये हैं । आप मुझसे सहमत होंगे कि ये दोनों संवाद वैदिककालीन वातावरण का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करते हैं । इन तीनों पात्रों में से इन्द्र और मरुत् तो प्रकृति के निकट हैं ही, अगस्त्य भी उसी साँचे में ढला हुआ प्रतीत होता है ।

तो इस प्रकार उपर्युक्त कुल मिलाकर ११ संवाद-सूक्त इस संग्रह में प्रतिपादित हैं,[१] और इन्हें ऋग्वेद के मण्डलों तथा सूक्तों के क्रमानुसार संजोया गया है । प्रत्येक सूक्त का परम्परा-सम्मत ऋषि, देवता तथा छन्द निर्दिष्ट करने के बाद सूक्त का अध्ययन आरम्भ किया गया है—पहले मन्त्र, फिर उसका पदपाठ, अन्वय और विशिष्ट पदों का अर्थ देने के बाद क्रमशः संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी भाषाओं में सरलार्थ । प्रत्येक सूक्त की इस रूप में समाप्ति के अनन्तर उस पर **'विवृति'** प्रस्तुत की गयी है। इसके अन्तर्गत पहले हर सूक्त का सारांश, फिर बृहद्देवता द्वारा

---

१. बीस में से शेष नौ आख्यान-सूक्तों में से छह आख्यान-सूक्त जो कि मुझे ज्ञात हैं, निम्नोक्त हैं। ये क्रमशः इन देवताओं से संबद्ध हैं– (१) त्रिविक्रम (विष्णु) (१.१५४), (२) इन्द्र और वृत्र (२.१२), (३) इन्द्र और वरुण (४.४२), (४) श्यावाश्व और राजा रथवीति की कन्या (५.६१), (५) विष्णु और अग्नि (१०.५१) तथा (६) देवगण और अग्नि (१०.५२)।

प्रस्तुत आख्यान का रूपान्तर (यदि उपलब्ध हो तो)। इसके बाद सूक्त की कथा-यात्रा को—ब्राह्मणग्रन्थों, रामायण, महाभारत, महाकाव्य, नाटक आदि में क्या मोड़ मिला—इस का यथोपलब्ध एवं यथेष्ट विवरण। तदनन्तर सूक्त के अन्तर्गत आए नामों का निर्वचन इस उद्देश्य से कि इससे इन नामों का प्रतीकात्मक अर्थ समझने में यथासंभव सहायता मिल सके, और अन्ततः, प्रतीकात्मक अर्थ तक पहुँचने का प्रयास। इसके लिए यथाभीष्ट विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों से उद्धरण तथा पुरातन एवं आधुनिक-युगीन विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु जो हाथ लगा, वह प्रायः विकल्पात्मक—यह भी और वह भी। इनमें से निश्चित रूप से किसे माना जाए, कुछ नहीं कह सकते। इस संबन्ध में इस ग्रन्थ का '**ऋग्वेदीय संवादसूक्तों के सन्दर्भ में प्रतीकात्मकता और इतिहास की समस्या**' नामक अन्तिम अध्याय विशेषतः अवलोकनीय है, पर इसमें प्रस्तुत सभी निष्कर्षों से अनेक पाठक मुझसे सहमत नहीं भी होंगे।

इन सूक्तों का अर्थ समझने में मुझे सर्वाधिक सहायता श्रीमत्सायणाचार्य के भाष्य से मिली और इन सूक्तों का आंग्ल भाषा में रूपान्तर मैंने प्रायः एच.एच. विल्सन और आर.टी.एच. ग्रिफ़्फ़िथ के अनुवाद के आधार पर किया है। स्वामी दयानन्द जी के भाष्य से तो मैं यत्र-तत्र सहायता लेता ही रहा हूँ। इन सभी दिवंगत मनीषियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने केलिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

इस ग्रन्थ के लिखने में श्री पं० शिवनारायण शास्त्री ने मेरी भरपूर सहायता की। उनके निजी पुस्तकालय की अलमारियाँ मेरे लिए सदा खुली रहीं। विवेच्य विषयों पर मैं इनसे सदा विचार-विमर्श करता रहा और उन्होंने मुझे अनेक अमूल्य सुझाव दिये। प्रो० श्रीधर वासिष्ठ तथा स्वामी अनन्तभारती (डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी) ने इस पुस्तक के विवृति-भाग के संबन्ध में बहुविध परामर्श देकर मुझे उपकृत किया। मैं इन सभी विद्वानों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ एवं आभारी हूँ।

—सत्यदेव चौधरी

मर्मज्ञैर्वेदतत्त्वस्य कृतं यदि विमर्शनम्।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम्॥

क्रम

'विवृति' के अन्तर्गत वैदिक तथा तत्सम्बन्धी नामों की अनुक्रमणिका

□□□

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ (ऋग्० ७.५९.१२)

We worship God
Who is Lord of the three worlds,
is full of fragrence,
a source of prosperity and increase.
Just as a ripe fruit leaves the stem,
in the same way,
we may get rid of the fetters of death,
but not be deprived of immortality in any way.

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्यमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१.१८)

I know that perfect Almighty God
who is refulgent like the sun,
beyond darkness and ignorance.
One who knows Him crosses death.
There is none and none other path, indeed.

१. इन्द्र-मरुत्-अगस्त्य-संवाद

(ऋग्वेद १.१६५)

ऋग्वेदस्य प्रथम-मण्डलस्य पञ्चषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

पञ्चदशर्चस्यास्य सूक्तस्य प्रथमा-द्वितीययोर्ऋचोश्चतुर्थी-षष्ठ्यष्टमीनां दशम्यादि-तृचस्य चेन्द्रः, तृतीया-पञ्चमी-सप्तमी-नवमीनां मरुतः, त्रयोदश्यादि-तृचस्य च मैत्रावरुणिरगस्त्य ऋषिः। मरुत्वानिन्द्रो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः ।

ऋग्वेद के पहले मण्डल का यह १६५वाँ सूक्त है। इस सूक्त में १५ मन्त्र हैं। इनमें से संख्या १, २, ४, ६, ८, १०, ११, १२ मन्त्रों का ऋषि इन्द्र है। संख्या ३, ५, ७, ९ मन्त्रों का ऋषि मरुद्गण है तथा संख्या १३, १४, १५ मन्त्रों का ऋषि अगस्त्य है। इस सूक्त का देवता मरुत्वान् इन्द्र है। यह सूक्त त्रिष्टुप् छन्द में रचित है।

उल्लेख्य है कि उपर्युक्त रूप में यों तो जिन मन्त्रों का ऋषि (द्रष्टा, वक्ता) इन्द्र है, उन मन्त्रों का देवता (बोद्धव्य/विषय) मरुद्गण है, जिन मन्त्रों का ऋषि मरुद्गण है, उन मन्त्रों का देवता इन्द्र है और जिन मन्त्रों का ऋषि अगस्त्य है, उनके देवता इन्द्र और मरुद्गण दोनों हैं, पर समग्रतः इस सूक्त का देवता मरुत्वान् इन्द्र माना गया है।

'ऋषि' से अभिप्रेत है मन्त्रद्रष्टा। 'ऋषि' उसे कहते हैं जिसे मन्त्र का दर्शन हुआ है—**ऋषिर्दर्शनात्** (निरुक्त २.११)। **यस्य वाक्यं, स ऋषिः** (कात्यायन, ऋक्सर्वानुक्रमणी, १.२)—इस नाते 'ऋषि' का अर्थ 'अन्तःस्फूर्त कवि' भी है।

'देवता' अथवा 'देवत्व' शब्द का अर्थ है—दिव्यशक्ति अथवा दिव्य प्रतिष्ठा, किन्तु यहां इसका तात्पर्य है विषय—**या तेनोच्यते, सा देवता** (कात्यायन, ऋक्सर्वानुक्रमणी १.३)।

कया शुभा सवयसः सनीळाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः ।
कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया ।। १ ।।

कया। शुभा। सऽवयसः। सऽनीळाः। समान्या। मरुतः। सम्। मिमिक्षुः।
कया। मती। कुतः। आऽइतासः। एते। अर्चन्ति। शुष्मम्। वृषणः। वसुऽया।।

अन्वयः — सवयसः सनीळाः मरुतः कया समान्या शुभा संमिमिक्षुः। कया मती कुतः एतासः एते वृषणः वसूया अर्चन्ति, शुष्मम्।

विशिष्ट-पदानि — सवयसः = समवयस्काः। सनीळाः = समस्थानाः। समान्या = एक-समान-महत्या। शुभा (शुभया) = शोभया यद्वा उदकेन (शुभ् इति उदकनाम)। संमिमिक्षुः (√मिह्) = सम्यक् सिञ्चन्ति। मती = मत्या। एतासः = आगताः। वृषणः = वर्षितारः। वसूया = वसुना (धनेन)। शुष्मम् = बलम्।

इन्द्रो वदति— [एते] समवयस्काः, समानस्थानाः (एकस्मिन् एव अन्तरिक्षे प्रादुर्भवन्तः), कयाचित् (दुर्ज्ञेयया अद्भुतया) एक-समान-महत्या शोभया, केनचिद् उदकेन वा [समन्विताः] मरुतः [एतल्लोकं] सम्यक् सिञ्चन्ति। कयाचित् मत्या (केनचिद् अभिप्रायेण) कुतश्चित् स्थानात् आगता एते वर्षितारः [मरुतः, अनेक-लोकान्] धनेन पूजयन्ति, [तेभ्यः लोकेभ्यश्च] बलम् [उत्पादयन्ति।] वर्षया धनं बलं च वर्द्धत इत्याशयः।। १।।

इन्द्र कहता है— [ये] एक आयु वाले, समान स्थान वाले (एक ही अन्तरिक्ष में उत्पन्न), किसी [दुर्ज्ञेय एवं अद्भुत] एक समान महिमा वाली शोभा अथवा जल से युक्त, मरुत् [इस लोक को] अच्छी प्रकार से सींचते हैं। किसी मति (अभिप्राय) से, तथा किसी स्थान से आए हुए ये वर्षा करने वाले [मरुत्, अनेक लोकों को] जल-रूपी धन से पूजते हैं और [उन लोकों के लिए] शक्ति [उत्पन्न करते हैं], अर्थात् इनसे वर्षा, धन और बल बढ़ता है।। १।।

Indra speaks: The Maruts—who are of one age, one residence, one parallel beauty and dignity—water [the earth] adequately. These Maruts, the showerers of rain, coming

from some unknown place with some unknown intention, venerate [all the worlds] with their wealth of water and thus the energy [and prosperity is generated in the worlds by rain]. (1)

कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त।
श्येनाँ इव ध्रजतो अन्तरिक्षे केन महा मनसा रीरमाम।। २।।

कस्य। ब्रह्माणि। जुजुषुः। युवानः। कः। अध्वरे। मरुतः। आ। ववर्त।
श्येनान्ऽइव। ध्रजतः। अन्तरिक्षे। केन। महा। मनसा। रीरमाम।।

अन्वयः — युवानः कस्य ब्रह्माणि जुजुषुः? कः अध्वरे मरुतः आववर्त, अन्तरिक्षे ध्रजतः श्येनान् इव केन महा मनसा रीरमाम।

विशिष्ट-पदानि — ब्रह्माणि = स्तोत्राणि। जुजुषुः = सेवन्ते (√जुष् प्रीतौ)। आववर्त = न्यवर्तत = निवर्तयति। ध्रजतः = उत्पततः। महा = महता। मनसा = मननवता स्तोत्रेण। रीरमाम = प्रीणयामः, रमेमहि वा।

इन्द्रो वदति— [एते] तरुणाः [मरुतः] कस्य स्तोत्राणि, परिवृढानि हवींषि वा, सेवन्ते, स्वीकुर्वन्ति वा? कश्च एतान् मरुतः [यागान्तरेभ्यः स्वकीये] यागे तथा निवर्तयति यथा अन्तरिक्षे उत्पततः श्येनान् (कपोतादि-पक्षिणः) [कश्चिन् निवर्तयेत्]? [एतादृशान् मरुतः] केन महता मननवता च [स्तोत्रेण] वयं प्रीणयामः रमेमहि वा।। २।।

इन्द्र कहता है— ये तरुण मरुत् किसके स्तोत्रों का, अथवा परिवर्द्धित हवियों का सेवन करते हैं, अथवा उन्हें स्वीकार करते हैं? और वह कौन है जो इन मरुतों को [अन्य यज्ञों से] अपने यज्ञों में लौटाता है— ऐसे जैसे कोई व्यक्ति आकाश में उड़ने वाले बाज़ (कपोत आदि पक्षियों) को लौटाता है। हम ऐसे मरुतों को किस महान् तथा मननशील [स्तोत्र] से प्रसन्न करें? २।।

Indra speaks: Of whose oblations or prayers have these youthful Maruts accepted? Who has turned these Maruts to their own sacrifice [from the rites of others] as any one upturns the hawks (pigeons, etc.) flying high in the mid-air?

With what powerful and contemplative praise may we propitiate these Maruts? (2)

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त इत्था।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे।।३।।

कुतः।त्वम्।इन्द्र।माहिनः।सन्।एकः।यासि।सत्ऽपते।किम्।ते।इत्था।
सम्।पृच्छसे।सम्ऽअराणः।शुभानैः।वोचेः।तत्।नः।हरिऽवः।यत्।ते।अस्मेइति।।

अन्वयः— इन्द्र! त्वं माहिनः सन् कुतः एकः यासि? सत्पते! ते इत्था किम्? समराणः संपृच्छसे? हरिवः! ते यत् अस्मे, तत् नः शुभानैः वोचेः।

विशिष्ट-पदानि— माहिनः = महिमाशाली। सत्पते = सतां पालक, वीराणां स्वामिन् वा। इत्था = इत्थम्। समराणः = सह गच्छन्। हरिवः = हरिनामकाश्वयुगलस्य स्वामिन् ! ते = तव। अस्मे = अस्मासु। शुभानैः = शोभमानैः वचनैः।

इत्थम् इन्द्रेण उक्ता मरुतो वदन्ति — इन्द्र! त्वं महिमशाली [अस्मादृशैः अनुचरैरनुगन्तव्यः] सन् कुतः एकाकी गच्छसि? हे सतां पालक, वीराणां स्वामिन् वा ! तव इत्थम् [एकाकिगमनं] किमर्थमस्ति? एकाकिगमनेन किं प्रयोजनम् अस्ति इत्याशयः। यद्वा किं तव इत्थम् अस्माभिर्विधेयम्? त्वम् [अस्माभिः] सह गच्छन् [अस्मान्] सम्यक् पृच्छसि। हे हरिनामकाश्वयुगलस्य स्वामिन् ! तव यद् अस्मासु [वक्तव्यं कार्यं वा] तत् त्वं शोभमानैः वचनैः ब्रूहि ।। ३।।

इन्द्र से ये वचन सुनकर मरुत बोलते हैं — हे सज्जनों के पालक तथा वीरों के स्वामी इन्द्र! तुम महिमाशाली [हम जैसे अनुचरों के] होते हुए भी, अकेले क्यों जाते हो? तुम्हारा इस प्रकार [अकेले जाना] किस अभिप्रायवश है? अथवा हम तुम्हारा क्या कार्य सिद्ध करें? तुम हमारे साथ जाते हुए शोभन वचनों से हम से क्या पूछते हो? हे तेज़ चलने वाले अश्वों के स्वामिन्! अथवा तेज़ चलने वाले [हमारे] स्वामिन्! तुम्हें [हमसे] जो [कार्य] हो, वह तुम हमें कहो।। ३।।

The Maruts say: O Indra! Protector and Lord of the good! Why do you—a majestic one—go all alone [when the

attendants like us can follow you?] What is your purpose [of going all alone?] While accompanying us what do you [want to] say to us with pleasant words? O lord of fleet horses!, or O our swift-walking Lord ! say to us what [we should do] for you. (3)

ब्रह्माणि मे मतयः शं सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो अच्छ।।४।।

ब्रह्माणि। मे। मतयः। शम्। सुतासः। शुष्मः। इयर्ति। प्रऽभृतः। मे। अद्रिः।
आ। शासते। प्रति। हर्यन्ति। उक्था। इमा। हरी इति। वहतः। ता। नः। अच्छ।।

अन्वयः— मे ब्रह्माणि। मतयः शम्। सुतासः। मे शुष्मः अद्रिः प्रभृतः इयर्ति। आ शासते। उक्था प्रति हर्यन्ति। नः इमा हरी तानि अच्छ वहतः।

विशिष्ट-पदानि — ब्रह्माणि = स्तोत्राणि, परिवृढानि हवींषि वा। मतयः = मननयुक्ताः (स्तुतयः)। शम् = सुखकराः। सुतासः = अभिषुताः। शुष्मः = बलशाली। अद्रिः = वज्रः। इयर्ति = गच्छति। आ शासते = प्रार्थयन्ते। उक्था = उक्थानि, शस्त्राणि। हर्यन्ति = कामयन्ते। इमा = इमौ। हरी = अश्वौ। अच्छ = अभि, प्रति वा।

मरुद्भिः एवं पृष्टः सन् इन्द्र आह— [न मदर्थं किञ्चिदन्यत् कार्यं कर्त्तव्यं युष्माभिः, यतः हे मरुतः! सर्वाणि] स्तोत्राणि, परिवृढानि हवींषि वा, मननयुक्ताः [स्तुतयः] च मम सुखकराः। अभिषुताः सोमाः [मदर्थमेव]। बलशाली च मम वज्रः [शत्रूणाम् भक्षकः इति यावत्] प्रक्षिप्तः सन् शत्रून् प्रति तेषां विनाशाय गच्छति। [यजमानाः मां] प्रार्थयन्ते। [मत्तः च ते] शस्त्राणि कामयन्ते। अस्माकम् इमौ अश्वौ तानि [हविरादीनि अभिप्राप्तुं माम् अभिमतदेशं] प्रति प्रापयतः।। ४।।

मरुतों ने जब यह पूछा, तो इन्द्र बोले —[आपने मेरा कोई काम संपादित नहीं करना है, क्योंकि हे मरुतो!] सभी स्तोत्र अथवा परिपक्व हवियाँ तथा मननशील [स्तुतियाँ] मुझे सुख देती हैं। अच्छी प्रकार से तैयार हुए सोमरस मेरे लिये हैं। मेरा वज्र बलशाली है (शत्रुओं का विनाशक

है)। जब इसे फेंका जाता है तो यह [शत्रुओं के विनाश के लिए उनकी ओर] जाता है। यजमान मेरी प्रार्थना करते हैं। [और वे मुझसे] शस्त्रों की कामना करते हैं। हमारे ये दो घोड़े उन [हवि आदि] को अच्छी प्रकार से प्राप्त करने के लिए मेरी ओर आते हैं, अथवा मेरे स्थान तक आ पहुंचते हैं, जहाँ से उन्हें अभीष्ट-प्राप्ति होगी, अथवा ये दो घोड़े मुझे ले जाते हैं [ताकि मैं उस हवि को प्राप्त कर सकूँ]।। ४।।

Indra speaks: [Nothing I require to be done from you, Oh Maruts ! as] all the sacred rites are mine; praises give me pleasure; libations are for me; my vigorous thunder-bolt—when hurled against my foes—goes [to its mark, and destroys them]; pious worshippers propitiate me ; they seek weapons from me; our these two horses bear me [to the proper place so that I may get] those [cherished oblations.](4)

अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः स्वक्षत्रेभिस्तन्व१ः शुम्भमानाः।
महोभिरेताँ उप युज्महे न्विन्द्र स्वधामनु हि नो बभूथ।।५।।

अतः। वयम्। अन्तमेभिः। युजानाः। स्वऽक्षत्रेभिः। तन्वः। शुम्भमानाः।
महःऽभिः। एतान्। उप। युज्महे। नु। इन्द्र। स्वधाम्। अनु। हि। नः। बभूथ ।।

अन्वयः —[इन्द्र!] अतः वयम् अन्तमेभिः युजानाः, स्व-क्षत्रेभिः तन्वः शुम्भमानाः महोभिः एतान् नु उपयुज्महे। इन्द्र! नः स्वधाम् अनुबभूथ।

विशिष्ट-पदानि— अन्तमेभिः = (अन्तमैः) अन्तिकतमैः। युजानाः = युञ्जानाः, युक्ताः। स्वक्षत्रेभिः = स्वबलैः। तन्वः = शरीराणि। शुम्भमानाः = दीपयन्तः। महोभिः = महत्त्वेन। उपयुज्महे = प्राप्नुमः। स्वधाम् = बलम्, उदकं वा। अनुबभूथ = अनुभवसि।

मरुतः अपि स्व-महिमानं ब्रुवते — [हे इन्द्र!] वयम् [अपि अस्मादेव कारणाद्] अन्तिकतमैः (स्वसमीपवर्तिभिः) [सहायैः] संयुक्ताः, स्वबलैः सम्पन्नाः, आत्मनः शरीराणि दीपयन्तः स्वमहत्त्वेन च समृद्धा एतान् [शत्रून्]

क्षिप्रं प्राप्नुमः (प्रतिगन्तुं सन्नद्धाः स्मः)। हे इन्द्र! त्वमपि अस्माकम् एतद् बलम् उदकं वा (अस्मत्सृष्टोदक-जन्यं हविर्वा) अनुभवसि एव।। ५।।

मरुत् भी अपनी महिमा बखानते हुए कहते हैं— हम भी तो अपनी महिमा के कारण ही अपने समीपवर्ती सहायकों से संयुक्त, अपने बल से सम्पन्न, अपने शरीरों से दीप्त तथा अपने महत्त्व से समृद्ध बने हुए इनको (अर्थात् शत्रुओं को) शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं (अर्थात् उन्हें घेर लेने को तैयार हो जाते हैं)। हे इन्द्र! तुम भी हमारे इस बल का अथवा जल का — हमारे द्वारा छोड़े गये जल से उत्पन्न हवि का — अनुभव करते हो।।५।।

The Maruts speak: O Indra! we [also] heretofore — together with our proximate companions, accomplished with our own valour, having adorned our bodies, equipped with our magnitude — are ready to reach [our foes] swiftly [to besiege them]. You also, O Indra! would understand (have the experience of) our potency, or taste [the sacrificial food produced from] the water [shored by us.]. (5)

क्व१ स्या वो मरुतः स्वधासीद्यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये।
अहं ह्यु१ग्रस्तविषस्तुविष्मान्विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः।।६।।

क्व।स्या।वः।मरुतः।स्वधा।आसीत्।यत्।माम्।एकम्।सम्ऽअधत्त।अहिऽहत्ये।
अहम्।हि।उग्रः।तविषः।तुविष्मान्।विश्वस्य।शत्रोः।अनमम्।वधऽस्नैः।।

अन्वयः— मरुत! वः स्या स्वधा क्व आसीद्, यत् माम् एकम् अहि-हत्ये समधत। अहं हि उग्रः तविषः तुविष्मान् विश्वस्य शत्रो वधस्नैः अनमम्।

विशिष्ट पदानि — स्या = सा। स्वधा = बलम्, उदकम् वा। अहि-हत्ये = वृत्र-हनने। समधत्त = संयोजितवन्तः। तविषः = बलवान्। तुविष्मान् = महत्त्वोपेतः। शत्रोः = शत्रुम् (कर्मणि षष्ठी)। वधस्नैः = वध-कौशलैः, (वध इति वज्रनाम वा, अतः) वज्र-क्षेपण-प्रकारैः वा। अनमम् = अनमयम्, वशे अकरवम्।

अमृष्यमाण इन्द्र आह— हे मरुतः! तदा युष्माकं तद् बलम् उदकं

(उदक-जन्यं हविर्वा) क्व गतम् आसीद्, यदा माम् एकम् (एकाकिनम्) एव वृत्रवधकर्मणि (वृष्ट्यर्थं मेघ-हनने) सन्नद्धं ज्ञात्वा यूयं संयोजितवन्तः आस्त? अहम् एकाकी अपि उद्गूर्ण-बलः, बलवान् महत्त्वोपेतश्च सकलजगतः शत्रुम् (अवृष्टिकरं मेघं) वध-कौशलैः, वज्र-क्षेपण-प्रकारैः वा स्ववशे अकरवम्।। ६।।

अक्षमाशील इन्द्र बोला— हे मरुतो! [तब] तुम लोगों का वह बल अथवा जल (जल से जन्य हवि) कहाँ चली गयी थी जब वृत्र-वध के लिये अर्थात् वृष्ट्यर्थ मेघ के हनन के लिए आप सबने अकेला ही मुझे सन्नद्ध किया था? मैं अकेला ही— उग्र, बलवान् और महत्त्वशाली होकर— सकल जगत् के शत्रु (वृष्टि न करने वाले मेघ) के [बल को अपने] वधकौशलों (वज्र फेंकने के विभिन्न प्रकारों) से वश में करने में समर्थ हो गया था।। ६।।

Indra says unforgivingly: O Maruts! where was that potency or sacrificial food then assigned to you when all of you had charged me alone to slay Vṛtra, that is, to strike a blow upon the cloud to get the rains out of it. Though all alone— fierce, strong and mighty, as I am—I bowed down the enemy of the whole world (non-raining cloud) with my death-dealing skills [of flinging the weapon on him.] (6)

भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः।
भूरीणि हि कृणवामा शविष्ठेन्द्र क्रत्वा मरुतो यद्वशाम।।७।।

भूरि। चकर्थ। युज्येभिः। अस्मे इति। समानेभिः। वृषभ। पौंस्येभिः।
भूरीणि। हि। कृणवाम। शविष्ठ। इन्द्र। क्रत्वा। मरुतः। यत्। वशाम।।

अन्वयः— वृषभ! समानेभिः पौंस्यैभिः अस्मे युज्येभिः भूरि चकर्थ। शविष्ठ इन्द्र! भूरीणि हि कृणवाम, क्रत्वा यद् वशाम। मरुतः।

विशिष्ट-पदानि— वृषभ = वर्षितः! चकर्थ = कृतवान् असि। पौंस्येभिः = पुरुषोचित-कार्य-करण-समर्थैः। युज्येभिः = युक्तैः। अस्मे = अस्माभिः सह। शविष्ठ = अतिशयेन बलशालिन्! कृणवाम = वयं कुर्मः। भूराणि =

प्रभूतानि। क्रत्वा = कार्याणि। वशाम = कामयामहे। मरुतः = यद्यपि स्वरः सम्बोधन-सूचकः, तथापि मरुतां वाक्ये तस्य अनुपयुक्तत्वात् प्रथमा-बहुवचनम् अत्र गृहीतम्।

मरुतो वदन्ति— हे प्रभूतसमृद्धि-वर्षितः इन्द्र! [त्वं प्रभूतं कृतवान्, सत्यमेतत्, परमेतदपि सत्यं यत्] त्वं समानकर्मभिः पुरुषोचितकार्यकरणसमर्थैः (वीर्यवद्भिः इति यावद्) अस्माभिः सह संयुक्त एव प्रभूतं कृतवान्, [न तु एकाकी एव।] हे अतिशयेन बलशालिन् इन्द्र! तानि प्रभूतानि कार्याणि वयं कुर्मः, यानि वयं कामयामहे [यदि त्वम् इन्द्रोऽसि, वयमपि] मरुतः [स्म।]।।७।।

मरुत् बोलते हैं— हे प्रभूत समृद्धियों की वर्षा करने वाले इन्द्र! [तुम ने वृत्र-वध जैसा महान् कार्य किया है, यह सत्य है, पर यह भी सत्य है कि] तुमने समान-कर्मशील, पुरुषोचित-कार्य करने में समर्थ अर्थात् वीर्यवान् हम जैसों की सहायता से ही बहुत बड़ा काम किया है [न कि अकेले]। हे बलशाली इन्द्र! हमने जो बड़े-बड़े कार्य किये हैं, उन्हें [भविष्य में भी] करने की हम कामना करते हैं। [यदि आप इन्द्र हैं, तो हम भी] मरुत् हैं।। ७।।

Maruts speaks: O showerer of plenty of prosperity! you, of course, have done much, but so [not all alone, but] with us—your comrades of equal energies and manly valour. We too,O mightiest Indra! have done many things, and [in future also] we desire [to perform those deeds. [If you are Indra,] we also are [not less than] Maruts. (7)

वर्धीं वृत्रं मरुत इन्द्रियेण स्वेन भामेन तविषो बभूवान्।
अहमेता मनवे विश्वश्चन्द्राः सुगा अपश्चकर वज्रबाहुः।।८।।

वर्धीम्। वृत्रम्। मरुतः। इन्द्रियेण। स्वेन। भामेन। तविषः। बभूवान्।
अहम्। एताः। मनवे। विश्वऽचन्द्राः। सुऽगाः। अपः। चकर। वज्रऽबाहुः।।

अन्वयः— मरुतः! अहं स्वेन इन्द्रयेण भामेन तविषः बभूवान् वृत्रं वधीम्। अहं मनवे एता विश्वश्चन्द्राः सुगा अपः चकर। वज्रबाहुः।

विशिष्ट-पदानि — इन्द्रियेण = इन्द्र-विषयकेण। भामेन = कोपेन, पराक्रमेण वा। तविषः = बलवान्। बभूवान् = भूतः, सम्पन्नः।

समानतामपि असहमानः इन्द्रो वदति— हे मरुतः! अहम् [इन्द्रः] स्वेन (अन्यसहायकं विनैव इत्यभिप्रायः) कोपेन पराक्रमेण वा बलवान् भूतः वृत्रं (वृष्ट्यपरोधकं मेघं) [एकाकी एव] हतवान्। अहं मनोः अर्थाय (मानवानां हिताय) एतानि सर्वाह्लादकानि स्वच्छानि वा सर्वत्र नद्यादिषु गमनशीलानि वृष्ट्युदकानि कृतवान्, [यतोऽहं] वज्रबाहुः (वज्रं बाहौ यस्य सः) अस्मि।। ८।।

समानता की चर्चा को भी सहन न करता हुआ इन्द्र कहता है— हे मरुतो! मैं [केवल] अपने कोप तथा पराक्रम से बलवान् अर्थात् किसी अन्य की सहायता के बिना, अकेला ही, वृत्र नामक राक्षस का हनन करने में समर्थ हुआ हूँ, [और इस प्रकार] मैंने मानवों के हित के लिए इन सर्वाह्लादक अथवा स्वच्छ तथा सर्वत्र (नदी-नालों, पर्वतों, समतल भू-भागों आदि में) गमनशील वृष्टि-जलों को बरसा दिया है, क्योंकि मैं वज्रबाहु हूँ, अर्थात् मेरे हाथ में वज्र है।। ८।।

Not forbearing the equality of Maruts Indra speaks: I, all alone, mighty, as I am, slew Vṛtra, the cloud, with my own wrath/gallantry. O Maruts! I with the thunder in my hand, created all these waters—transparent or all-pleasing and gently flowing [through the rivers, streams, etc., and on the levelled surface of the earth]. (8)

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध।। ९।।

अनुत्तम्। आ। ते। मघऽवन्। नकिः। नु। न। त्वाऽवान्। अस्ति। देवता। विदानः।
न। जायमानः। नशते। न। जातः। यानि। करिष्या। कृणुहि। प्रऽवृद्ध।।

अन्वयः— आ! मघवन्! ते अनुत्तम् नकिः। त्वावान् विदानः देवता न अस्ति। प्रवृद्ध! यानि करिष्या कृणुहि, न जायमानः, न जातः नशते।

विशिष्ट पदानि — ते = तव (त्वया)। अनुत्तम् = (अन्+उत्तम्) = अप्रेरितम्। नकिः = नैव। विदानः = ज्ञाता। करिष्या = कार्याणि। नशते = व्याप्नोति।

इत्थम् इन्द्रं प्रशंसन्तो मरुतो वदन्ति— आ [स्मृतवन्तो वयम् इदानीम्]! हे इन्द्र! त्वया अप्रेरितं [किञ्चित्] नास्ति, त्वया इदानीं यत् कथितं तत्सत्यम् इत्याशयः। त्वादृशः [जयोपाय-] ज्ञाता देवो नास्ति कश्चित्। हे अतिबल! यानि [वृत्रवधादीनि] कार्याणि त्वया कर्तव्यानि त्वं कुरुषे [च], तानि न कोऽपि जायमानः (उत्पद्यमानः) न च जातः (उत्पन्नो) वा व्याप्नोति— त्वच्चेष्टानुकारी न हि कोऽपि भवितुं समर्थोऽस्ति इत्यभिप्रायः।। ९।।

मरुत् कहते हैं— अरे हाँ, [अब हमें याद आया।] हे इन्द्र! तुम से अप्रेरित कुछ भी नहीं है, अर्थात्, तुमने जो कुछ कहा है वह सत्य है। [विजय के उपायों का] ज्ञाता तुमसे बढ़कर और कोई देवता नहीं है। हे अतिबलशाली इन्द्र! [वृत्र-वध] जैसे कार्य तुम करते हो, वैसे कार्य करने वाला न तो कोई उत्पन्न होगा और न उत्पन्न हुआ है।। ९।।

The Maruts speak: O Maghvat (Indra)! [now we recollect that] nothing is there which is not impelled by you. There is no divinity as wise or skilful who knows the tactics of winning over the enemy as you are. O exceeding mighty! no one—being born or that has been born—can ever surpass the [glorious] deeds—slaying of Vṛtra (the cloud), etc.—which you have performed.] (9)

एक॑स्य चि॒न्मे वि॒भ्व१॒॑स्त्वोजो॒ या नु द॑धृ॒ष्वान्कृ॒णवै॑ मनी॒षा।
अ॒हं ह्यु१॒॑ग्रो म॑रुतो॒ विदा॑नो॒ यानि॒ च्यव॒मिन्द्र॒ इदी॑श एषाम्।।१०।।

एक॑स्य। चि॒त्। मे॒। वि॒ऽभु। अ॒स्तु। ओज॑ः। या। नु। द॒धृ॒ष्वान्। कृ॒णवै॑ म॒नी॒षा।
अ॒हम्। हि। उ॒ग्रः। म॒रु॒तः। विदा॑नः। यानि॑। च्यव॑म्। इन्द्र॑ः। इत्। ईशे॒। ए॒षाम्।।

अन्वयः— मरुतः! मे एकस्यचित् विभुः ओजः अस्तु। या मनीषा दधृष्वान् नु कृणवै। अहं हि उग्रः विदानः यानि च्यवम् एषाम् ईशे इन्द्र इत्।

विशिष्ट-पदानि— विभु = सर्वत्रगमनशीलम्, अप्रतिहतम्। अस्तु = अस्ति। मनीषा = मनीषया। दधृष्वान् = धृष्टः (कृत-संकल्पः)। विदानः = ज्ञाता। च्यवम् = अनुगच्छामि। इत् = एव।

इन्द्रो वदति— हे मरुतः! मम एकस्यचित् (एकाकिन एव) सर्वत्रगमनशीलम्, अप्रतिहतम् इत्याशयः, बलम् अस्ति, येन यानि [कर्माणि] अहं मनीषया कर्तुम् धृष्टः (कृतसंकल्पो) भवामि, तानि [क्षिप्रमेव] कर्तुं शक्नवानि (शक्नोमि)। अहम् उद्गूर्णबलः [विजयोपाय-] ज्ञाता च सन् यानि [वसूनि, कार्याणि वा] अनुगच्छामि, तेषां स्वामी भवामि। यतोऽहम् इन्द्र एव, अर्थात् यानि कार्याणि कर्तुं वसूनि प्राप्तुं वा मनसा चिन्तयामि, तेषां करणे प्राप्तौ वा शक्तो भवामि इत्याशयः।)।। १०।।

इन्द्र कहता है— हे मरुतो! मुझ अकेले में ऐसा बल है जो कि मुझे कहीं भी बाधा-रहित रूप में ले जा सकता है, जिसके फलस्वरूप मैं मन में जिन भी कार्यों को करने का निश्चय कर लेता हूँ उन्हें (शीघ्र ही) सम्पन्न करने में समर्थ हो जाता हूँ। मेरा (बल) उग्र है। मैं विजय-प्राप्ति के उपायों का ज्ञाता होने के कारण जिन भी धनों को प्राप्त करने— अथवा कार्यों को सिद्ध करने के लिए निकल पड़ता हूं उनका स्वामी बन जाता हूं— सफल हो जाता हूं, क्योंकि मैं इन्द्र हूं।। १०।।

Indra speaks: O Maruts! may the valour of me alone be existing everywhere: may I quickly accomplish whatever I contemplate in my mind: for I am fierce and sagacious [knowing the tactics of winning over the enemy like Vṛtra,] and to whatever [objects] I direct [my thoughts], I am the lord of them, and rule over them. (10)

अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र।
इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्यं सख्ये सखायस्तन्वे तनूभिः॥११॥

अमन्दत्। मा। मरुतः। स्तोमः। अत्र। यत्। मे। नरः श्रुत्यम्। ब्रह्म। चक्र।
इन्द्राय। वृष्णे। सुऽमखाय। मह्यम्। सख्ये। सखायः। तन्वे। तनूभिः॥

अन्वयः— मरुत! अत्र स्तोमः मा अमन्दत्। हे नराः! सखायः यत् श्रुत्यं ब्रह्म मे चक्र। इन्द्राय वृष्णे सुमखाय सख्ये तनूभिः मह्यं तन्वे।

विशिष्ट-पदानि— अमन्दत् = मोदयति मादयति वा। वृष्णे = अभिमत-वर्षित्रे। मह्यं तन्वे = मदीय-शरीराय (मदीय-शरीर-पोषाय)।

इन्द्रोऽधुना स्वत एव प्रशान्तो जातः द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां वदति — हे मरुतः! अत्र (अस्मिन् उदकोत्पादन-विषये) विहितं स्तोत्रं मां मोदयति मादयति वा। हे नराः! (मरुतः! इति यावत्) सखायः [भूत्वा] यूयं यत् सर्वैः श्रोतव्यं ब्रह्म (परिवृढ-मेघ-धारणादि-स्तोत्र-रूपं) मदर्थम् अकुरुत, तदपि मां मोदयते इति शेषः। [इदं स्तोत्रं] परमैश्वर्य-गुणकाय, [अभिमत-] वर्षित्रे, शोभन-यागाय, युष्माभिः समान-ख्यानाय (मित्राय) तनूभिः (अनेक-शरीरैः) [उपेताय] मदीय-शरीराय (शरीर-पोषाय) भवतु, यद्वा अस्मच्छरीरभूतैः युष्माभिः कृतं [स्तोत्रं] मदीय-शरीर-पोषणाय भवतु॥११॥

इन्द्र अब स्वयमेव शान्त होकर निम्नोक्त अगली दो ऋचाएँ कहता है—हे मरुतो! इस [उदकोत्पादन अर्थात् वृष्टि करने के सम्बन्ध] में प्रस्तुत किया गया स्तोत्र मुझे प्रसन्न करता है, अथवा मस्त करता है। हे नरो (मरुतो)! [मेरे मित्र बनकर] तुम सबने मेरे लिये जो श्रोतव्य ब्रह्म किया है, अर्थात् गरजते हुए बड़े-बड़े बादलों को धारण किया है, वह भी मुझे प्रसन्न करता है। [तुम सब का यह स्तोत्र] अभीष्ट वर्षा करने वाले, शोभन यज्ञ वाले, तुम लोगों के मित्र, अनेक शरीर धारण करने वाले मुझ इन्द्र (परम ऐश्वर्यवान्) के लिए तथा मेरे शरीर के पोषण के लिए हो॥११॥

Indra speaks: O Maruts! on this occasion, i.e., in the context of producing water, your praise rejoices me. O Men (Maruts)! being my friends (comrades), the noble task—knowable by all—you performed [in the form of carrying away the thick clouds], also pleases me. [This hymn] should be for Indra (myself) for the nourishment of my person: Indra, who is the showerer [of benefits], the object of pious sacrifice, and [endowned] with many forms. (11)

एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्यः श्रव एषो दधानाः।
संचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम्।।१२।।

एव। इत्। एते। प्रति। मा। रोचमानाः। अनेद्यः। श्रवः। आ। इषः। दधानाः।
सम्ऽचक्ष्य। मरुतः। चन्द्रऽवर्णाः। अच्छान्त। मे। छदयाथ। च। नूनम्।।

अन्वयः— मरुतः! इत् एव एते मा प्रति रोचमानाः, अनेद्यः श्रवः इषः आ दधानाः, चन्द्रवर्णाः संचक्ष्य मे नूनम् अच्छान्त छदयाथ च।

विशिष्ट-पदानि— एव = एवम्। इत् = इदम्। अनेद्यः = समीपस्थं प्रशस्यं वा। श्रवः = कीर्तिम्। इषः = अन्नानि। आ = च। चन्द्रवर्णाः = सुवर्णवर्णाः। संचक्ष्य = सम्यग् दृष्ट्वा।

इन्द्रो वदति— हे मरुतः! एवम् एते यूयं मां प्रति रोचमानाः (मद्विषये संप्रीयमाणाः, माम् प्रति दीव्यन्तो वा— मिलन-विश्रब्ध-जन्याह्लादकत्वेन इत्यभिप्रायः), समीपस्थां (हृदय-सन्निविष्टाम्) कीर्तिम्, यद्वा प्रशस्यां वा कीर्तिम् अन्नं च [अस्मत्तः अस्माभिर्वा] धारयन्तः, सुवर्ण-वर्णाश्च यूयं मां सम्यग् दृष्ट्वा प्रकाश्य वा [यथापूर्वं मां यशोभिः] नूनम् आच्छादितवन्तः आस्त, [सम्प्रति अपि] यूयं माम् आच्छादयथ।। १२।।

इन्द्र कहता है—हे मरुतो! इस प्रकार ये तुम सब मेरे प्रति प्रसन्न हुए-हुए, [मुझसे प्राप्त] प्रशंसनीय कीर्ति तथा अन्न को अपने समीप (अर्थात् हृदय में) धारण किये हुए, स्वर्णिम वर्ण वाले तुम सब मुझे

अच्छी प्रकार से देखकर—अथवा प्रकाशित करके—मुझे मेरे यशों से ढाँपते रहे थे, [अब भी यथापूर्व] आच्छादित करते रहो।। १२।।

Indra speaks: O Maruts! having liking for me, and enjoying laudable fame and food [through my favour], you, of golden colour, covered me after glorifying me, and [now too,] you cover me [in the same manner.] (12)

को न्वत्र॑ मरुतो मामहे व॒: प्र या॑तन॒ सखीँ॒रच्छा॑ सखाय:।

मन्मा॑नि चित्रा अपिवा॒तय॑न्त ए॒षां भू॑त॒ नवे॑दा म ऋ॒ताना॑म्।।१३।।

क:। नु। अत्र॑। म॒रु॒त॒:। म॒म॒हे॒। व॒:। प्र। या॒त॒न॒। सखी॑न्। अच्छ॑। स॒खा॒य॒:।

मन्मा॑नि। चि॒त्रा॒:। अ॒पि॒ऽवा॒तय॑न्त:। ए॒षाम्। भू॒त॒। नवे॑दा:। मे॒। ऋ॒ताना॑म्।।

अन्वय— मरुत:! अत्र क: नु व: ममहे? सखाय: सखीन् अच्छ प्रयातन। चित्रा:! मन्मानि अपिवातयन्त: एषाम् मे ऋतानाम् नवेदा: भूत।

विशिष्ट-पदानि— ममहे = पूजयति। अच्छ = प्रति, आभिमुख्येन प्राप्तुम्। प्रयातन = गच्छत। चित्रा: = चायनीया:, चयनयोग्या:। मन्मानि = मननीयानि = धनानि। अपिवातयन्त: = गमयन्त:। ऋतानाम् = अवितथानाम्, स्तोत्राणाम् इत्याशय:। नवेदा: = ज्ञातार:।।

अगस्त्यो ब्रूते— हे मरुत:! अस्मिन् लोके क: [मर्त्य:] खलु युष्मान् पूजयति? पूजयितुं समर्थो भवति? इत्याशय:। हे सखाय:! (सखिवत् प्रियकारिण:!)सखीन् (हविष्प्रदानेन सखिभूतान् यजमानान्) आभिमुख्येन प्राप्तुं यूयं गच्छत। हे चित्रा: (समुज्ज्वला:, चायनीया:, चयनयोग्या: वा) [मरुत:!] यूयं धनानि प्रति गमयन्त: (सम्पूर्णं प्रापयन्त इत्याशय:) भवतां साहाय्येन यजमाना: धनानि प्राप्नुवन्तु इत्यभिप्राय:। [अपि च] मत्सम्बन्धे ऋतानाम् (अवितथानां = सत्यानां, स्तोत्राणाम् वा) ज्ञातारो भवत।।१३।।

अगस्त्य कहता है—हे मरुतो! इस लोक में कौन [मनुष्य] आपको पूजता है [अर्थात् कौन आपकी पूजा करने में समर्थ हो सकता है]? हे मित्रो! तुम [हवि प्रदान करने वाले यजमान-] मित्रों को सम्मुख प्राप्त करने

के लिए उनके पास चले जाओ। हे चयन-योग्य (मरुतो!) तुम [यजमानों को] संपूर्ण धन-प्राप्त कराओ, तथा हमारे प्रति सत्यों के, अथवा [कहने योग्य] स्तोत्रों के ज्ञाता बनो।।१३।।

Agastya speaks: O Maruts! what [mortal] worships you in this world. Speed forward, O you friends! to the presence of your friends, i.e., Yajamānas,[1] O you Radiant Ones! be with them (your Yajamānas who are the means of acquiring riches. And be cognizant of my [divine] laws or the holy rites to be performed to me. (13)

आ यद्दुवस्याद्दुवसे न कारुरस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा।

ओ षु वर्त मरुतो विप्रमच्छेमा ब्रह्माणि जरिता वो अर्चत्।।१४।।

आ। यत्। दुवस्यात्। दुवसे। न। कारुः। अस्मान्। चक्रे। मान्यस्य। मेधा।

ओ इति। सु। वर्त्त। मरुतः। विप्रम्। अच्छ। इमा। ब्रह्माणि। जरिता। वः। अर्चत्।।

अन्वयः— मरुतः! दुवस्यात् दुवसे कारुः न, मान्यस्य मेधा अस्मान् आचक्रे। विप्रम् अच्छ सु ओ वर्त्त। वः जरिता इमा ब्रह्माणि अर्चत्।

विशिष्ट पदानि— न = इव, यथा। दुवस्यात् (दुवस्येन) = परिचरणार्हया। दुवसे = परिचरणाय। कारुः = कुशलः कर्ता। विप्रम् = मेधाविनम्। अच्छ = आभिमुख्येन प्राप्तुम्। ओ = 'आ+उ' (इति निपातद्वय-समुदायरूप एको निपातः)। ओवर्त = आगच्छत। जरिता = स्तोता। ब्रह्माणि = स्तोत्राणि।

इदमपि अगस्त्यो वदति— हे मरुतः! [यथा कश्चित् सेवकः स्व-स्वामिनः] परिचरणार्हया (स्व-सेवया) [तस्य] परिचरणाय कुशलः कर्ता वर्तते, तथा [यदा भवताम् एषा बुद्धिर्भवेत् यद् अस्य] माननीयस्य (अगस्त्यस्य) मेधा स्तुतिकरणाय अस्मान् [मरुतः] आभिमुख्येन प्राप्नोति,

---

1. Yajamāna is a person who employs a priest or priests to sacrifice for him. Hence a host, patron, a rich man.

[तदा] हे मरुतः! [यूयं मां] मेधाविनम् (अगस्त्यम्) आभिमुख्येन प्राप्तुं सुष्ठुरूपेण आगच्छत। [यतः एषोऽयम् अगस्त्यः] युष्माकं स्तोता इमानि स्तोत्राणि [उच्चार्य युष्मान्] पूजयति, युष्मान् पूजयितुम् गायति उच्चारयति वा इत्याशयः।।१४।।

यह ऋचा भी अगस्त्य बोलता है—हे मरुतो! जैसे [कोई सेवक] अपनी परिचर्या से [स्वामी की] सेवा में कुशल होता है, उसी प्रकार [जब आपको यह प्रतीति हो जाए कि मुझ जैसे] माननीय[१] (अगस्त्य) की मेधा हमारी (हम मरुतों की) स्तुति करने के लिए तत्पर है, तो मुझ मेधावी के पास सुष्ठु रूप से चले आना। [क्योंकि यह अगस्त्य] तुम सब का स्तोता इन स्तुतियों से तुम्हें पूजता है।।१४।।

Agastya speaks: O Maruts! as a devout servant is competent to serve his master with his attendance, [similarly, if you think that] the intellect of a Mānya[2] (venerable) [sage like me, i.e., Agastya] is ready to bestow his praise upon you, then come elegantly before me, an intellegent sage as I am. I, the worshipper of yours [shall] worship you with these holy prayers.[3] (14)

---

१. माननीयस्य— आदरणीयस्य अगस्त्यस्य, यद्वा मान-पुत्रस्य कुम्भयोनेः अगस्त्यस्य इत्यपि गम्यते। (मान = मापने का पात्र अर्थात् कुम्भ, घट)।

2. The word *'mānya'* also means 'the son of a *māna* (pitcher)', i.e., Agastya.

3. This verse is exceedingly difficult, and its translation (as given below) at present can only conjectural (Rallph T.H. Griffth):

To this hath Mānya's wisdom brought us,
So as to aid, as aids the poet him who worships.
Bring hither quick! on to the sage, ye Maruts!
These prayers for you the singer has recited.

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।।१५।।

एषः।वः।स्तोमः।मरुतः।इयम्।गीः।मान्दार्यस्य।मान्यस्य।कारोः।
आ।इषा।यासीष्ट।तन्वे।वयाम्।विद्याम।इषम्।वृजनम्।जीरऽदानुम्।।

अन्वयः— मरुतः! एष स्तोमः, इयं गीः वः। मान्यस्य मान्दार्यस्य कारोः एषा तन्वे आयासीष्ट। वयाम् इषं, वृजनं जीरदानुं विद्याम।

विशिष्ट-पदानि— मान्यस्य = माननीयस्य, मान-पुत्रस्य वा। मान्दार्यस्य = मदप्रेरयितुः आह्लादकस्य वा, यद्वा 'मान्दार्य' इत्यपरनाम्नः अगस्त्यस्य। कारोः = कर्तुः। एषा (आ+इषा) = सम्यग् इषा = इच्छया। तन्वे = शरीराय। आयासीष्ट = आगच्छत। वयाम् = वयम्, कान्तिम्, आयुर्वा (√वी कान्ति-गत्यादिषु) इषम् = अन्नम्। वृजनम् = बलम्। जीरदानुम् = क्षिप्रदानम्, जयशीलदानं वा। विद्याम = लभेमहि।

अगस्त्यो वदति— हे मरुतः! [मम] एतत् स्तोत्रम् इयं च [स्तुति-रूपा] वाग् युष्मदर्थमेव। यूयम् मान्यस्य (माननीयस्य वरप्रदानादिना इति शेषः, यद्वा मान-पुत्रस्य) मान्दार्यस्य (मद-प्रेरयितुः आह्लादकस्य इति यावत्, यद्वा 'मान्दार्य' इत्यपरनाम्नो मम अगस्त्यस्य) [स्तुति-] कर्तुश्च इच्छया शरीराय (अस्मच्छरीर-पोषाय अस्मच्छ्रेयसे इति यावत्) [अस्मान् प्रति] आगच्छत। येन वयं कान्तिम्, आयुः, अन्नं, बलं, क्षिप्रदानं जयशीलदानं वा लभेमहि।।१५।।

यह अन्तिम ऋचा भी अगस्त्य बोलता है— हे मरुतो! [मेरा] यह स्तोत्र तथा यह (स्तुति-परक) वाणी तुम सबके लिए ही है। तुम सब मुझ [स्तुति-] कारक, मान्य (माननीय अथवा मानपुत्र) तथा मान्दार्य (मद के प्रेरक अर्थात् आह्लादक, अथवा 'मान्दार्य' इस अपर नाम वाले अगस्त्य) की इच्छा से [मेरे] शरीर [के पोषण] के लिए [मेरे पास[आओ, जिससे हम सब अन्न, जल तथा क्षिप्रदान प्राप्त करें।।१५।।

Agastya speaks the last hymn also: O Maruts! this praise and this hymn [from me] is for you. You—on my

desire and for the welfare of mine— do come to me, who is *mānya* (venerable)[1], *māndārya* (capable of conferring delight)[2] by his laudations and the performer [of worship to you], so that we may obtain food, strength and swift gift [from you]. (15)

विवृति

१. इस सूक्त में इन्द्र, मरुद्गण और अगस्त्य के बीच प्रस्तुत संवाद के निम्नोक्त सारांश के अध्ययन से पूर्व ज्ञातव्य है कि इन्द्र से अभिप्रेत है वर्षाकारक वात, जो वृत्र (वृत्रासुर) अर्थात् न बरसने वाले मेघ पर आघात कर उसे बरसाता है। मरुत् अर्थात् मरुद्गण इस कार्य में इन्द्र की सहायता करते हैं। मरुत् से अभिप्रेत है आँधी-तूफ़ान लाने वाला वायु। सामान्य भाषा में कहें तो वर्षाकारक वायु जब न बरसने वाले बादलों पर आँधी-तूफ़ान का आघात करता है, तभी वे पृथ्वी पर जल बरसाना प्रारम्भ कर देते हैं। संभवतः इसी आशय को आलंकारिक भाषा में— रूपक के माध्यम से— उक्त सूक्त में प्रस्तुत किया गया है। यों कहें कि इन्द्र 'वर्षाकारक वात' का मानवीकृत रूप है, मरुद्गण 'आँधी तूफ़ान लाने वाले वायु' का, और वृत्र 'न बरसने वाले मेघ'[3] का।

इस सूक्त में इन्द्र और मरुद्गण दोनों को सोमपायी कहा गया है। शायद सोमपायी होने के कारण ये अन्तरिक्ष में न बरसने वाले बादलों पर प्रबल आघात करने में समर्थ होते हैं, जिससे भूमि पर वृष्टि होती है। सोम से अभिप्रेत है— वनस्पति विशेष।[4]

अन्तिम तीन मन्त्र अगस्त्य बोलता है। अगस्त्य इस सूक्त में संभवतः पृथ्वीलोक के मानव का प्रतिनिधि है, जो कि वर्षा से आह्लादित होकर मरुद्गण के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है।

---

1. See verse 14, f.n. 1.
2. The word *'māndārya'* has also been meant to be another name of Agastya.

३. 'वृत्र' के सम्बन्ध में देखिए पृष्ठ ९१-९३।

४. 'सोम' के सम्बन्ध में देखिए पृष्ठ ४४-४५।

२. अब इस सूक्त का सारांश लीजिए—

इन्द्र (वर्षाकारक वात) ने मरुतों (तूफ़ानी हवाओं) को अपना हमजोली स्वीकार करते हुए इनसे गठबन्धन किया है (१, २)। मरुतों को भी इन्द्र का साहचर्य स्वीकार है—"अकेले मत जाओ ना, हमें भी अपने साथ उड़ा ले चलो" (३)। किन्तु इन्द्र इतराता है कि यह सब करामात उसी की है—वह न हो तो ये मरुद्गण झक्खड़ के रूप में इधर से उधर और उधर से इधर झकझोरते फिरेंगे। इधर मरुत् भी अपनी हेकड़ी जताते हैं—"हे इन्द्र! यह हमारी ही शक्ति है कि जिसके आधार पर तुम वृत्र पर आघात करते हुए जल बरसाने में सफल होकर इतराते हो, और कहते हो कि वृत्र तुम्हारे वज्र से मारा गया। पर उसके हनन में मात्र हमारा ही सहयोग है" (४-७)। इन्द्र ने फिर अपनी शेख़ी बघारी (८), और जब दोनों में तकरार बढ़ने की नौबत आ गयी, तो मरुत् ठण्डे पड़ गये—"हम तेरा लोहा मानते हैं, इन्द्र!" (९)। इस पर इन्द्र थोड़ा भुनभुनाए अवश्य, पर अपने हमजोलियों के सहयोग की प्रशंसा करने लगे (१०-१२)। तभी अगस्त्य ने प्रवेश किया और अन्तिम तीन ऋचाओं में मरुतों को आशीर्वाद दिया कि वे जनहित में यथापूर्व सदा संलग्न रहें (१३-१५)।

३. बृहद्देवता (४.४६-४९) के अनुसार प्रकृत सूक्त की कहानी यों आरम्भ होती है कि एक बार शतक्रतु (इन्द्र) आकाश में घूम-फिर रहे थे कि उनकी मुलाकात मरुतों से हुई। इन्हें देख इन्द्र ने इनकी स्तुति की और ऋषि-रूप मरुतों ने भी इन्द्र को संबोधित किया। अगस्त्य मुनि जिन्होंने कि तपस्या के द्वारा इनके संवाद को जान लिया, इन्द्र के लिए हवि तैयार कर उनकी ओर चल पड़े तथा ऋग्वेद के तीन सूक्तों (१.१६६, १६७, १६८) से इन्होंने मरुतों की स्तुति की। मन्त्र-संख्या १.१६७.१ में वह हवि जो इन्होंने इन्द्र के लिए तैयार की थी मरुतों को देनी चाही। इन तीन सूक्तों से अगले सूक्त (१.१६९) में इन्होंने इन्द्र की स्तुति की। इसके बाद अगले सूक्त (१.१७०) में इन्द्र और अगस्त्य के बीच संवाद है।[१]

---

१. यह संवाद इसी पुस्तक में आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

४. प्रकृत सूक्त (१.१६५) में मरुतों और इन्द्र के बीच जो संवाद है, बृहद्देवता (४. ४४, ४५) के अनुसार इसे परम (उत्कृष्ट) माना गया है। सूक्त के १५ मन्त्रों में से १-१२ तक इन्द्र और मरुतों के बीच संवाद है और १३, १४, १५ ये तीन मन्त्र किसी अन्य द्वारा बोले गये हैं। इस पर ए. ए. मैक्डॉनल की टिप्पणी है कि 'आर्षानुक्रमणी' (१.२५, २६) के अनुसार ये तीन मन्त्र अगस्त्य द्वारा बोले गये हैं।

५. इस सूक्त में प्रमुख चर्चा मरुत् और इन्द्र की है और गौण चर्चा अगस्त्य की। इन तीनों में से यहाँ **मरुतों** पर प्रकाश डाला जा रहा है।[1]

(१) सर्वप्रथम उल्लेख्य है कि 'मरुत्' शब्द से सदा अभिप्रेत है मरुद्गण अर्थात् अनेक मरुत्। मरुद्गण को अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता (माध्यमिक देवता) कहा गया है। अन्तरिक्ष कहते हैं—पृथ्वी और द्यौ के मध्यवर्ती अवकाश को। यास्क के कथनानुसार अन्तरिक्षस्थ देवों में मरुतों का प्रथम स्थान है— **अथातो मध्य-स्थानाः देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमागमिनो भवन्ति।**

मरुतों से तात्पर्य है—आँधी-तूफान करने वाला वायु। इन्द्र को भी अन्तरिक्ष-स्थ देवता माना गया है। इन्द्र से तात्पर्य है वर्षाकारक ऐसा वात जो वृत्र (वृत्रासुर) अर्थात् 'न बरसने वाले मेघ' पर आघात कर उसे बरसाता है (वेदार्थदीपिका, षड्गुरुशिष्य २.१३)। वृत्र को अहि (सर्प) भी कहते हैं, क्योंकि यह जल के चारों ओर कुण्डली मारे पड़ा रहता है।

(२) ऋग्वेद में कम-से-कम ७ सूक्तों में इन्द्र और मरुद्गण इन दोनों को देवता अर्थात् इन सूक्तों का विषय बनाया गया है। वैदिक भाषा में कहें तो इन्द्र के द्वारा वृत्रहनन में मरुत् इन्द्र के सहायक बनते हैं। तभी इन्द्र को ऐसे स्थलों में मरुत्वत् (मरुत्वान्) कहा जाता है (ऋग्० ५.४२.६; ९.६५.१०)। मरुतों के सहयोग से इन्द्र वर्षा करने में सक्षम होते हैं। वर्षा से नदी-नाले बहने लगते हैं। इसी कारण मरुतों को **'सिन्धुमातरः'** (नदियों की माता अर्थात् स्रोत) कहा गया है (ऋग्० १०.७८.६)।

---

१. इन्द्र और अगस्त्य पर अगले तीन सूक्तों (१.१७०, १.१७९ और ३.३३) में प्रसंगानुसार प्रकाश डाला जाएगा।

(३) इन्द्र ने अहि (वृत्रासुर) का संहार किया था तो मरुतों ने एक गीत गाया था और इन्द्र के सम्मुख सोम प्रस्तुत किया था (ऋग्० ५.२९.२)। स्वयं मरुतों को भी अन्य देवों के समान सोमपायी कहा गया है (ऋग्० २.३६.२, ८.९८.१२)।

(४) मरुतों की संख्या सात की तिगुनी = २१ कही जाती है (ऋग्० १.१३३.६ तथा अथर्व० १३.१.३; देखिए, वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ १८९)। इनके पिता रुद्र हैं और माता पृश्नि (पृश्नी) (ऋग्० २.३९.४; २.३४.२)। ये सभी मरुत् 'सवयस:' (एक ही वयस् के) हैं, इन में कोई छोटा या बड़ा नहीं है (ऋग्० १.१६५.१)।

(५) द्यावापृथिवी सदा मरुतों के साथ साथ खड़ी रहती हैं। इसका तात्पर्य यह कि मरुद्गण द्युलोक से पृथिवीलोक तक सर्वत्र संभव हैं। इन्हें **'अहिभानव:'** (मेघ को चमकाने वाले) कहा गया है (ऋग्० १.१७२.१)। वे तो 'स्वभानु' हैं— अपनी चमक से स्वयं दीप्त हैं (ऋग्० १.३७.२)। जब ये घृत (जल) की वर्षा करते हैं, तो विद्युत् पृथिवी की ओर मुस्कराती है (ऋग्० १.१६८.८)। जब ये वायु के साथ दौड़ते हैं और मेंह बरसाते हैं, तब ये पर्वतों तक को कँपा देते हैं; ये पर्वत-स्रोतों को खोल देते हैं।

(६) शौनक के अनुसार ऋषिगण इन्द्र को **'मरुत्वान् इन्द्र'** इसलिए कहते हैं कि यह मरुतों के साथ मिलकर आकाश में उचित समय पर बहुत शोर करता हुआ एकदम नूतन प्राण फूँक देता है—

इरां दृणाति यत्काले मरुद्भिः सहितोऽम्बरे।
रवेण महता युक्तस्तेनेन्द्रमृषयोऽब्रुवन्।। (बृ०दे० २३६)

शौनक के अनुसार [जिन स्थलों में] मरुद्गण को प्रधान रूप से संबोधित किया जाता है, [उन स्थलों में] इन्द्र को विशिष्ट [देवता] समझना चाहिए। ये मरुद्गण [भी तो हवि के उपभोग में] महान् इन्द्र के साथ समभागी होते हैं—

मरुद्गण-प्रधानत्वाद् इन्द्रस्तु विचिकित्सत:।
मरुद्गणं महेन्द्रस्य समांशं सकलं विदु:।। (बृ०दे० २.१४४)

(७) 'मरुत्' शब्द की व्युत्पत्ति—

(क) यास्क के अनुसार 'मरुत्' की निरुक्ति इस प्रकार है— **मरुतोऽमितराविणोऽमितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा** (निरुक्त ११.१३.३)।

दुर्गाचार्य के अनुसार उक्त कथन से अभिप्रेत है—

(१) **मरुतः सुश्लिष्टं रुवन्ति स्तनयन्ति** (ये सुश्लिष्ट रूप में, सुगठित रूप में, गरजते, गड़गड़ाते, कड़कते हैं, तथा अत्यधिक पिघलते हैं— वृष्टि करते हैं— अपितु इन्द्र द्वारा वृष्टि कराने में सहायक बनते हैं।)

(२) **मरुतोऽमित-राविणो वा** (ये अत्यधिक गरजते हैं), **अमित-रोचिनो वा** (अत्यधिक सुहावने लगते हैं)।

(ख) इसके अतिरिक्त मरुत् शब्द की व्युत्पत्ति √मृ (मर्) से मानी गयी है जिसके तीन अर्थ हैं— मरण, दमन और रोचन (वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ २०४)।

इन तीनों अर्थों में से रोचन अर्थ कहीं अधिक संगत प्रतीत होता है। कारण यह कि घनघोर तूफ़ानी वायु रोचक (चित्र-विचित्र एवं असामान्य) सा प्रतीत होता है। यों, ये तूफ़ानी झक्खड़ एक-दूसरे को मारते तथा एक दूसरे का दमन भी करते हैं।

(ग) मरुतों का जन्म विद्युत् के अट्टहास से भी माना गया है—

हुस्कारा॒द् वि॒द्युत॒स्पर्यतो॒ जा॒ता अवन्तु नः। म॒रुतो॒ मृळयन्तु नः।।

(ऋग्० १.२३.१२)

इस ऋचा के द्रष्टा मेधातिथि ने प्रकृति के एक सुरम्य रूप को काव्यात्मक रूप में ढाल दिया है— बिजली कड़कती आवाज में कौंधी कि तूफ़ानी वायु डाँवांडोल-सा हो गया और कवि पुकार उठा कि बिजली के अट्टहास से मरुतों की उत्पत्ति हुई है।

(घ) एक ऋषि ने मरुतों को बछड़ों अथवा शिशुओं की भाँति क्रीडाशील कहा है— इधर से उधर और उधर से इधर अठखेलियाँ जो करते रहते हैं ये। इन्हें नीलपृष्ठ (मयूर) के समान अलंकृत कहा गया है। पर साथ ही इन्हें **'अयोदंष्ट्र'** (लोहे के दांतों वाला) वराह भी कहा गया है; और जब ये हुलारें लेते हुए 'साँय-साँय' जैसा घोर नाद करते हैं तो मानो ये सिंह के समान दहाड़ते हैं— **सिंहा इव नानदति प्रचेतसः** (ऋग्० १. ६४.८)।

(८) यह तो हुआ विवरण उन मरुतों का जब वे इन्द्र के साथ होते

हैं तो वृष्टि में सहायक होने के कारण सुहावने प्रतीत होते हैं, किन्तु जब वे इन्द्र के बिना वर्णित किये गये हैं, तो वहाँ बताया गया है कि ये कभी-कभी अपनी संहारक प्रवृत्तियाँ भी प्रकट करते हैं (वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ २०२)। आशय यह है कि कोरा झक्खड़ और तूफ़ान, बिना वर्षा के, प्राणियों के लिए कष्टदायक होता है।

(९) पीछे लिख आए हैं कि अन्य देवों के समान मरुद्गण भी सोमपायी हैं। इसी प्रकार का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् (३.९.१-४) में भी मिलता है—"....मरुद्गण अमृत-रूप सोम की प्रधानता के कारण जीवनीय-शक्ति-सम्पन्न होते हैं।....... जो मनुष्य इस प्रकार से इस अमृत को जानता है, वह इन मरुतों में से कोई एक होकर, इस अमृत-रूप सोम की प्रधानता से, इसे देखते ही तृप्त हो जाता है—

अथ यच्चतुर्थममृतं, तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन....स य एतदेवममृतं वेद, मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति...।। (छान्दोग्य उप० ३.९.१,३)।

(१०) मरुतों की उत्पत्ति[1]—

(क) पद्मपुराण (२६ वें अध्याय) के अनुसार इन्द्र ने जब कश्यप और दिति के दोनों पुत्रों बल और वृत्र का वध कर दिया तो उन्होंने इन्द्र के संहार-हेतु एक अन्य पुत्र की उत्पत्ति के लिए मेरु पर्वत पर जाकर तपस्या की। इन्द्र उनके इस प्रयास को विफल करने केलिए ब्राह्मण का वेष धारण कर इनके पास जा पहुँचा और दिति को अपनी सेवा-शुश्रूषा और सद्व्यवहार से अति प्रसन्न किया। एक दिन दिति उससे बोली, "हे महाभाग! मेरे पुत्र के उत्पन्न होने पर और उसके द्वारा इन्द्र के मारे जाने पर, तू भी मेरे पुत्र के साथ राज्य करना।" इन्द्र ने उत्तर दिया, "हे महाभागे! तुम्हारी कृपा से ऐसा ही होगा।"

इसके बाद इन्द्र ने इसके गर्भ में प्रवेश किया और एक सौ वर्ष तक वहाँ रहकर उसने अपने वज्र से उस गर्भ को सात भागों में काट डाला।

---

१. मरुतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में द्रष्टव्य—वाल्मीकि-रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४६, ४७।

इस गर्भ से सात शिशु उत्पन्न हुए जिनका नाम इस इन्द्र ने 'मरुत्' रखा, और वही सात फिर ४९ हो गये तथा मरुद्गण कहाए। स्पष्टतया यहाँ न तो इन्द्र और न ही मरुद्गण ऋग्वेदीय देवता हैं। अतः हम इन्हें प्रकृति के प्रतीक रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते।

(ख) इसी प्रकार की कथा हरिवंशपुराण[1] में भी वर्णित है। मरुत् शब्द की व्युत्पत्ति निर्दिष्ट करते हुए इस पुराण में भी मरुतों की संख्या ४९ बतायी गयी है। मरुत् शब्द के सम्बन्ध में इस पुराण में भी लगभग उपर्युक्त कथा आती है—देवों और दैत्यों के संग्राम में दिति के सभी पुत्रों (दैत्यों) के मारे जाने पर दिति ने अपनी तपस्या के फल-स्वरूप अपने पति कश्यप से यह वरदान प्राप्त किया कि इस बार ऐसा महापराक्रमी पुत्र उत्पन्न हो जो कि इन्द्र का विनाशक हो। कश्यप ने वरदान देते समय यह कहा था कि यह व्रत तुम्हें शुद्ध होकर धारण करना होगा। दिति कश्यप से गर्भवती हुई और कश्यप तप की इच्छा से पर्वत पर चले गये। उधर शंकित इन्द्र इस गर्भ को विनष्ट करने का अवसर ढूँढने लगा। एक बार दिति अपने पाँव धोये बिना सो गयी तो इन्द्र ने सूक्ष्म शरीर धारण कर, दिति के गर्भ में प्रविष्ट होकर वज्र से उस गर्भ के सात खण्ड कर दिये। गर्भ खण्डित होकर रोने लगा तो इन्द्र ने उसे कहा 'मा रुद' (मत रो)।[2] पर फिर भी वह रोता रहा तो इन्द्र ने क्रोध में आकर वज्र-प्रहार द्वारा उन सात खण्डों के सात-सात खण्ड कर दिये, जिससे मरुत् नामक ४९ पवन इन्द्र के साथ ही दिति के उदर से निकले—और ये इन्द्र के सहायक हुए।

(११) उल्लेख्य है कि हिन्दू विचारधारा के अनुसार आकाश को सात भागों में बाँटा गया है। इस प्रकार वायु अथवा वायुमार्ग सात प्रकार का है—पृथ्वी से बादलों तक आवह वायु है, प्रवह वायु में सूर्य है, संवह में चन्द्रमा है, उद्वह में नक्षत्र हैं, विवह में ग्रह हैं, परिवह[3] में सप्तर्षि हैं और परावह में ध्रुव है।[4]

---

१. हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, मरुदुत्पत्ति-वर्णन (नाग पब्लिशर्स), पृष्ठ ७-१४.

२. मा रोदीरिति तं शक्रः पुन पुनरथाब्रवीत्। (ह० पु० १३४-क)

३. परिवह वायु का उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तल (७.६) में किया गया है।

४. मनुस्मृति, १.७६

(१२) 'मरुत्' शब्द आगे चलकर संस्कृत-साहित्य में प्रायः (१) वायु (सामान्य वायु) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, तथा (२) वायु का देवता अर्थ में भी। यथा—

१. (क) दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः। (रघुवंश ३.१४)

(ख) मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं.....। (रघुवंश २.१०)

२. इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोप-परीत-मानसम्।

(किराता० २.२५-ख)

(मरुतः सुतम्=मरुद् अर्थात् वायु-देवता के पुत्र भीमसेन को।)

(१३) इधर स्वामी दयानन्द जी ने 'इन्द्र' को परम-ऐश्वर्य-सम्पन्न पुरुष का तथा 'मरुत्' शब्द को विद्वान्, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी, शिक्षार्थी आदि का प्रतीक मानते हुए कहा है कि मानवों को उन्हीं के समान नानाविध-विज्ञानविद्या-विषयक शिक्षार्जन करना चाहिए। वे आरोग्य-युक्त, बलिष्ठ, वज्रबाहु, पराक्रमी-पुरुषार्थी रहकर आजीवन सदाचरण का पालन करते हुए धर्मपरायण बने रहें। समय पड़ने पर शत्रु से लोहा लेकर उन्हें पराजित करें तथा सदा कर्तव्यनिष्ठ और सुसंस्कारों से अनुप्राणित रहें।

२. इन्द्र-अगस्त्य-संवाद

(ऋग्वेद १.१७०)

ऋग्वेदस्य प्रथम-मण्डलस्य सप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

पञ्चर्चस्यास्य सूक्तस्य प्रथमा-तृतीया-चतुर्थीनामृचामिन्द्रश्चतुर्थ्या अगस्त्यो वा, द्वितीया-पञ्चम्योश्च मैत्रावरुणिरगस्त्य ऋषी। इन्द्रो देवता। प्रथमर्चो बृहती, द्वितीयादि-तृचस्यानष्टुप्, पञ्चम्याश्च त्रिष्टुप् छन्दांसि।

यह ऋग्वेद के पहले मण्डल का १७०वाँ सूक्त है। इस सूक्त में पाँच मन्त्र हैं। इनमें से संख्या १ और ३ मन्त्रों का ऋषि इन्द्र है। संख्या ४ का ऋषि इन्द्र अथवा अगस्त्य है संख्या २ और ५ मन्त्रों का ऋषि मैत्रावरुणि अगस्त्य है। इस सूक्त का देवता इन्द्र है। सूक्त के पाँच मन्त्रों में से संख्या १ मन्त्र बृहती छन्द में, संख्या २, ३, ४ मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में, और संख्या ५ मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में रचित हैं।

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति।।१।।

न। नूनम्। अस्ति। नो इति। श्वः। कः। तद्। वेद। यद्। अद्भुतम्।
अन्यस्य। चित्तम्। अभि। सम्ऽचरेण्यम्। उत। आऽधीतम्। वि। नश्यति।।

अन्वयः— न अस्ति नूनम्। न उ श्वः। यद् अद्भुतं तत् कः वेद? अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण्यम्। उत आधीतं विनश्यति।

विशिष्ट-पदानि— नो (न उ) = न हि। अद्भुतम् = अभूतम्, नैव जातम्। संचरेण्यम् = संचरणशीलम्। आधीतम् = आध्यातं, चिन्तितम्।

इन्द्रो ब्रवीति— [अस्मभ्यम् अद्य] नास्ति खलु, नापि च श्वोऽस्ति [अस्मभ्यम्]। [यदा 'अद्य' नास्ति तदा श्वोऽपि नैव भवितुं शक्नोति, इति स्पष्टम्]। यन्नैव जातं तज्ज्ञातुं कः समर्थो भवेत्? अन्येषां [प्राणिनां] मानसं संचरणशीलम् अस्थिरम् इति यावद्। अतः तद् ज्ञानातीतम्। अपि च,

[यत्किंचित्] चिन्तितं [तदपि] विनश्यति। अतः स्व-चिन्तितमपि अस्थिरम् इत्याशयः।।१।।

इन्द्र कहता है—[हमारे लिए] न तो [आज] है और न कल है, (जब 'आज' नहीं है तो फिर 'कल' कैसे सम्भव हो सकता है।) जो [उत्पन्न] नहीं हुआ, उसे कौन जान सकता है? अन्य [प्राणियों] का चित्त संचरणशील है, अतः यह ज्ञानातीत है। तथा [जो कुछ किसी अन्य प्राणी के चित्त के सम्बन्ध में] ज्ञात होता भी है, वह [यथावसर] भूल ही जाता है।।१।।

Indra speaks: Naught is today, tomorrow naught. Who [can] comprehend which has never occurred. The mind of any other [being] is of unsteady [nature]. And even that which has been profoundly known is [in time] forgotton.(1)

किं नं इन्द्र जिघांससि भ्रातंरो मरुतस्तवं।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नंः समरंणे वधीः।।२।।

किम्। नः। इन्द्र। जिघांससि। भ्रातंरः। मरुतंः। तवं।
तेभिः। कल्पस्व। साधुया। मा। नः। सम्ऽअरंणे। वधीः।।

अन्वयः—इन्द्र! किं नः जिघांससि। मरुतः तव भ्रातरः। तेभिः साधुया कल्पस्व। समरणे नः माः वधीः।

विशिष्ट-पदानि—जिघांससि = हन्तुम् इच्छसि। साधुया = साधुभावेन। समरणे = समराङ्गणे। वधीः = हिंसीः।

अगस्त्यो वदति—हे इन्द्र! किमर्थं त्वम् अस्मान् (अस्मत्-सदृशान् निरपराधिनः) हन्तुम् इच्छसि? मरुतः [तु] तव भ्रातरः, (त्वया भोगप्रदानेन भरणीया इत्यर्थः)।[१] [अतः] तैः सह त्वया साधुव्यवहारः करणीयः। समराङ्गणे अस्मान् मा हिंसीः [यथा त्वं तत्र शत्रून् हिंसीः इति शेषः]।।२।।

अगस्त्य कहता है—हे इन्द्र! तुम हम (हमारे सदृश निरपराधियों) को क्यों मारना चाहते हो? वे मरुद्गण तो तुम्हारे भ्राता हैं—अर्थात् तुम्हारे

१. मरुताम् इन्द्रभ्रातृत्वम् एकस्मिन्नेव अदिति-गर्भे उत्पन्नत्वात् (सायणाचार्यः)।

द्वारा भोग आदि के देने से भरण-पोषण-योग्य हैं। अतः उनके साथ तुम्हें अच्छा व्यवहार करना चाहिए। युद्ध-भूमि में तुम हमारा वध मत करना [जैसा कि शत्रुओं का वध करते हो]।।२।।

Agastya speaks: Why, O Indra! do you want to slay us? The Maruts are your brethren.[1] Treat them with a properly manner. Destroy us not in the battlefield [in enmity]. (2)

किं नौ भ्रातरगस्त्य सखा सन्नतिं मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि।।३।।

किम्। नः। भ्रातः अगस्त्य। सखा। सन्। अति। मन्यसे।
विद्म। हि। ते। यथा। मनः। अस्मभ्यम्। इत्। न। दित्ससि।।

अन्वयः— भ्रातः अगस्त्य! सखा सन् किं नः अतिमन्यसे। विद्मः यथा ते मनः। अस्मभ्यम् न दित्ससि इत्।

विशिष्ट-पदानि— अतिमन्यसे = अपलपसि। विद्मः = जानीमः। दित्ससि = दातुम् इच्छसि।

इन्द्रः कथयति— भ्रातः अगस्त्य! [त्वं मम] सखा सन् कथम् अस्मान् (माम्) अतिमन्यसे? अस्मद्-विषयेऽपलपसि? इत्याशयः। [अस्माकम् एतद्धारण-सम्बन्धे त्वया न कापि शङ्का कार्या, यतः] वयं तव मानसं यथावस्तु जानीमः। नेच्छसि त्वम् अस्मद्देयभागम् अस्मभ्यं दातुम्।।३।।

इन्द्र कहता है— भाई अगस्त्य! यदि तुम मेरे सखा हो तो तुम मेरे सम्बन्ध में क्यों सीमा से अधिक कहते हो, अर्थात् मेरे सम्बन्ध में क्यों बुरा कहते हो। [तुम्हें हमारे विषय में कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि] हम तुम्हारे मन को (मनोभाव को) ठीक वैसा जानते हैं जैसा कि वह है। वस्तुतः तुम हमारा देय भाग हमें नहीं देना चाहते।।३।।

Indra speaks: Agastya, brother! why do you, my friend, treat me with disregard. We know [what is in] your mind. You do not intend to give us [anything]. (3)

---

1. Brethren because both Indra and Maruts are the sons of Aditi.

अरं कृण्वन्तु वेदिं सम॒ग्निमिन्धतां पु॒रः।
तत्रा॒मृतस्य॒ चेतनं य॒ज्ञं ते तनवावहै।।४।।

अरम्। कृ॒ण्व॒न्तु॒। वेदिम्। सम्। अ॒ग्निम्। इ॒न्ध॒ताम्। पु॒रः।
तत्र। अ॒मृतस्य। चेतनम्। य॒ज्ञम्। ते॒। त॒न॒वा॒व॒है॒।।

अन्वयः— वेदिम् अरं कृण्वन्तु। पुरः अग्निं समिन्धताम्। तत्र अमृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै।

विशिष्ट-पदानि— वेदिम् = यज्ञवेदिम्। अरं कृण्वन्तु = अलंकुर्वन्तु। सम् = सम्यक्। इन्धताम् = प्रज्वालयन्तु। चेतनम् = प्रज्ञापकम्। तनवावहै = अनुतिष्ठाव।

सायणाचार्यानुसारम् एतस्य मन्त्रस्य वक्ता इन्द्रः अगस्त्यो वा अस्ति, परम् एतत्प्रतीयते यद् अगस्त्यस्य कथनम् इदं इन्द्रस्य प्रसादनार्थम्— [ऋत्विजः] वेदिं (यज्ञ-वेदिम्) अलङ्कुर्वन्तु, संमार्जन-पर्युक्षणादिना इति शेषः, पुरस्तात् पूर्व-दिशायां वा अग्निं सम्यक् प्रज्वालयन्तु च। [तदा आवाम्— अहं च मम पत्नी च— हे इन्द्र!] अमरण-लक्षणस्य [ज्ञानस्य] प्रज्ञापकं द्योतकं वा यज्ञं त्वदर्थम् अनुतिष्ठाव।।४।।

सायणाचार्य के अनुसार इस मन्त्र का वक्ता इन्द्र अथवा अगस्त्य है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथन अगस्त्य का है जिसे वह इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए कहता है— [ऋत्विजगण] यज्ञ-वेदि को [संमार्जन-पर्युक्षण द्वारा, अर्थात् लीप-पोत कर तथा जल के छींटे आदि डाल कर] सामने अथवा पूर्व दिशा में इसे अच्छी प्रकार से प्रज्ज्वलित करें। [तब हे इन्द्र! मैं और मेरी पत्नी— हम दोनों] तेरे लिए यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं जो कि अमर ज्ञान का द्योतक है।।४।।

According to Sāyaṇa this verse has been spoken either by Indra or Agastya, but it seems that to please Indra, Agastya speaks: The priests should decorate the alter [by sprinkling water and cleansing it,] and [by throwing sacred fuel] they should kindle fire in front or to the east. [Then] we both of us, myself and my wife, shall accomplish the *Yajña*

(sacrifice: sacrificial rite) for you, an inspirer of immortal [wisdom]. (4)

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः सं वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि।।५।।

त्वम्।ईशिषे।वसुऽपते।वसूनाम्।त्वम्।मित्राणाम्।मित्रऽपते।धेष्ठः।
इन्द्र।त्वम्।मरुत्ऽभिः।सम्।वदस्व।अध।प्र।अशान।ऋतुऽथा।हवींषि।।

अन्वयः– वसुपते! त्वं वसूनाम् ईशिषे। मित्रपते! त्वं मित्राणां धेष्ठः। इन्द्र! त्वं मरुद्भिः सं वदस्व। अध ऋतुथा हवींषि प्राशान।

विशिष्ट-पदानि– ईशिषे = ईश्वरो भवसि। धेष्ठः = अतिशयेन धारकः। अध = अथ, अपि च। ऋतुथा = ऋत्वनुसारम्। प्राशान = प्रकर्षेण भुङ्क्ष्व।

अगस्त्यो वदति— अतिप्रभूतानां धनानां स्वामिन् (इन्द्र)! त्वं सर्वेषां धनानाम् ईश्वरोऽसि। [अस्मदादि-]मित्राणां पालक [इन्द्र]! [त्वम् अस्मदादि-]मित्राणाम् उत्तमो धारकोऽसि। हे इन्द्र! त्वं मरुद्भिः साकं सम्यग्-रूपेण वदस्व। अपि च, त्वम् ऋत्वनुसारं [तत्तद्यागकाले प्रदत्तानि विरचितानि वा] हवींषि (आज्य-चर्वादीनि) प्रकर्षेण भुङ्क्ष्व।।५।।

अगस्त्य कहता है– हे अतिप्रभूत धनों के स्वामिन् इन्द्र! तुम सभी [प्रकार के] धनों के मालिक हो। हमारे मित्रों के पालक हे इन्द्र! तुम हमारे मित्रों के धारक हो। तुम मरुतों के साथ अच्छी प्रकार से बोलो, तथा तुम ऋतुओं के अनुसार [किये गये यज्ञों में दी गयीं] हवियाँ (घृत, अनाज आदि) सम्यक् रूप से खाओ।।५।।

Agastya speaks: O Indra! the Lord of Wealth! You are the best supporter of your friends. [O Indra!] speak you kindly with the Maruts. And also, partake oblations [offered to you] in due seasons. (5)

विवृति

१. ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त (१.१६५) की टिप्पणी-संख्या ३ के अन्तर्गत निर्दिष्ट कर आए हैं कि अगस्त्य ने मरुतों की स्तुति के बाद

सूक्त-संख्या १.१६९ में इन्द्र की स्तुति की। इस सूक्त (१.१७०) में अगस्त्य ने जो हवि इन्द्र के लिए तैयार की थी इसे उन्होंने मरुतों को देनी चाही।

२. **बृहद्देवता** (४.५०-५४) में इस विषय को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि इन्द्र ने अगस्त्य की इस अभिलाषा को समझते हुए उससे कहा—**"न नूनमस्ति..."** (ऋग्० १.१७०.१), अर्थात् "कोई भी वस्तु, निश्चित रूप से, न कल के लिए है और न ही आज के लिए है: कौन जानता है जो कि हुआ नहीं है? यदि उद्देश्य निश्चित न हो तो किसी भी मानव की अभिलाषा निश्शेष-सी हो जाती है।"

इस पर अगस्त्य इन्द्र से बोले, **"किं न इन्द्र...."** (१.१७०.२), अर्थात् हे इन्द्र! तुम हम जैसों को क्यों मारते हो? ये मरुत् तुम्हारे भाई हैं? उनके साथ सद्व्यवहार करो। समरभूमि में हमें मत मारना। पर अगले मन्त्र **'किं नो भ्रातः....'** (१.१७०.३) में इन्द्र ने अगस्त्य से किंचित् रुष्ट होकर उसे गर्हित करते हुए कहा कि हम तो आपके सखा हैं। इस पर अगस्त्य ने **'अरं कृण्वन्तु....'** (१.१७०.४) मन्त्र में रुष्ट इन्द्र को प्रसन्न किया और उसे शान्त करने के पश्चात् हवि मरुतों को अर्पित कर दी।

फिर इसके बाद जब सोम पीसा जाकर तैयार हो गया तो इन्द्र ने मरुतों को भी अपने साथ सोमरस पिला दिया। इसलिए हमें (पाठकों को) यह ज्ञात होना चाहिए कि जो सूक्त इन्द्र को संबोधित हैं, उनमें मरुतों की स्तुति भी परोक्ष रूप से की गयी है।[१]

३. इसी संवाद का विवरण प्रस्तुत करते हुए शौनक ने लिखा है कि सोम जब पीस लिया गया तो इन्द्र ने मरुतों को भी अपने साथ सोमरस पिला दिया—**"सुते चकार सोमेऽथ तानिन्द्रः सोमपीथिनः"** (बृ०दे० ४.५४-क)।

सोम से तात्पर्य एक ऐसी वनस्पति लिया जाता है जो पर्वतों के

---

१. **सुते चकार सोमेऽथ तानिन्द्रः सोमपीथिनः।**
तस्माविद्यान्निपातेन ऐन्द्रेषु मरुत स्तुतान्।। (बृ० दे० ४.५४)

शिखर पर उत्पन्न होती है।[१] इसे कूटा, पीसा और जलमिश्रण के बाद छाना जाता है। यह वनस्पति रोगनाशक तथा शक्तिदायक मानी गयी है।

किन्तु साथ ही सोम को सूर्य की दुहिता कहा गया है और इसे सूर्य [की किरणों] से प्रकाशित कहा गया है। सोम को द्युलोक का पुत्र भी कहा गया है, तथा यह द्युलोक में स्थित है। इन्द्र सोम का पान करता है तो अधिक बलवान् हो जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कथनों में से पहले दो कथनों में सोम को पार्थिव वनस्पति (ओषधि) कहा गया है, किन्तु शेष कथनों में इसे दिव्य पदार्थ कहा गया है, जिसका इन्द्र आदि देवता पान करते हैं—

मृमत्तुं त्वा दि॒व्यः सोम॑ इन्द्र मृमत्तु यः सू॒यते॒ पार्थि॑वेषु।

(ऋग्० १०.११६.३)

अर्थात् हे इन्द्र! यह दिव्य (द्युलोक में उत्पन्न) सोम तुम्हें आह्लादित करे और यह सोम जो पृथ्वी पर उत्पन्न होता है यह भी तुम्हें आह्लादित करे।

उक्त वक्तव्यों से सोम से संभवतः प्रतीकात्मक अर्थ अभीष्ट है— सूर्य की किरणों द्वारा छोड़ी गई ऊर्जा। इन्द्र को वर्षाकारक मेघ माना जाता है। इन्द्र (वर्षाकारक मेघ) जब सोम (सूर्य की ऊर्जा) का पान करता है [तो मूसलाधार वृष्टि होती है।] किन्तु जो विद्वान् इन्द्र, मरुत् आदि को देव-रूप में स्वीकार करते हैं उनकी दृष्टि में सोम एक वनस्पति है जिसका पान कर देवगण पुष्ट होते हैं। उल्लेख्य है कि ऋग्वेद का समग्र नवाँ मण्डल सोम से सम्बन्धित है।

४. ऊपर लिख आए हैं कि अगस्त्य ने इन्द्र की हवि मरुतों को देनी चाही। इसका संकेत निरुक्तकार ने इस रूप में किया है—

अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे (निरुक्त १.४.१३)।

अर्थात् इन्द्र के लिए रखी हुई हवि को अगस्त्य मुनि ने जब मरुतों को देने का विचार किया तो इन्द्र अधीर हो उठा और वह मन्युपूर्वक विलाप करने लगा।

---

१. **दि॒वो मान॑ं नोत्स॑दन्त्सोम॑पृष्ठासो॒ अद्र॑यः।** (ऋग्० ८.६३.२-क)

इस सूक्त में प्रयुक्त तीन नामों— इन्द्र, अगस्त्य और मरुत् के विभिन्न प्रतीकात्मक अर्थ किये जाते हैं—

स्वामी दयानन्द इन्द्र से अभिप्राय परम ऐश्वर्यवान्, विद्वान् आदि लेते हैं; अगस्त्य से व्यवहार-निपुण साधु तथा मरुत् से शिक्षार्थी आदि अर्थ लेते हैं। स्वामी जी के अनुसार इस सूक्त का समस्त भाव यह है— "अन्यों से भली भांति जानने योग्य अन्तःकरण की स्मरणात्मिका वृत्ति और सब ओर से धारण किया हुआ विषय नष्ट नहीं होता, अर्थात् चित्त और ध्यातव्य विषय परलोक में भी साथ रहते हैं। जीव के आश्चर्यजनक रूप को कौन जान सकता है? (ऋग्वेद-भाषाभाष्य)

योगिराज अरविन्द के अनुसार 'अगस्त्य' आत्मा है, और 'इन्द्र' से उन्हें अभिप्रेत है स्वः अर्थात् प्रज्ञा-लोक का अधिपति। (वेदरहस्य, पूर्वार्ध, पृ० ३)

इधर डॉ० रामनाथ वेदालंकार ने इस सूक्त की तीन व्याख्याएं की हैं— (१) आध्यात्मिक व्याख्या में इन्द्र परमात्मतत्त्व है; अगस्त्य जीवात्मा है और मरुत् से प्राण अभिप्रेत है। (२) आधिभौतिक व्याख्या में इन्द्र= राजा, अगस्त्य= प्रजा का प्रतिनिधि तथा मरुत्= वीर सैनिक। आधिदैविक व्याख्या में इन्द्र= विद्युत्, मरुत्= वायु तथा अगस्त्य= यज्ञकर्ता। (वेदों की वर्णनशैलियां, पृ० १४८)

५. यह सूक्त यद्यपि 'इन्द्र-अगस्त्य-संवाद' से सम्बद्ध है, पर इसमें मरुतों (मरुद्गण) की भी चर्चा है कि इन्हें भी अपने भाग के रूप में हवि प्रदान की जाए। सूक्त-संख्या १.१६५ के अन्तर्गत मरुद्गण के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डाल आए हैं। अगस्त्य ऋषि के सम्बन्ध में आगे सूक्त-संख्या १.१७९ में यथावत् चर्चा की जाएगी। यहाँ इन्द्र के सम्बन्ध में केवल उस विषय में चर्चा की जा रही है, जिससे उसके वर्षाकारक रूप पर प्रकाश पड़ता है[1]—

(१) इन्द्र अर्थात् वर्षाकारक वात को 'विद्युत् का देवता' कहा गया

---

१. इन्द्र तथा वृत्र के विषय में पृष्ठ ९१-९३ भी देखिए।

है। अग्नि और इन्द्र दोनों यमल भाई माने गये हैं। मरुद्गण इन्द्र के प्रमुख मित्र हैं। रूपक के माध्यम से कहा जाता है कि इन्द्र को सूर्य के अथवा वायु के घोड़े ले जाते हैं—

(क) अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
(ऋग्० १०.४९.७)

(ख) युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिवः।
(ऋग्० १०.२२.४)

इस प्रकार इन्द्र (वर्षाकारक वात) का सम्बन्ध विद्युत्, अग्नि, मरुद्गण, सूर्य और वायु (सामान्य वायु) के साथ है। यों कहें कि वृष्टि करने में ये सभी इन्द्र की (वर्षाकारक वात) की सहायता करते हैं। इन्द्र का प्रमुख कार्य है—अवर्षा और अन्धकार के राक्षसों पर विजय पाना। इस कार्य में मरुद्गण इन्द्र की विशेष रूप से सहायता करते हैं—इन्हें प्रेरणा देते रहते हैं। अवर्षण एवं अन्धकार-रूप राक्षस को वृत्र कहा गया है। वृत्र (√वृत्+रक्) अर्थात् निरोधक, वर्षा को रोकने वाला, न बरसने वाला बादल। इस अवर्षण-रूप राक्षस को अहि (सर्प) भी कहा जाता है। संभवतः इस कारण कि वह एक विशाल सर्प के रूप में जल को अपने लपेटे में लेकर पृथ्वी पर आने से रोके रहता है। इन्द्र का अस्त्र वज्र है। वे इससे वृत्र-रूप सर्प पर इतना प्रबल प्रहार करता है कि द्यावापृथ्वी प्रकम्पित हो उठते हैं—

अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात्।
(ऋग्० २.११.९)

परिणामतः, मूसलाधार वर्षा होने लगती है, सर्वत्र जल प्रसरित होने लगता है। नदी-नाले, तालाब, सरोवर आदि सब जल से भर जाते हैं।

(२) ऋग्वेद में किन्हीं स्थलों पर रूपक के माध्यम से न बरसने वाले बादलों को 'मेघाद्रि' या मेघ पर्वत' कहा गया है।[1] इन्हीं मेघपर्वतों के अन्दर बद्ध गौएँ हैं। इन्द्र जब इन मेघपर्वतों पर वज्र से प्रहार करता है, तो ये गौएँ मुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार इस रूपक में 'मेघपर्वत' अवर्षक

---

१. ऋग्० १.५७.६

मेघों के प्रतीक हैं तथा गौएँ नदियों की। इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों के उदर विदीर्ण किये तो गौएँ मुक्त हो गईं—अर्थात् सरिताएँ जल से आप्लावित होकर बहने लगीं।[१] इस प्रकार 'गौ' सरिता का प्रतीक है। जल-प्रवाह के साथ-साथ अन्धकार-रूपी दानव भी विनष्ट हो गया। सर्वत्र प्रकाश छा गया। तभी प्रतीकात्मक रूप में कहा गया है कि इन्द्र सूर्य का प्रादुर्भावयिता है—

क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य। (ऋग्० ३.४९.४)

इन्द्र के प्रताप से संसार को सलिल और प्रकाश मिल गया तो मानव को इससे बढ़कर भला और क्या चाहिए? इस कारण 'इन्द्र' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। उनमें से कुछ व्युत्पत्तियाँ अन्नोत्पत्ति-सम्बन्धी हैं, क्योंकि सलिल से अन्न उत्पन्न होता है—

(क) इन्द्रः इराम् अन्नं दृणाति विदारयति, वर्षक्लेदितम् अङ्कुरं बीजं भिनत्ति।
(वर्षा हुई, वर्षा से (क्लिन्न) फूला हुआ बीज अंकुरित हो गया।)

(ख) इरां ददाति। यो वर्षद्वारेण अन्नं ददाति।
(इन्द्र वर्षा के द्वारा इरा (अन्न) देता है, अतः उसे 'इन्द्र' कहते हैं।)

इन्द्र की महिमा वेदार्थ-दीपिका (२.१३) के निम्नोक्त कथन में इस रूप में प्रस्तुत की गयी है—एक ही माध्यमिक (अन्तरिक्ष-स्थ) देव जब वृत्र आदि का हनन करके अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करता है, तब वह 'इन्द्र' कहाता है। जब मेघों को वर्षा के लिए इधर-उधर प्रेरित करता है, तब वह 'वात' कहाता है, और जब वह बादल की गरज, तूफ़ान आदि करने में प्रवृत्त होता है तो वह 'मरुत्वान्' कहाता है।

इधर आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द जी ने 'इन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति √इदि परमैश्वर्ये से मानते हुए इसे परमेश्वर का वाचक माना है—

(१) य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इन्द्रः परमेश्वरः। (सत्यार्थ-प्रकाश, १)

---

१. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं...... (ऋग्० १.३२.२)

(२) इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः समर्थोऽन्तरात्मादित्यो योगो वा। (उणादिकोष २.२८)

इन्द्र शब्द 'परमात्मा'वाची है, इसकी पुष्टि में 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशो पृथिव्याः....' (ऋग्० १०.८९.१०) मन्त्र उद्धृत किया जाता है।

६. तो कौन है यह वृत्र? निरुक्तकारों के अनुसार 'बादल को वृत्र कहते हैं। ऐतिहासिकों के अनुसार यह त्वष्टा का पुत्र असुर है। [मेघों के अन्दर विद्यमान] जल तथा विद्युत् के संयोग से वर्षा होती है। जल और विद्युत् (तेज, अग्नि) यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी हैं, पर इनके परस्पर-संयोग से वर्षा होती है। दूसरे शब्दों में, इन्द्र और वृत्र यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी हैं, पर इनके परस्पर संघर्ष से वर्षा होती है। इस प्रकार इन्द्र और वृत्र का युद्ध रूपक मात्र है।' वस्तुतः ये दोनों परस्पर शत्रु नहीं हैं।[1]

७. (क) इस प्रसंग के अन्तर्गत ऋग्वेद के प्रथम मण्डल को ३२वाँ सूक्त (कुल १५ मन्त्र) उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्र द्वारा वृत्र के संहार का वर्णन है और यह पूरा सूक्त रूपक के माध्यम से सूचित करता है कि इन्द्र-रूप वर्षाकारक बादल ने वृत्र-रूप अवर्षण का हनन किया तो वृष्टि प्रारम्भ हो गयी और पर्वतीय नदियां अपने-अपने मार्गों पर चल पड़ीं—

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम्।। (ऋग्० १.३२.१)

(ख) इसी सूक्त का ही एक अन्य मन्त्र लीजिए जिससे इन्द्र और वृत्र का रूप नितान्त स्पष्ट हो जाता है—

दा॒सप॑त्नी॒रहि॑गोपा अतिष्ठ॒न्निरु॑द्धा॒ आपः॒ प॒णिनै॑व॒ गावः॑।
अ॒पां बिल॒मपि॑हितं॒ यदासी॑द् वृ॒त्रं ज॑घ॒न्वाँ अप॒ तद्व॑वार।।
(ऋग्० १.३२.११)

अर्थात् दास (घातक) है पति (स्वामी) जिनका ऐसे जल[2] सर्प-सदृश वृत्र

---

१. तत्को वृत्रः? मेघः इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। (निरुक्त, २.१६)। इस पाठ के सम्बन्ध में दुर्गाचार्य की टीका द्रष्टव्य है।

२. दासपत्नीः आपः = दास (√दस्) = घातक है पति = रक्षक जिनका ऐसे आपः (स्त्रीलिंग) = जल।

(मेघ) से रक्षित होते हुए ऐसे रुके हुए थे जैसे कि पणिजन [अपनी अथवा दूसरों की] गायों को रोके रखते हैं। जल का बिल (द्वार) [जिस वृत्र (मेघ) के कारण] ढँका हुआ था उस मेघ को [इन्द्र = विद्युत् ने] खोल दिया।

इस प्रकार इस मन्त्र में इन्द्र से तात्पर्य है विद्युत् और वृत्र से तात्पर्य है मेघ जो जल को रोके हुए है।

८. (क) अब आइए, इन्द्र की चर्चा पुराणों के अनुसार करें— इन्द्र को ऋग्वेद में प्रथम श्रेणी के देवताओं में स्थान दिया गया है, पर पुराणों में इसे द्वितीय श्रेणी का देवता बताया गया है। इन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश इस त्रिक से निम्नतर माना गया है, पर हाँ, यह त्रिक से इतर शेष अन्य देवताओं में प्रमुख है। वेदों के अनुसार, पुराणों में भीए इसे अन्तरिक्ष तथा पूर्व दिशा का अधिष्ठातृ-देवता कहा गया है तथा इसका लोक 'स्वर्ग' कहाता है। यह वज्र धारण करता है, बिजली को भेजकर वर्षा करता है। यह असुरों के साथ प्रायः युद्ध में लगा रहता है। असुर इससे भयभीत रहते हैं, परन्तु कई बार इन्द्र भी इनसे भयभीत होता रहता है, और कभी-कभी तो इनसे परास्त भी हो जाता है।

(ख) पुराणों का इन्द्र ऋग्वेद के इन्द्र से नितान्त भिन्न है। वह कामुक है तथा व्यभिचार के लिए प्रख्यात है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है कि इसके द्वारा गौतम की पत्नी अहल्या का सतीत्व-हरण। इसी कारण शतपथ-ब्राह्मण में इन्द्र को 'अहल्यायै जारः' कहा जाता है[१] (३.३.४.१८)। इस घटना पर गौतम ऋषि के शाप के कारण इन्द्र के शरीर पर नारी-योनि जैसे हज़ार चिह्न बन जाते हैं। परन्तु बाद में ये चिह्न 'आँख' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इसलिए इन्द्र को 'सहस्रयोनि' एवं 'सहस्राक्ष' कहा जाता है।

इस प्रसंग में उल्लेख्य है कि स्वामी दयानन्द जी ने इन्द्र को सूर्य, अहल्या को रात्रि और चन्द्रमा को गौतम के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि गौतम[१] रूपी चन्द्रमा सदा अहल्या[२] रूपी रात्रि के साथ रहता

---

१. गौतम = अत्यन्त वेग से चलता है = चन्द्रमा।

२. अहल्या = जो अहन् (दिन) को अपने में लीन कर देती है = रात्रि।

है और इन्द्र रूपी सूर्य रात्रि को निवृत्त कर देता है। अत: वह जार कहाता है।

(ग) पुराण का इन्द्र कामी रूप में वर्णित किया गया है, पर इसके संकेत स्वयं ऋग्वेद में उपलब्ध हो जाते हैं। अर्दद्मा अर्भां महुते वचस्यवे ...... (ऋग्० १.५१.१३) मन्त्र की व्याख्या के अन्तर्गत सायण ने ताण्ड्य ब्राह्मण के आधार पर निर्दिष्ट किया है कि वृषणाश्व की मेना नामक कन्या जब युवती हो गयी तो स्वयं इन्द्र ने इसकी कामना की।

(घ) पुराणों के अनुसार इन्द्र का एक अन्य रूप भी है। ऐसा विश्वास किया जाता रहा है कि जो राजा १०० यज्ञ कर लेगा वह इन्द्र का पद प्राप्त कर लेगा। इसलिए पुराणों का इन्द्र राजाओं को १०० यज्ञ पूरा करने में विघ्न उपस्थित करता रहता है— उदाहरणार्थ, वह सगर और रघु के यज्ञीय घोड़ों को उठाकर ले गया था। पर रघु को इन्द्र के साथ युद्ध में अन्तत: विजय प्राप्त होती है (देखिए रघुवंश, तृतीय सर्ग)।

(ङ) पुराणों का इन्द्र घोर तपश्चर्या करने वाले ऋषि-मुनियों से भी भयभीत रहता है और अप्सराएं (स्वर्वेश्याएं) भेजकर उनके मार्ग में विघ्न डालता रहता है। इन्द्र इनका स्वामी है, अत: इसे 'अपसरस्पति' कहा गया है।

(च) ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र द्वारा वृत्र का संहार पुराणों में अनेक रूपों में, विशेषत: विविध आख्यानों में, परिवर्तित हो गया। उदाहरणार्थ पद्मपुराण में से ये स्थल लीजिए—

— पद्मपुराण (२४-२५ वें अध्याय) के अनुसार इन्द्र ने बल दैत्य का वध कर दिया तो क्रन्दन करती हुई उसकी माता दिति ने अपने पति कश्यप के पास जाकर उन्हें यह वृत्त सुनाया तो वे अति क्षुब्ध हुए और क्रोधावेश में आकर उन्होंने इन्द्र के वध के लिए पुत्र की उत्पत्ति का विचार करते हुए अपनी एक जटा उखाड़ कर यज्ञकुण्ड में डाली और तभी कुण्ड में से अन्यन्त भीषणाकृति वृत्र समुत्पन्न हुआ। कश्यप ने वृत्र को बताया कि इन्द्र के वध के लिए उसकी उत्पत्ति की गयी है। उधर इन्द्र को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसने सप्तर्षियों[1] को वृत्र के पास भेजा

१. मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ।

कि इन्द्र उसके साथ सन्धि करने का इच्छुक है। वृत्र के यह पूछने पर कि इन्द्र उसके साथ कहीं छल-छद्म तो नहीं कर रहा, तो इन्द्र ने कहलवाया कि ''यदि मैं ऐसा करूं तो मैं ब्रह्महत्या का भागी बनूँ'', और इस प्रकार दोनों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया।

पर इन्द्र वृत्र में किसी प्रकार का दोष ढूँढकर उसे मारना चाहता था। उसने एक उपाय सोचा और परम सुन्दरी रम्भा को अन्य अप्सराओं के साथ उसके पास भेजा। वृत्र ने जब उसे देखा तो पूछा कहाँ से आयी हो। उत्तर मिला कि इन्द्र के यहाँ से आयी हूँ। रम्भा ने उसे अपने मधुर आलापों तथा नृत्य से लुभाया, उसे सुरापान कराया और तभी इन्द्र ने अपने वज्र से प्रमत्त वृत्र का वध कर दिया। जब देवताओं ने इन्द्र से कहा कि तुम ब्रह्महत्या पाप के भागी हो तो वह बोला—

येन केनाप्युपायेन हन्तव्योऽरिः सदैव हि।
देव-ब्राह्मण-हन्ता च यज्ञधर्मस्य कण्टकः।। (पद्मपुराण, १५.२२)

उल्लेख्य है कि इन्द्र और वृत्र यहाँ मानव-रूप में वर्णित हैं न कि ऋग्वेद के समान प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप में।

— पद्मपुराण (१६८ वें अध्याय) के अनुसार इन्द्र और वृत्र का लोमहर्षक युद्ध ग्यारह सौ वर्ष पर्यन्त होता रहा। अन्ततः, इन्द्र ने समुद्र-तट पर वृत्र को अपने वज्र से मार गिराया। देवताओं ने इन्द्र पर पुष्प-वर्षा की। पर ब्रह्महत्या ने अतिभंयकर [मानवी] रूप धारण कर इन्द्र को गले से दबोच लिया और ब्रह्मा जी के पास ले जाकर इस विषय में उसकी शिकायत की। ब्रह्मा जी ने ब्रह्महत्या से कहा कि देवराज इन्द्र मेरा अति प्रिय है, इसे छोड़ दो। और फिर, विविध उपायों से इन्द्र को वृत्र की हत्या के पाप से मुक्त कराया गया।

उल्लेख्य है कि यहाँ भी इन्द्र, वृत्र और ब्रह्महत्या को मानव-रूप में प्रस्तुत करके उक्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है— यहाँ इन्द्र और वृत्र ऋग्वेद के अनुसार प्रकृति के प्रतीक नहीं है। इसी प्रकार का वर्णन श्रीमद्भागवतपुराण के १२वें अध्याय में भी उपलब्ध है, जिसमें वृत्र की पराजय दिखायी गयी है।

(छ) और यह इन्द्र का वज्र! काहे का बना है यह? महाभारतकार

ने कल्पना की है इस सम्बन्ध में। महाभारत (वनपर्व) के अनुसार सत्ययुग के अन्तर्गत, वृत्रासुर कालकेय नामक दैत्यगण का मुखिया था और वह इन्द्र आदि देवताओं पर आक्रमण किया करता था। इन दैत्यों से चिन्तित देवताओं ने ब्रह्मा जी के परामर्श से, भूलोक में जाकर, सरस्वती नदी के तट पर, दधीचि नामक महर्षि से उनके शरीर की अस्थियाँ माँगी तो उदार-हृदय ऋषि ने, लोकहित को ध्यान में रखते हुए, अपना शरीर त्याग दिया। देवताओं ने उनके निष्प्राण शरीर से अस्थियाँ निकाल लीं, और विश्वकर्मा द्वारा इनसे एक छः दाँतों वाला अति भयंकर और तीक्ष्ण वज्र निर्मित करवाया। तदनन्तर इन्द्र ने पृथ्वी और आकाश को घेर कर खड़े वृत्रासुर पर धावा बोल दिया। उस समय विशालकाय कालकेयगण, अनेक अस्त्रशस्त्र-सहित, वृत्रासुर की सब ओर से रक्षा कर रहे थे। ऋषियों के तेज से सम्पन्न इन्द्र को देख वृत्रासुर ने भीषण सिंहनाद किया, इतना भीषण कि स्वयम् इन्द्र भी भयभीत हो गया। तभी इन्द्र ने उस पर अपना भीषण वज्र छोड़ा और वह महासुर इसकी चोट से भूमि पर गिर पड़ा।

इसी प्रकार शान्तिपर्व में भी इन्द्र और वृत्र के द्वन्द्व-युद्ध का अतीव भीषण वर्णन किया गया है।

९. इधर आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द जी ने नितान्त अपने निजी दृष्टिकोण से इस सूक्त (१.१७०) के पहले मन्त्र से यह आशय लिया है कि [ईश्वर] जीव के समान उत्पन्न नहीं होता, अतः उसका विनाश भी नहीं होता। ऐसे [ईश्वर] को जान लेने वाला मानव अपने-आप में एक आश्चर्य है। उन्होंने दूसरे मन्त्र से यह आशय लिया है कि जो दूसरों को पीड़ा देने की चेष्टा करता है वह स्वयं पीड़ित होता है। तीसरा मन्त्र हमें उपदेश देता है कि मित्र अपने मित्रों के सत्कर्मों में सदा उनके सहायक बने रहें। चौथे मन्त्र का आशय यह है कि ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करने वाले जन औरों के लिए सदा सुखदायी होते हैं। पाँचवें मन्त्र के अनुसार सच्चा धनाढ्य वह है जो सुसंस्कार-सम्पन्न होकर विद्वानों की संगति करता है और मित्रों का सदा सहारा बना रहता है।

३. लोपामुद्रा-अगस्त्य-संवाद

(ऋग्वेद १.१७९)

ऋग्वेदस्य प्रथम-मण्डलस्य एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

षडृर्चस्यास्य सूक्तस्य प्रथमा-द्वितीययोर्ऋचोर्लोपामुद्रा ऋषिका, तृतीया-चतुर्थ्योर्मैत्रावरुणिरगस्त्यः, पञ्चमी-षष्ठयोश्चागस्त्यान्तेवासी ब्रह्मचारी ऋषिः। रतिर्देवता। प्रथमादि-चतुर्ऋचां षष्ठ्याश्च त्रिष्टुप्, पञ्चम्याश्च बृहती छन्दसी।

ऋग्वेद के पहले मण्डल का यह १७९वाँ सूक्त है। इस सूक्त में छह मन्त्र हैं। इनमें से संख्या १, २ मन्त्रों की ऋषिका लोपामुद्रा है, संख्या ३, ४ मन्त्रों का ऋषि मैत्रावरुणि अगस्त्य है। संख्या ५, ६ मन्त्रों का ऋषि अन्तेवासी ब्रह्मचारी है।

इस सूक्त का देवता रति है। इस सूक्त के ६ मन्त्रों में से संख्या १-४, ६ मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में तथा संख्या ५ मन्त्र बृहती छन्द में रचित हैं।

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः।।१।।

पूर्वीः। अहम्। शरदः। शश्रमाणा। दोषा। वस्तोः। उषसः। जरयन्तीः।
मिनाति। श्रियम्। जरिमा। तनूनाम्। अपि। ऊँ इति। नु। पत्नीः। वृषणः। जगम्युः।।

अन्वयः— अहं पूर्वीः शरदः दोषा वस्तोः उषसः जरयन्तीः शश्रमाणा। जरिमा तनूनां श्रियं मिनाति। अपि, वृषणः पत्नीः नु जगम्युः।

विशिष्ट-पदानि-- पूर्वीः = पुरातनाः। शरदः = संवत्सरान्। दोषाः = रात्रीः। वस्तोः = दिवसान्। जरयन्तीः = वार्धक्यम् आपयन्तीः। शश्रमाणा = श्राम्यन्ती, श्रान्ता इत्याशयः। जरिमा = वार्धक्यम्। मिनाति = विनाशयति। अपि = अधुना किं कर्तव्यम्, इत्याशयः। वृषणः = सेक्तारः। नु = शीघ्रम्। जगम्युः = गच्छेयुः, गच्छन्ति।

लोपामुद्रा स्वपतिं कथयति— [हे अगस्त्य!] अहं [लोपामुद्रा] अनेकान् पुरातनान् संवत्सरान् [पर्यन्तं] रात्रीः, [मां] जरावस्थां प्रापयन्ति दिवसान्, उषःकालांश्च (निरन्तरम् अबाधगत्या) [तव शुश्रूषां कुर्वती] श्रान्ताऽभवम्। [परं त्वं न समर्थो जातः सम्भोग-कार्येऽद्यावधि। इदानीन्तु] वार्धक्यं [मम] अङ्गानां सौन्दर्यं विनाशयति (अपहरतीव)। तथा च [यथा लोके] सेक्तारः (मैथुन-समर्थाः पतय इत्यभिप्रायः) स्वपत्नीः [सम्भोगाय] गच्छन्ति, [तथा आवामपि सम्भोग-कर्मणि रतौ भवेव इति शेषः।]।।१।।

[लोपामुद्रा अपने पति से कहती है—हे अगस्त्य!] मैं [लोपामुद्रा] अनेक पुरातन वर्षों से रात, दिन और उषःकालों में तुम्हारी सेवा करती हुई थक गयी हूँ और बूढ़ी हो गयी हूँ। [किंतु तुम अद्यावधि संभोग-कार्य में सफल नहीं हो सके हो।] अब तो वार्धक्य [मेरे] अंगों का सौन्दर्य विनष्ट कर रहा है। [जैसे लोक में] सेंचने वाले अर्थात् मैथुन-समर्थ पतिजन अपनी पत्नियों के पास [संभोग के लिए] यथाशीघ्र जाते हैं [उसी प्रकार हम दोनों भी संभोग-कार्य में संलग्न हों]।।१।।

[According to Griffith, Devatā, i.e., the deified object of this hymn (I.179.1-6) is said to be Rati or love, and its Ṛṣ is or authors are Lopāmudrā, Agastya and a disciple.]

Lopāmudrā speaks to her husband, Agastya, "Through many years I have been serving [you], both day and night, and through mornings, bringing an old age. [But you were never potent to give me the sexual enjoyment so far. And now,] the decay impairs the beauty of limbs. What, [therefore, is now] to be done: let husbands approach their wives, i.e., you must approach me like other husbands."　　(1)

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः।।२।।

ये। चित्। हि। पूर्वे। ऋतऽसापः। आसन्। साकम्। देवेभिः। अवदत्। ऋतानि।
ते। चित्। अव। असुः। नहि। अन्तम्। आपुः। सम्। ऊँ इति। नु। पत्नीः। वृषऽभिः। जगम्युः।।

अन्वयः– ये चित् पूर्वे ऋतसापः आसन् देवेभिः साकं ऋतानि अवदन्। ते चित् अवासुः, न हि अन्तम् आपुः। पत्न्यः नु वृषभिः संजगम्युः।

विशिष्ट-पदानि– ऋतसापः = ऋतसः (सत्यस्य) आपयितारः पालयितारः इत्यर्थः। ऋतानि = सत्यानि। अवासुः (अव+आसुः, √अस्) = अवाक्षिपन्। वृषभिः = पतिभिः। संजगम्युः = गच्छन्तु।

लोपामुद्रा स्वपतिम् अगस्त्यं कथयति– [हे पते अगस्त्य!] येऽपि तु सत्यस्य आपयितारः पुरातनाः [महर्षयः] आसन्, [ते] देवैः सह सत्यवाक्यानि अवदन् [यत्] ते अवाक्षिपन् [रेतः इति शेषः, नियमतः मैथुन-रताः जाताः इत्यभिप्रायः], न ते [कदापि] एतत्कर्मविरता अभवन्। [एवमेव सर्वाः] पत्न्यः अपि स्वपतिभिः सह गच्छन्तु सम्भोगं कुर्वन्तु, 'आवामपि रमावहे' इत्याशयः।।२।।

लोपामुद्रा अपने पति अगस्त्य को कहती है– [हे पतिदेव अगस्त्य!] जो भी सत्य का पालन करने वाले पुरातन [महर्षि] थे, [वे] देवताओं के साथ सत्यवाक्य बोलते थे [कि] वे [वीर्य] क्षेप करते थे, अर्थात् नियमपूर्वक मैथुन-संलग्न रहते थे। वे [कभी भी] इस कर्म से विरत नहीं होते थे। [इसी प्रकार सभी] पत्नियाँ भी अपने पतियों के साथ जाएँ, अर्थात् संभोग करें। ['हे अगस्त्य! हम दोनों भी रमण करें'– लोपामुद्रा को यह कहना अभीष्ट है।]।।२।।

Lopāmudrā says to her husband, "The sages aforetime, law-fulfillers, who conversed truths with the gods, ejected [the semen], i.e., begot progeny and never violated [the act of co-habitation]. Now, therefore, should wives be approached by their husbands, i.e., I must enjoy the sexual act with you." (2)

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव ।।३।।

न। मृषा। श्रान्तम्। यत्। अवन्ति। देवाः। विश्वाः। इत्। स्पृधः। अभि। अश्नवाव। जयाव। इत्। अत्र। शतऽनीथम्। आजिम्। यत्। सम्यञ्चा। मिथुनौ। अभि। अजाव।।

अन्वयः— मृषा न श्रान्तम्। यत् देवाः अवन्ति। विश्वाः स्पृधः इत् अभि अश्नवाव। यत् सम्यञ्चा मिथुनौ अभि अजाव अत्र शतनीथम् आजिं जयाव इत्।

विशिष्ट-पदानि— मृषा = व्यर्थम्। श्रान्तम् = श्रमः कृतः। विश्वाः = सर्वाः। स्पृधः = स्पर्धाः अभ्यश्नवाव = प्राप्स्यावः। सम्यञ्चा = सम्यञ्चौ (परस्परं सम्यग्-रूपेण स्थितौ) मिथुनौ = मिलितौ भूत्वा (मिलित्वा)। अभ्यजाव = अभिजयाव। शतनीथम् = असंख्याकम्। आजिम् = संग्रामम्।

अगस्त्यो लोपामुद्रां वदति— [भो लोपामुद्रे!] आवाभ्यां यः श्रमःकृतः (सम्भोग-कार्य-विरतौ इति शेषः), असौ न व्यर्थो भविष्यति, यस्माद् [आवयोर्ब्रह्मचर्य-पालने-प्रीताः] देवाः [आवां] रक्षन्ति। [अनेन च] आवां सर्वान् कामान् समन्तात् प्राप्स्यावः। यदि आवां परस्परं सम्यग्-रूपेण मिलित्वा (अमैथुन-विषये सहमतौ भूत्वा) प्रयत्नशीलौ भवाव, तदा अस्मिन् संसारे असंख्याकं संग्रामं जेष्यावः (संभोग-विरति-सदृश-दुष्कर-कृत्यानि सरलानि भविष्यन्ति आवाभ्याम् इत्याशयः)।।३।।

[अगस्त्य लोपामुद्रा से कहते हैं— हे लोपामुद्रे!] हम दोनों ने [संभोग-कार्य से विरत रहने में] जो श्रम किया है, वह व्यर्थ नहीं जाएगा, क्योंकि [हमारे ब्रह्मचर्य-पालन से प्रसन्न] देवता [हम दोनों की] रक्षा करते हैं। [और इससे] हम दोनों सभी इच्छाओं को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेंगे। यदि हम दोनों [मैथुन न करने के सम्बन्ध में] आपस में सहमत होकर प्रयत्नशील होते हैं तो इस संसार में असंख्य युद्धों को जीत लेंगे, अर्थात् संभोग से विरत होने जैसे अनेक दुष्कर कार्य हम दोनों के लिए सरल हो जाएंगे।।३।।

Agastya speaks, "Penance [of self-restraint] has not been practised in vain [by both of us.] As a result of it, gods protect us. By this, we shall achieve all our desires fully. If we exert ourselves mutually together, we may triumph in many conflicts in this world." (3)

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्।।४।।

नदस्य। मा। रुधतः। कामः। आ। अगन्। इतः। आऽजातः। अमुतः। कुतः। चित्।
लोपामुद्रा। वृषणम्। निः। रिणाति। धीरम्। अधीरा। धयति। श्वसन्तम्।।

अन्वयः— नदस्य रुधतः कामः मा आगन्। इतः अमुतः कुतश्चित् आजातः। लोपामुद्रा वृषणं नि रिणाति। अधीरा धीरम् श्वसन्तम् धयति।

विशिष्ट-पदानि— नदस्य = स्वाध्याय-निरतस्य। रुधतः = ब्रह्मचर्य-मास्थितस्य। मा = माम्। आगन् = आगमत्। वृषणं = रेतःसेचकम्। निरिणाति = नितरां गच्छतु (√रीङ् गतौ)। श्वसन्तम् = महाप्राणम्। धयति = (√धेट् पाने) पिबति, उपभुङ्क्ते।

अगस्त्यो लोपामुद्रां कथयति— [हे जाये! बहुसंवत्सर-पर्यन्तं] स्वाध्याय-निरतस्य; ब्रह्मचर्यमास्थितस्य च [मम कालो व्यतीतः], किन्तु [अद्य] मां (मे मनसि) कामो (मैथुनाभिलाषः) अगमत् (अजागः)। एषः कामः इतः कारणाद् जातः, अमुतः कारणाद् वा जातः, [तवोपर्युक्त-प्रेरणया जातः, यद्वा वसन्ताद्युद्दीपनकारणाद् वा जातः— न हि किंचिन्निश्चित-कारणं ज्ञातुं शक्नोमि, नापि च कारण-ज्ञानात् किंचिल्लभ्यते फलम्, इत्याशयः। अध ुना] लोपामुद्रा रेतःसेचकं [माम्] नितरां गच्छतु। [सत्यमेतद यद्] अस्थिर-मनस्का [नारी] संयमिनं महाबलम् [अगस्त्यम्] उपभुङ्क्ते।।४।।

अगस्त्य लोपामुद्रा से कहते हैं— [हे जाये! बहुत वर्ष-पर्यन्त] स्वाध्याय में निरत रहने के कारण मुझे ब्रह्मचर्य-पालन करते [बहुत समय बीत गया है, किन्तु आज] मेरे [मन में] काम अर्थात् मैथुनाभिलाषा जागरित हो गयी है। यह अभिलाषा इस कारण से उत्पन्न हुई अथवा उस कारण से (अर्थात् तुम्हारी उपर्युक्त प्रेरणा से उत्पन्न हुई अथवा वसन्त आदि उद्दीपनकारण से, अथवा इहलोक में प्रचलित रीति से उत्पन्न हुई है, अथवा सुख-प्राप्ति के लिए— मैं कोई निश्चित कारण जान सकने में समर्थ नहीं हूँ, और कारण जान लेने से कोई लाभ भी तो नहीं।) [हाँ, अब] लोपामुद्रा [मुझ]

वीर्य-सेचक को निरन्तर प्राप्त होवे। [यह ठीक ही है कि] अस्थिर मन वाली [नारियाँ] संयमी तथा महाबली [पुरुष को] भी [सन्मार्ग] से विचलित कर देती हैं।।४।।

Agastya speaks, "The lust, either from this cause or from that,[1] has come upon me, who has been engaged in studies and also suppressing [passion till this time.] Now let Lopāmudrā approach her husband. [In fact,] the unsteady female beguiles [even] the firm and resolute man."[2] (4)

इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळतु पुलुकामो हि मर्त्यः।।५।।

इमम्। नु। सोमम्। अन्तितः। हृत्ऽसु। पीतम्। उप। ब्रुवे।
यत्। सीम्। आगः। चकृम। तत्। सु। मृळतु पुलुऽकामः। हि। मर्त्यः।।

अन्वयः— इमं सोमम् अन्तितः हृत्सु पीतम् तम् उपब्रुवे। यत् सीम् आगः चकृम तत् मृळतु। मर्त्यः पुळुकामः।

विशिष्ट-पदानि— अन्तितः = आ अन्ताद् यावदवकाशम्। सीम् = सर्वतः। आगः = पापम्। मृळतु = सुखयतु। पुळुकामः = बहुकामनावान्।

दम्पत्योः उपर्युक्त-संवादं श्रुत्वा एकोऽन्तेवासी वदति— यः सोमः मया हृत्सु यथाकामम् पीत आसीत्, यद्वा सेवनानन्तरं मम हृदये समाविष्ट एव, तम् उपेत्य अहम् ब्रवीमि— यन्मया [गुर्वोः उपर्युक्त-कामप्रलाप-श्रवण-विषयको] यत् पापं कृम् तस्मात् [सः सोमः] सम्यक् सुखयतु, मम

1. The phrase "either from this cause or from that" has been explained by the scholars as follows: from our society; or from the influence of the season as spring and the like; or from the suggestions of this world or of the next. (*Ṛgvedasaṁhitā*, translation by Wilson, p. 376)
2. According to Griffith the second half of this stanza ('Now let........ resolute man') has either been uttered by poet (Agastya) or by his disciple in which the result of the dialogue has been told briefly. (The Hymns of the Ṛgveda, P. 650)

पापं क्षान्त्वा मां मा पीडयतु इत्याशयः। [सत्यम्,] मनुष्यो बहुकामनावान् अतिकामपीडितो वा भवति [येन प्रेरितः सन् अहं तयोः गुह्य-संवादं श्रुतवान्।] ।।५।।

[दम्पती के उपर्युक्त संवाद को सुनकर एक अन्तेवासी कहता है—] मैंने जो सोम छककर पिया था, अथवा जो सोम पीने के अनन्तर मेरे हृदय में समाविष्ट ही हो गया था, मैं उसी के पास जाकर कहता हूँ कि मैंने [गुरु के उपर्युक्त काम-विषयक वार्तालाप के श्रवण से] जो पाप किया है उसे [वह सोम मुझे क्षमा करके] सुख दें, अर्थात् मुझे पीड़ित न करें। [यह सत्य है कि] मनुष्य बहुत इच्छाओं वाला होता है अथवा काम से अति पीड़ित होता है [जिससे प्रेरित होकर मैंने उन दोनों का गुप्त संवाद सुना है]।।५।।

A pupil, who has overheared the conversation, speaks, "I entreat Soma juice—which has been imbibed within the spirit, or which I have taken to my heart's satisfaction—that it, [condoning my] sin [of listening the secret dialogue of my revered Guru with his wife], may bestow me relief. In. fact, mortal man is subject to many temptations."[1]   (5)

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम।।६।।

अगस्त्यः। खनमानः। खनित्रैः। प्रऽजाम्। अपत्यम्। बलम्। इच्छमानः।
उभौ। वर्णौ। ऋषिः। उग्रः। पुपोष। सत्याः। देवेषु। आऽशिषः जगाम।।

अन्वयः— ऋषिः उग्रः अगस्त्यः खनित्रैः प्रजां खनमानः, अपत्यं बलम् इच्छमानः; उभौ वर्णौ पुपोष। देवेषु सत्याः आशिषः जगाम।

विशिष्ट-पदानि— खनित्रैः = उत्पादन-साधनैः। खनमानः = श्रममाणः। जगाम = प्राप्तवान्।

अन्तेवासी कथयति— [अयं मद्गुरुः] ऋषिः (अतीन्द्रियाणां द्रष्टा), उग्रः (महाबलशाली, उद्गूर्णो वा— संसारे संचरन्नपि पापरहितः—), अगस्त्यः

---

1. According to Griffith this staza has no apparent connection with the rest of the hymn. (P. 650)

[फलस्य] उत्पादन-साधनैः श्रममाणः प्रजाम् (प्रजायै समृद्धिम् इत्याशयः), पुत्रं, बलञ्च अभिलषन्, उभौ वर्णौ (तपश्च कामञ्च— प्रथमं ब्रह्मचर्य-पालन-रूपं तपः, तदनन्तरं पुत्र-प्राप्त्यर्थं मैथुनरूपं कामं) पालितवान्। [तेन असौ] देवेभ्यः सत्यानि (अभिलषित-फलदायीनि) आशीर्वचनानि प्राप्तवान्।।६।।

अन्तेवासी कहता है– [यह मेरे गुरु] ऋषि (इन्द्रियों से परे देखने की क्षमता वाले), उग्र अर्थात् महाबलशाली अथवा उद्गूर्ण (संसार में विचरते हुए भी पाप-रहित) अगस्त्य उत्पादन-साधनों से प्रजा [की समृद्धि], पुत्र और बल की अभिलाषा करते हुए, [तप और कामरूपी] दोनों वर्णों का, अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वारा तप का, और फिर, पुत्र-प्राप्त्यर्थ मैथुन-रूप काम का, पालन करते हैं। [इसी कारण उन्होंने] देवताओं से सत्य अर्थात् अभीष्ट-फल-दायी आशीर्वचनों को प्राप्त किया है।।६।।

The last verse also is said by the pupil, "My Guru Agastya—the seer (an inspired poet), the powerful or the sinless person, digging with tools (working with fit impliments; toiling with strong endeavour),[1] desiring progeny (descendants), offspring (sons) and strength—practised the act of both the classes, i.e., Tapa and Kāma (self-mortification and indulgence in sexual act for progeny).[2] [And thus] he received true [benedictions] from the gods." (6)

विवृति

१. इस सूक्त के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ज्ञातव्य है कि इस के पहले मन्त्र में प्रयुक्त 'वृषण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है— सींचने वाला (√वृष् = सींचना), किन्तु यहाँ 'पत्नी' शब्द के साथ संयोग के कारण इसका अर्थ

---

1. That is, effecting his objects by appropriate means, earning his reward by sacrifice and hymns.

2. Griffith's remarks: By both classes probably priests and princes, or institutions of sacrifices, are meant. M. Bergaigne understands the expression to mean the two forms or essences of Soma, the celestial and the terrestrial. (P. 650)

है वीर्यसेक्ता अर्थात् पति। इस प्रसंग में 'वृषण' और 'पत्नी' शब्दों से क्रमशः अगस्त्य मुनि और लोपामुद्रा अभीष्ट हैं। यद्यपि इस पूरे सूक्त में 'अगस्त्य' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, पर 'लोपामुद्रा' शब्द चतुर्थ मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है। (उल्लेख्य है कि 'वृषण' अण्डकोष को कहते हैं, क्योंकि इसमें वीर्य सुरक्षित रहता है।)

२. निरन्तर स्वाध्याय में निरत रहने के कारण अगस्त्य मुनि अपनी पत्नी को सन्तुष्ट न कर सके– इस विषय से सम्बद्ध इस सूक्त में दोनों का संवाद प्रस्तुत किया गया है, तथा एक अन्तेवासी भी इस सूक्त में भाग लेता है जिसने इनके वार्तालाप को गुप्त रूप से सुन लिया है।

३. इस सूक्त की कथा **'बृहद्देवता'** (४.५७-६०) में अति संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत की गयी है– [अगस्त्य] ऋषि ने, एकान्त-मिलन की इच्छा से, अपनी यशस्विनी तथा ऋतुस्नाता पत्नी लोपामुद्रा से [इस सम्बन्ध में] कहना प्रारम्भ किया (५७)। [इसके बाद] लोपामुद्रा ने दो मन्त्रों (ऋग्० १.१७९.१,२) में अपनी अभिलाषा व्यक्त की। तब अगस्त्य मुनि ने अगले दो मन्त्रों में उसे सन्तुष्ट किया (५८)। मुनि के एक अन्तेवासी ने, तपस्या के बल पर, यह जान लिया कि यह दम्पती रमणेच्छुक है, [पर] यह सोचकर कि मैंने इन दोनों की [गुप्त वार्ता] सुनकर पाप किया है, वह अगले दो मन्त्र (५, ६) बोला (५९)। मुनि और उनकी पत्नी ने उसकी प्रशंसा करते हुए उसे गले लगाया तथा उसका माथा सूँघा, और मुस्कराते हुए उसे कहा, "बेटा! तुमने कोई पाप नहीं किया।"(६०)

४. ऋग्वेद के इस सूक्त के अनुसार रमणेच्छा की पहल लोपामुद्रा द्वारा की गयी है, पर बृहद्देवता की उक्त कथा में अगस्त्य मुनि द्वारा। इसके अतिरिक्त दम्पती द्वारा अन्तेवासी को यह आश्वासन देना कि उसने उनकी बात सुनकर कोई पाप नहीं किया– यह स्थल ऋग्० (१.१७९) में नहीं है।

५. ऋग्वेद में प्रस्तुत उपर्युक्त आख्यान महाभारत (वनपर्व ९६-९९) में निम्नोक्त रूप में विकसित हुआ उपलब्ध होता है। एक बार युधिष्ठिर

अगस्त्य मुनि के आश्रम में गये तो वहाँ उन्हें लोमश ऋषि ने यह वृत्तान्त सुनाया कि एक बार अगस्त्य मुनि ने एक गड्ढे में कुछ व्यक्तियों को उलटे सिर लटके हुए देखा। उनसे पूछने पर इन्हें ज्ञात हुआ कि वे इनके पितर हैं और चाहते हैं कि वंश-वृद्धि के लिए अगस्त्य मुनि के यहाँ पुत्रोत्पत्ति हो। इन्होंने उन्हें वचन दिया कि उनकी यह इच्छा पूरी की जाएगी। पर उन्हें अपने मनोनुकूल कोई नारी न जान पड़ी। अपने मनोनुकूल पत्नी प्राप्त करने की इच्छा से इन्होंने विभिन्न जन्तुओं के अत्यन्त सुन्दर अंगों से एक कन्या कीं रचना की और इसे पुत्र-प्राप्ति के लिए तपस्या में लीन विदर्भराज के महल में चुपचाप पहुँचा आए। (वनपर्व ९६.२१)

वहाँ इस शिशु के पहुँचते ही ऐसा प्रतीत हुआ कि राजभवन में मानो बिजली दमक उठी हो। राजा इस शुभ समाचार से अति प्रसन्न हुए। ब्राह्मणों ने इसका नाम लोपामुद्रा रखा—संभवतः इस कारण कि इसकी प्राप्ति लुप्त (गुप्त) रूप से हुई थी। राजकीय ढंग से इस कन्या का लालन-पालन होता रहा।

जब यह कन्या युवावस्था को प्राप्त हुई तो इसके सुशील व्यवहार से इसके माता-पिता तथा अन्य सभी स्वजन अति प्रसन्न और सन्तुष्ट रहते थे। पिता को इसके विवाह की चिन्ता हुई। दूर-पास के राजकुमार इससे विवाह करने को इच्छुक तो बहुत थे, पर अगस्त्य मुनि के भय से किसी ने इसका वरण नहीं किया (वनपर्व ९६.१९-३०)। एक दिन अगस्त्य मुनि ने विदर्भराज से इस युवती को विवाहार्थ माँगा। राजा अपनी कन्या का विवाह एक मुनि के साथ करना तो नहीं चाहते थे, पर इनके शाप के भय से इनकार भी न कर सके। लोपामुद्रा ने भी अपने माता-पिता को इस स्थिति से उबारने के लिए अपनी सहमति दे दी, और विवाह सम्पन्न हो गया (वनपर्व ९७.७)। विवाह के अनन्तर लोपामुद्रा ने पति के आदेश से बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों के स्थान पर वल्कल तथा मृगचर्म धारण कर लिया, और पति के समान ही व्रत एवं विभिन्न आचारों का पालन करने लगी, तथा उनके साथ गंगाद्वार (हरिद्वार) में जाकर उन्हीं के समान तपस्या में लीन हो गयी तथा अपने पति की सेवा में ही संलग्न हो गयी। (वनपर्व ९७.११)

दीर्घकाल के पश्चात् एक समय ऐसा भी आया कि एक बार जब लोपमुद्रा ऋतुस्नान से निवृत्त हुई तो मुनिवर ने समागम के लिए इसे अपने पास बुलाया। पर इसने कहा कि इन काषाय वस्त्रों में और इस पवित्र आश्रम में समागम उचित नहीं है। अत: इसने विदर्भराज के राजमहल के समान सुन्दर एवं भव्य भवन में रहते हुए तथा सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करते हुए समागम की इच्छा प्रकट की। पत्नी की इस इच्छापूर्ति के लिए मुनि ने धन-संग्रह के लिए प्रस्थान किया। (वनपर्व ९७.२५)

अगस्त्य मुनि इसके लिए पहले श्रुतर्वा नामक नरेश के पास गये। यह धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में से एक थे। अगस्त्य मुनि ने इस नरेश के पास अल्प सम्पत्ति देख इनसे कुछ नहीं लिया। इसके बाद वे श्रुतर्वा को साथ लेकर राजा ब्रध्नश्व के पास गये। पर वहां भी उक्त स्थिति देख इन्होंने उनसे भी कुछ नहीं लिया। इसके बाद दोनों नरेश मुनिवर को इक्ष्वाकु-वंशीय त्रसद्दस्यु नामक राजर्षि के पास ले गये। पर वहां भी वैसी ही स्थिति थी (९८.४, ९, १२-१६)। इसके बाद तीनों नरेश तथा अगस्त्य मुनि दुर्जेय मणिमती नगरी-निवासी अति धनाढय इल्वल नामक दैत्य के पास गये। इससे मुनिवर को विपुल धन-राशि प्राप्त हुई तथा सोने का बना रथ भी इन्हें दिया गया जिसमें दो घोड़े जुते हुए थे। (वनपर्व ९९.१६)

इस अपार धनराशि से अगस्त्य मुनि ने लोपामुद्रा की समस्त कामनाएँ पूर्ण कीं तथा एक भव्य भवन में उससे समागम किया। गर्भाधान के पश्चात् अगस्त्य मुनि तो वन में चले गए और उनका भावी पुत्र सात वर्ष तक माता के गर्भ में पलता रहा। सातवाँ वर्ष पूरा होने पर इसकी उत्पत्ति हुई। इसका नाम दृढस्यु रखा गया। इसका जन्म होने पर अगस्त्य के पितरों को उनके अभीष्ट लोक प्राप्त हो गये। यह बालक परम तेजस्वी एवं बुद्धिमान् था। समय आने पर वह सांगोपांग वेद का और उपनिषदों का पाठ करने लगा। (वनपर्व ९९.२५)

६. अब अगस्त्य मुनि के जन्म के सम्बन्ध में कुछ चर्चा—अगस्त्य मुनि का जन्म 'मित्रावरुणौ' (मित्र और वरुण) से माना जाता है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद ७.३३.१०-१३ में मिलता है।

बृहद्देवता (५.१४६ ख से १५५ तक) के अनुसार अगस्त्य आदि

ऋषियों की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है— देवी अदिति के बारह पुत्रों[१] में से मित्र और वरुण युगल भ्राता थे। एक बार इन्होंने एक यज्ञ में उर्वशी को देखा तो इनका रेतस् स्खलित होकर घट, भूमि और जल पर जा गिरा। घट से अगस्त्य की उत्पत्ति हुई, भूमि पर वसिष्ठ की, और जल से मत्स्य की। इस प्रकार का उल्लेख महाभारत (वनपर्व १०५.३) में भी मिलता है। अगस्त्य की उत्पत्ति घट से हुई अतः इन्हें कुम्भज, कुम्भयोनि, कुम्भोद्भव आदि कहा जाता है।[२]

बृहद्देवता में उक्त प्रसंग के अन्तर्गत कहा गया है कि अगस्त्य मुनि की ऊँचाई जन्म के समय एक शम्या (खूँटी) के बराबर थी,[३] अर्थात् वे छोटे कद के थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अगस्त्य की उत्पत्ति कुम्भ से हुई थी और कुम्भ का प्रयोग परिमाण अर्थात् मापने के लिए भी होता है, अतः अगस्त्य को 'मान्य' कहा जाता है।[४] और, इस प्रकार 'कुम्भ' शब्द [परवर्ती साहित्य में] परिमाण-विशेष का भी वाचक हो गया।[५]

उपर्युक्त मान्यताओं का मूल स्रोत निम्नोक्त ऋचाएं (ऋग्० ७.३३.१०- ११, १३) मानी जाती हैं—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त।।
(ऋग्० ७.३३.११)

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्।।
(ऋग्० ७.३३.१३)

---

१. भग, अर्यमा, अंश, मित्र, वरुण, धाता, विधाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु।

२. बहुधा पतिते शुक्रे कलशेऽथ जले स्थले।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः संभूत ऋषिसत्तमः।।
कुम्भे त्वगस्त्यः संभूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः। (बृहद्देवता ५.१५१-२ (क)

३. उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महायशाः।। १५२ (ख)

४. मानेन संमितो यस्मात् तस्मान्मान्य इहोच्यते।
यद्वा कुम्भाद् ऋषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते।। १५३

५. कुम्भ इत्यभिधानं तु परिमाणस्य लक्ष्यते।

इन दोनों मन्त्रों के सम्बन्ध में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की टिप्पणी उल्लेख्य है। वररुचि के एक कथन के आधार स्वामी जी उर्वशी से तात्पर्य 'विद्युत्' लेते हुए कहते हैं कि मित्र और वरुण से अभिप्रेत है क्रमशः आक्सीजन और हाइड्रोजन। इनके नियत अनुपात से जल बनता है, और उर्वशी (विद्युत्) का दर्शन होने पर— इसके चमकने पर— मित्र और वरुण का रेतस् (जल) तुरन्त गिर पड़ता है। वस्तुतः मित्र और वरुण ने जिसे देखा था वह विद्युत् ही थी—

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।

(ऋग्० ७.३३.१०-क)

जिसे अगले मन्त्र (७.३३.११) में रूपक अलंकार के रूप में उर्वशी कह दिया गया।

७. अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान— कहते हैं कि एक बार देवों का युद्ध 'कालेय' नामक राक्षसवर्ग से होने लगा जोकि तीनों लोकों को कष्ट देते थे। पर युद्ध के भय से ये राक्षस समुद्र में छिप गये। अगस्त्य मुनि इस युद्ध में देवराज इन्द्र तथा उसके सहयोगी देवों की सहायता करना चाहते थे। उक्त राक्षस-वर्ग के समुद्र में छिपे होने के कारण अगस्त्य मुनि समुद्र से रुष्ट हो गये। अतः इन्होंने समुद्र का सारा जल पी लिया। इसी कारण इन्हें 'पीताब्धि', 'समुद्रचुलुक' आदि कहा जाता है।

अगस्त्य द्वारा समुद्रपान का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। उदाहरणार्थ, महाभारत का यह स्थल लीजिए—

पीतः समुद्रोऽगस्त्येन अगाधो ब्रह्मतेजसा।

(महाभारत, आदिपर्व १९०,१५)

महाभारत में यही प्रसंग वनपर्व १०३.११ तथा १०५.३,६ में भी वर्णित है।

८. एक उल्लेख के अनुसार अगस्त्य मुनि विन्ध्य के दक्षिण में कुंजर पर्वत पर एक तपोवन में रहते थे। यहीं से इन्हों ने दक्षिण में रहने वाले सभी राक्षसों को नियन्त्रण में कर रखा था।

९. एक उपाख्यान के अनुसार 'वातापि' नामक राक्षस ने मेंढे का रूप धारण कर लिया था और अगस्त्य ने उसे खा लिया था। वातापि का भाई अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने गया तो अगस्त्य मुनि ने उसे अपनी तेजस्वी दृष्टि से भस्म कर दिया।

१०. एक आख्यान के अनुसार विन्ध्य पर्वत को मेरु पर्वत से ईर्ष्या हुई। कारण यह कि मेरु के चारों ओर सभी ग्रह घूमते हैं, पर विन्ध्यपर्वत के चारों ओर कोई ग्रह नहीं घूमता। अतः इसने सूर्य से प्रार्थना की कि जिस प्रकार वह मेरु के चारों ओर घूमता है, उसी प्रकार वह इसके भी चारों ओर घूमे। पर सूर्य ने उसकी इस प्रार्थना को ठुकरा दिया। परिणामतः, विन्ध्यपर्वत ने ऊपर उठना प्रारम्भ कर दिया जिससे कि सूर्य और चन्द्रमा का मार्ग रोका जा सके। इससे देवताओं में आतंक छा गया और उन्होंने अगस्त्य मुनि से सहायता माँगी। अगस्त्य विन्ध्यपर्वत के पास गये और उससे निवेदन किया कि ज़रा नीचे झुक जाओ जिससे मुझे दक्षिण में जाने का मार्ग मिले। साथ ही यह भी कहा कि जब तक मैं वापस न आऊँ, इसी प्रकार झुके रहो। विन्ध्यपर्वत ने इनकी बात मान ली। परन्तु अगस्त्य दक्षिण से वापस न लौटे और विन्ध्य को मेरु जैसी उत्तुंगता न मिल सकी। उल्लेख्य है कि 'अगस्त्य' शब्द की व्युत्पत्ति इस आख्यान पर भी की जाती है—

अगं विन्ध्याचलं स्त्यायति स्तभ्नाति इति अगस्त्यः।

अर्थात् जिसने विन्ध्य पर्वत को जकड़ रखा है, वह अगस्त्य है।

११. राम, लक्ष्मण और सीता वनवास के समय अगस्त्य मुनि के आश्रम में भी गये थे। वहाँ इन्हों ने उनका बहुत आदर-सत्कार किया तथा वे राम के मित्र, सलाहकार और रक्षक बने रहे। स्कन्दपुराण (काशीखण्ड, पू०, अ० ४) के अनुसार उन्हीं दिनों एक बार देवगण महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पधारे। महर्षि ने उनका विधिवत् पूजन किया। तत्पश्चात् बृहस्पति ने देवताओं की ओर से महर्षि का अभिनन्दन करते हुए उनकी पत्नी लोपामुद्रा के सम्बन्ध में जो उद्गार प्रकट किये, वे भारतीय नारी का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं—"वह सद्गृहस्था और गृह-कार्यकुशल है; पतिव्रता है; पति की हर दृष्टि से भरपूर सेवा करने वाली है; उसकी हितैषिणी और आज्ञाकारिणी है; उसके हर्ष में हर्षित और विषाद में दुःखी होती है; सम्पत्ति और विपत्ति में उसका साथ देती है; किसी भी स्थिति में उसका साथ नहीं छोड़ती; सदा उनका अनुसरण करती है, ऐसे,

जैसे छाया शरीर का, चाँदनी चन्द्रमा का, विद्युत् मेघ का अनुसरण करती है।''

इतना ही नहीं, इसी पुराण में इसी स्थल पर पति के मरणानन्तर पत्नी के सती हो जाने का भी संकेत है कि लोपामुद्रा जैसी सती नारी यमदूतों के चंगुल में पड़े हुए पति का बलपूर्वक उद्धार करके उसे स्वर्गलोक में पहुँचाती है। ऐसी नारी के सम्बन्ध में अन्त में कहा गया है कि जैसे गंगा में स्नान करने से शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रता की शुभ दृष्टि पड़ने से भी शरीर परम पवित्र हो जाता है—

यथा गङ्गावगाहेन शरीरं पावनं भवेत्।
तथा पतिव्रता-दृष्ट्या शुभया पावनं भवेत्।।
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, ४.७०)

१२. इधर आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द ने इस सूक्त का देवता (विषय) तो लोपामुद्रा और अगस्त्य को माना है, पर चौथे मन्त्र में प्रयुक्त 'लोपामुद्रा' शब्द से आशय लिया है—'**लोप एव आमुद्रा समन्तात् प्रत्ययकारिणी यस्याः साः**', अर्थात् 'ऐसी नारी—लोप हो जाना, लुक (छिप) जाना ही प्रतीत [होने] का चिह्न है जिसका।' लोपामुद्रा शब्द के इस विग्रह से संभवतः उनका आशय है कि कामातुरा भी पत्नी लज्जाशीला होती है।

'अगस्त्य' शब्द से स्वामी जी को अभीष्ट है—धर्मपरायण साधु, विज्ञान-निपुण, विद्वज्जन, व्यवहार-निपुण आदि।[1] कुल मिलाकर इस सूक्त से स्वामी जी को यह कहना अभीष्ट है कि नारी ऐसे युवा से विवाह करे जो ब्रह्मचारी, अध्ययनशील तथा सत्यवादी हो, तथा विवाहोपरान्त भी सन्तति की उत्पत्ति की इच्छा से ही समागम करे, अन्यथा ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करे, जिससे वह सांसारिक आपदाओं एवं कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सके। पत्नी पति की सेवा में तथा गृह-सम्बन्धी अन्य कार्यों में व्यापृत रहती हुई गृहस्थ धर्म का पालन करे।

---

१. ये धर्मादन्यत्र न गच्छन्ति तेऽगस्तयस्तेषु साधु इति अगस्त्यः। अगस्तौ विज्ञाने साधुः विद्वज्जनः। अगस्तिषु ज्ञातव्येषु व्यवहारेषु साधूनि कर्माणि यस्य सः। (ऋग्वेद-भाष्य)

डॉ० रामनाथ वेदालंकार के अनुसार आधिदैवत दृष्टि से अगस्त्य सूर्य है और लोपामुद्रा पृथ्वी। कुछ समय बीतने पर ग्रीष्म ऋतु में प्यासी पृथ्वी सूर्य से रति का प्रस्ताव करती है और सूर्य मेघवर्षण द्वारा उसकी इच्छा पूरी करता है जिससे वनस्पति-रूपी सन्तान होती है। अध्यात्म दृष्टि से अगस्त्य= मानव-मन; लोपामुद्रा= मानव-शरीर। मन द्वारा शरीर की उपेक्षा करने पर शरीर मन का संयोग चाहता है। इनके मिलन (समन्वय) का सुफल होता है आह्लाद। अगस्त्य और लोपमुद्रा से अभिप्राय क्रमशः परमेश्वर और प्रकृति भी ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त अगस्त्य = एक चमकता तारा, तथा लोपमुद्रा = दक्षिण दिशा —ये अभिप्राय भी लिये जाते हैं। (वेदों की वर्णनशैलियां, पृ० १५१)

४. विश्वामित्र-विपाट्-शुतुद्री-संवाद

(ऋग्वेद ३.३३)

ऋग्वेदस्य तृतीय-मण्डलस्य त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

त्रयोदशर्चस्यास्य सूक्तस्य प्रथमादितृचस्य पञ्चमी-सप्तमी-नवम्यृचामेकदश्यादि-तृचस्य च गाथिनो विश्वामित्र ऋषिः, चतुर्थी-षष्ठ्यष्टमी-दशमीनाञ्च नद्य ऋषिकाः। प्रथमादि-तृचस्य पञ्चमी-नवम्योर्ऋचोरेकादश्यादितृचस्य च नद्यः, चतुर्थ्यष्टमी-दशमीनां विश्वामित्रः, षष्ठी-सप्तम्योश्चेन्द्रो देवताः। प्रथमादि-द्वादशर्चां त्रिष्टुप्, त्रयोदश्याश्चानुष्टुप् छन्दसी।

ऋग्वेद के तीसरे मण्डल का यह ३३वाँ सूक्त है। इस सूक्त में १३ मन्त्र हैं। इनमें संख्या १-३, ५, ७, ९, ११-१३ मन्त्रों का ऋषि विश्वामित्र है। संख्या ४, ६, ८, १० मन्त्रों की ऋषिकाएँ नदियाँ हैं। इस सूक्त के संख्या १-३, ५, ९, ११-१३ मन्त्रों के देवता नदियाँ हैं। संख्या ४, ८, १० मन्त्रों का देवता विश्वामित्र है, तथा संख्या ६, ७ मन्त्रों का देवता इन्द्र है। इन १३ मन्त्रों में से पहले १२ मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में तथा १३वाँ मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में रचित है।

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।१।।

प्र। पर्वतानाम्। उशती इति। उपऽस्थात्।
अश्वे इवेत्यश्वेऽइव। विसिते इति विऽसिते। हासमाने इति।
गावाऽइव। शुभ्रे इति। मातरा। रिहाणे इति।
विऽपाट्। शुतुद्री। पयसा। जवेते इति।।

अन्वयः— विपाट् शुतुद्री विषिते हासमाने अश्वे इव शुभ्रे रिहाणे मातरा गावा इव पर्वतानाम् उपस्थाद् उशती पयसा प्रजवेते।

विशिष्ट-पदानि— विपाट् = विपाशा-नामधेया नदी कूलविपाटनात्, विपाशनाद्, विमोचनाद् वा। शुतुद्री = एतन्नामधेया नदी, शु-द्राविणी = शु = क्षिप्रम्, आशु; तु = तुन्ना = तुन्नेव = प्रहता इव द्रवति = गच्छति इति शुतुद्री; उशती = उशत्यौ, कामयमाने। विषिते = विमुक्ते। हासमाने = स्पर्धमाने, ह्रेषमाणे वा। रिहाणे = लिहन्त्यौ, लेढुम् इच्छन्त्यौ इत्याशयः।

विश्वामित्रो द्वे नद्यौ प्रति वदति— विपाट् शुतुद्री च एतन्नामधेये द्वे नद्यौ गिरीणाम् उत्सङ्गात् निर्गत्य [समुद्रगमनं] कामयमाने जलेन संयुक्ते वेगेन गच्छन्त्यौ स्तः। [गमने दृष्टान्तः—] यथा द्वे वडवे [वल्गायाः, मन्दुरातो वा] विमुक्ते [अन्योन्य-जवेन] स्पर्धमाने ह्रष्यन्त्यौ वा त्वरया गच्छन्त्यौ भवतः। [यथा] वा द्वे श्वेतवर्णे मातरौ गावौ [स्व-स्व-वत्सं जिह्वया] लिहन्त्यौ लेढुम् इच्छन्त्यौ, पयसा, क्षीरं प्रवहन्त्यौ इति यावत्, धावतः[१] ।।१।।

विश्वामित्र कहते हैं– विपाट् और शुतुद्री नामक नदियाँ पर्वत की गोद से निकलकर [समुद्र की ओर जाने की] इच्छा रखती हुई, जल से भरी हुई, वेग से भागी जा रही हैं। ऐसे– जैसे, दो अश्वाएँ [वल्गा अथवा घुड़साल से] छूटकर [वेग से भागने में एक-दूसरे की] स्पर्धा करती हुई अथवा हिनहिनाती हुई भागी चली जाती हैं, अथवा जैसे दो श्वेतवर्णी प्रसूता गौएँ [अपने-अपने बछड़ों को जिह्वा से] चाटने की इच्छा से भागी चली जाती हैं।।१।।

Viśvāmitra says, "The two rivers namely Vipāṭ and Śutudrī rushing from the bosom of the mountain, eager [to reach the sea] flow swiftly filled with water. They do so as the two mares with loosened reins, [or turned out from the stable], run fast neighing, or as two white-coloured mother-cows [hasten] to lick [their calves]." (1)

---

१. अत्र निरुक्तम्— पर्वतानाम् उपस्थाद् उपस्थानाद् उशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषण्णे इति वा हासमाने हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणे वा गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा प्रजवेते। (निरुक्त ९.३९)

इन्द्रैषिते प्रसुवं भिक्षमाणे अच्छां समुद्रं रथ्यैव याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे।।२।।

इन्द्रैषिते इतीन्द्रऽइषिते। प्रऽसवम्। भिक्षमाणे इति।
अच्छं। समुद्रम्। रथ्याऽइव। याथः।
समाराणे इति सम्ऽआराणे। ऊर्मिऽभिः। पिन्वमाने इति।
अन्या। वाम्। अन्याम्। अपि। एति। शुभ्रे इति।।

अन्वयः— इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे समाराणे, ऊर्मिभिः पिन्वमाने शुभ्रे समुद्रम् अच्छ याथः रथ्या इव। वाम् अन्या अन्याम् अप्येति।

विशिष्ट-पदानि— इन्द्रेषिते = इन्द्रेण प्रेषिते। प्रसवम् = अनुज्ञाम्। भिक्षमाणे = प्रार्थयमाने। अच्छ = अभि, प्रति आभिमुख्येन। समाराणे = परस्परं संगच्छन्त्यौ। पिन्वमाने = उत्फुल्लिते, संतर्पयन्त्यौ, सिञ्चन्त्यौ वा (√पिवि सेचने)। अप्येति अपिगच्छति।

विश्वामित्रो वदति [हे नद्यौ! युवाम्] इन्द्रेण प्रेषिते, [अग्रेसरे भवितुं तस्य] अनुज्ञां प्रार्थयमाने, परस्परं संगच्छन्त्यौ [स्व-स्व-] तरङ्गैः उल्लोलिते उत्फुल्लिते वा इति यावत्, यद्वा [परिसर-प्रदेशं] संतपर्यन्त्यौ, सिञ्चन्त्यौ वा, शोभमाने, समुद्रम् आभिुख्येन गच्छथः, यथा रथिनौ [लक्ष्यं देशम् अभिगच्छतः तद्वत्।] युवयोर्मध्ये काप्येका अपराम् अपिगच्छति, लङ्घयति इत्याशयः।।२।।

विश्वामित्र कहते हैं—हे नदियो! तुम दोनों इन्द्र से प्रेषित (अथवा प्रेरित) तथा [आगे बढ़ने के लिए] उसकी अनुमति माँगती हुई, एक-दूसरे के साथ मिल-जुल कर, अपनी-अपनी तरंगों से उत्फुल्लित होकर, अथवा [परिसर-प्रदेशों को] सींचती हुई, शोभायमान होकर समुद्र की ओर ऐसे चली जा रही हो जैसे दो रथी [अपने गन्तव्य देश को] चले जा रहे हों। [जाते समय] तुम दोनों में से कोई एक दूसरी को—कभी कोई और कभी कोई लाँघती चली जा रही है।।२।।

Viśvāmitra says, [Oh rivers! both of you] impelled by Indra, whom you prayed to command you [to proceed,]

flowing together, swelling with your billows, or watering the neighbouring lands, bright ones, you are going to the ocean like the charioteers [to their goal]. While going, either of you preceeds to the other. (2)

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्ती।।३।।

अच्छ। सिन्धुम्। मातृऽतमाम्। अयासम्।
विऽपाशम्। उर्वीम्। सुऽभगाम्। अगन्म।
वत्सम्ऽइव। मातरा। संरिहाणे इति सम्ऽरिहाणे।
समानम्। योनिम्। अनु। संचरन्ती इति सम्ऽचरन्ती।।

अन्वयः— मातृतमां सिन्धुम् अच्छ अयासम्। यद्वा मातृतमां सिन्धुं (स्रवन्तीं शुतुद्रीं त्वाम्) अयासम्। उर्वीं सुभगां विपाशम् अगन्म। समानं योनिम् अनुसंचरन्ती वत्सं संरिहाणे मातरा इव।

विशिष्ट-पदानि— मातृतमाम् = मातृषु प्रशस्ताम्। अच्छ = आभिमुख्येन। अयासम् = प्राप्तोऽभूवम्। अगन्म वयं प्राप्ताः स्म। योनिम् = गृहम्। संरिहाणे = [जिह्वया] लेढुम् इच्छन्त्यौ।

विश्वामित्रो वदति [हे नद्यौ!] अहम् मातृषु प्रशस्ताम्। [नदीनां] मूलस्रोत इति यावत् सिन्धुम् आभिमुख्येन प्राप्तोऽभूवम्। यद् वा अहं मूलस्रोतः सिन्धुं [स्रवन्तीं शुतुद्रीं त्वाम्] आभिमुख्येन प्राप्तोऽभूवम्। विस्तीर्णां सौभाग्यवतीं कल्याणीम् इत्याशयः विपाशं [च त्वां] वयं प्राप्ताः स्म। [द्वे नद्यौ] एकं स्थानं समुद्रमित्यर्थः अभिलक्ष्य सम्यक् चरन्त्यौ यथा [स्व-स्व-] वत्सं [जिह्वया] लेढुम् इच्छन्त्यौ मातरौ गावौ स्वगृहं प्रति धावतः।।३।।

विश्वामित्र कहते हैं— [हे दोनों नदियो!] मैं मूल स्रोत सिंधु पर गया, अथवा मैं मूल स्रोत सिन्धु की ओर बही जाती हुई तुझ शुतुद्री (सतलुज) नदी पर गया, तथा विस्तीर्ण और कल्याण-प्रदात्री [तुझ] विपाशा (ब्यास) नदी पर भी गया। ये दोनों नदियाँ अपने एक-स्थान (समुद्र) को लक्ष्य करके

ऐसे उमड़ी चली जा रही हैं, जैसे दो माता-गौएँ [अपने-अपने] बछड़ों को अपनी जिह्वाओं से चाटने के लिए घर की ओर भागी चली जाती हैं।।३।।

Viśvāmitra says, "I have come to the ocean—the main source of the rivers, or I have come to [the river Śutudrī which is flowing towards] the ocean—the main source of the rivers. We (I myself and my companions) have reached the river Vipāśa also—the broad and the auspicious. The two rivers are going towards their common home, that is, ocean, as the pair of mother-cows run to their common home together to lick their [individual] calves. (3)

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति।।४।।

एना। वयम्। पयसा। पिन्वमानाः। अनु। योनिम्। देवऽकृतम्। चरन्तीः।
न। वर्तवे। प्रऽसवः। सर्गऽतक्तः। किम्ऽयुः। विप्रः। नद्यः। जोहवीति।।

अन्वयः— वयम् एना पयसा पिन्वमानाः देवकृतं योनिम् अनुचरन्तीः। सर्गतक्तः प्रसवः न वर्तवे। किंयुः विप्रः नद्यः जोहवीति।

विशिष्ट-पदानि— एना = अनेन। पिन्वमानाः = संतर्पयन्त्यः, सिञ्चन्त्यः उल्लोलिता वा। देव-कृतं = देवेन इन्द्रेण कृतं सन्दिष्टम्। सर्गतक्तः = सर्गे गमने तक्तः प्रवृत्तः। प्रसवः = प्रवर्तनम्, उद्योगः। किंयुः = किम् इच्छन्। जोहवीति = भृशम् आह्वयति।

नद्यौ विश्वामित्रं प्रति वदतः— वयम् (आवाम् इत्याशयः, बहुवचनं पूजार्थम्) अनेन जलेन [परिसर-प्रदेशं] संतर्पन्त्यः सिञ्चन्त्यः वा, यद्वा जलेन उल्लोलिताः, देवेन (इन्द्रेण) सन्दिष्टं नियतमिति यावत् स्थानं सिन्धुमित्याशयः गच्छन्त्यः आस्महे। न च अस्माकं गमने प्रवृत्तः उद्योगः निवर्तनाय [वयन्तु अग्र एव प्रसरिष्यामः]। ब्राह्मणः [विश्वामित्रः] किम् इच्छन् नदीः [अस्मान्] भृशम् आह्वयति।।४।।

दोनों नदियाँ विश्वामित्र को कहती हैं— हम इस जल से [परिसर प्रदेशों को] सींचती हुई अथवा जल से उमड़ती हुई देव (इन्द्र) द्वारा (नियत) किये गये स्थान अर्थात् समुद्र की ओर जा रही हैं। हमारा यह गमनोद्योग लौटने के लिए नहीं है। ब्राह्मण (विश्वामित्र) क्या अभिलाषा करते हुए बार-बार हमारा आह्वान करते हैं।।४।।

Both the rivers say to Viśvāmitra, "We both of us, watering the neighbouring lands or swelling with our fertilizing billows, are flowing to the home the deity (Indra) has made (fixed or appointed) for us. We are moving forward not to return [inspite of your beseeching to make us fordable.] The sage (Viśvāmitra), what desiring, is calling us again and again. (4)

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्रसिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।।५।।

रमध्वम्। मे। वचसे। सोम्याय। ऋतऽवरीः। उप। मुहूर्तम्। एवैः।
प्र। सिन्धुम्। अच्छ। बृहती। मनीषा। अवस्युः। अह्वे। कुशिकस्य। सूनुः।।

अन्वयः— ऋतावरीः मे सोम्याय वचसे मुहूर्तम् एवैः उपरमध्वम्। कुशिकस्य सूनुः अवस्युः बृहती मनीषा सिन्धुम् अच्छ प्राह्वे।।

विशिष्ट-पदानि— ऋतावरीः = ऋतावर्यः, ऋतम् जलम्, तद्वत्यः, जलवत्यः। सौम्याय = सोम-सम्पादिने। वचसे = वचनाय। एवैः = अयनेभ्यः, गमनेभ्यः (पञ्चम्यर्थे तृतीया)। अवस्युः = अवः रक्षणम् इच्छन्। बृहती = बृहत्या, महत्या। मनीषा = मनीषया, बुद्ध्या प्रार्थनया इति यावत्। प्र अह्वे = प्रकर्षेणाह्वयामि।

विश्वामित्रो वदति— हे जलवत्यः [नद्यः!] यूयं मम सोम-सम्पादिने वचनाय [शीघ्रं] गमनेभ्यः क्षणमात्रं उपरताः भवत। [उत्तीर्य सोमं सम्पादयामि।] अहं कुशिक-नाम्नः राज्ञः पुत्रो विश्वामित्र आत्मनो रक्षणम् इच्छन्, महत्या प्रार्थनया युक्तः, स्यन्दमानां [द्वयोः पूर्वं वर्तिनीं शुतुद्रीं त्वाम्] आभिमुख्येन प्रकर्षेण आह्वयामि।। ५।।

विश्वामित्र कहते हैं—हे जल से भरी हुई नदियो! तुम दोनों मेरे सोम-सम्पादक वचन के लिए [शीघ्र] जाने से क्षणभर के लिए रुक जाओ— नदियाँ पार कर मैं सोम का सम्पादन करने— इसे तैयार करने— जा रहा हूँ। कुशिक नामक राजा का पुत्र मैं विश्वामित्र अपनी रक्षा चाहता हुआ [तुम दोनों में से पहले] आगे आयी हुई [तुझ शुतुद्री] नदी का मैं महती प्रार्थना के द्वारा आह्वान करता हूँ।। ५।।

Viśvāmitra says, "Oh rivers, filled with waters! rest a moment from your [speedy] course at my request who [having crossed over] is going to gather the Soma [plant][1]. I, the son of Kushika, desirous of protection, address with earnest prayer [specially] to the river before me, the Śutudrī."

(5)

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः।।६।।

इन्द्रः। अस्मान्। अरदत्। वज्रऽबाहुः। अप। अहन्। वृत्रम्। परिऽधिम्। नदीनाम्।
देवः। अनयत्। सविता। सुऽपाणिः। तस्य। वयम्। प्रऽसवे। यामः। उर्वीः।।

अन्वयः— वज्रबाहुः इन्द्रः नदीनां परिधिं वृत्रम् अपाहन्। अस्मान् अरदद्। देवः सविता सुपाणिः अनयत्। ऊर्वीः वयं तस्य प्रसवे यामः।

विशिष्ट-पदानि— अरदद् = अखनत्। वृत्रम् = वृणोति आकायताम् इति वृत्रो मेघः तम्। अपाहन् = जघान। उर्वीः = प्रभूताः। प्रसवे = अभ्यनुज्ञायाम्।

नद्योऽवदन्— [हे विश्वामित्र!] वज्रबाहुः इन्द्रः नदीनां (जलानाम्) अवरोधकं वृत्रं (मेघम् इति यावत्) जघान। [तस्मिन् हते जलानि पतितानि, तदा स] अस्मान् अखनत्। तैः गच्छद्भिः जलैः वयं खाताः इत्याशयः। तथा

---

1. 'मे वचसे सोम्याय' (*'me vacase somyāya'*) literaly means for my speech importing the *soma* plant.

च, असौ देवः (द्युतिमान् वा) सर्वस्य जगतः प्रेरकः शोभन-हस्तश्च (इन्द्रः) यद्वा शोभन-हस्तः (शोभन-किरण इत्यर्थः) सविता देवः अस्मान् अनयत्। [उदकैः] प्रभूताः वयं तस्य (इन्द्रस्य) अभ्यनुज्ञायां वर्तमानाः गच्छामः। [अतः हे विश्वामित्र! वयं न तव वचनाद् उपरमामहे।]।। ६।।

नदियाँ बोलीं—[हे विश्वामित्र!] वज्रबाहु इन्द्र ने नदियों के [जलों के] अवरोधक वृत्र (मेघ) को मार डाला। [उसके मारे जाने पर जल उमड़ पड़े, और तभी उसने] हमें खोद डाला (ज्यों-ज्यों जल आगे बढ़ता गया इन्द्र हमें खोदता चला गया)। फिर वह द्युतिमान्, सकल जगत् का प्रेरक, शोभन हाथों वाला इन्द्र हमें ले आया। अथवा शोभन हाथों (किरणों) वाला सविता देवता हमें ले आया। [जलों से] विस्तीर्ण और परिपूर्ण हम उस (इन्द्र) की आज्ञा में बँधी हुई चली जा रही हैं। [अतः हे विश्वामित्र! तेरे कहने पर हम विराम नहीं करेंगी।]।। ६।।

The rivers speak, "[Oh Viśvāmitra!] The wielder of the thunder-bolt Indra dug our channels after he smote down Vṛtra—the blocker-up of rivers.[1] The divine, the impeller or animator of the world and lonely handed (rather well-handed) Indra has led us [on our path,] and obedient to his commands we flow expanded." (6)

प्र॒वाच्यं॑ शश्व॒धा वी॒र्यं१॒॑ तदिन्द्र॑स्य॒ कर्म॒ यदहिं॑ विवृ॒श्चत्।
वि वज्रे॑ण परि॒षदो॑ जघा॒नाय॒न्नापोऽय॑नमि॒च्छमा॑नाः।।७।।

प्र॒ऽवाच्य॑म्। शश्व॒धा। वी॒र्य॑म्। तत्। इन्द्र॑स्य। कर्म॑। यत्। अहि॑म्। वि॒ऽवृ॒श्चत्।
वि। वज्रे॑ण। प॒रि॒ऽसद॑ः। ज॒घा॒न॒। आय॑न्। आप॑ः। अय॑नम्। इ॒च्छमा॑नाः।।

अन्वयः— यद् अहिम् विवृश्चत्, इन्द्रस्य तद्वीर्यं कर्म शश्वधा प्रवाच्यम्। वज्रेण परिषदः विजघान। अयनम् इच्छमानाः आपः आयन्।

---

1. The cloud imprisoning the water of rains.

विशिष्ट-पदानि— अहिम् मेघम्। विवृश्चत् = अकृन्तत्। शश्वधा = शश्वद्धा (धा प्रत्ययः छान्दसः) = सर्वदा। आयन् = अगच्छन्।

विश्वामित्रो वदति— [इन्द्रो] मेघम् [उदक-प्रेरणार्थम्] अकृन्तत्। तस्य यत् एतत् छेदन-रूपं कर्म तत् सर्वदा प्रकर्षेण वचनीयं श्लाघ्यम् इत्यर्थः। (असौ च) अहेः परिषदः (असुरान्) वज्रेण हतवान्— मेघ-वर्षणे अवरोधान् अपाकरोद् इत्याशयः। [परिणामतः,] जलानि अभीष्टमार्गम् (समुद्रम्) अगच्छन्।।७।।

विश्वामित्र कहते हैं—इन्द्र ने जल को प्रेरित करने के लिए वृत्र अर्थात् मेघ को काटा तो यह उसका कर्तन-छेदन-रूप शौर्यपूर्ण कर्म सर्वदा श्लाघ्य है। [इन्द्र ने] अपने जल से [वृत्र के] परिषदों अर्थात् असुरों को [भी] मार डाला—मेघ द्वारा वृष्टि में अवरोधक तत्त्वों को विनष्ट कर डाला। [परिणामतः, जल अपने अभीष्ट स्थान समुद्र की कामना करते हुए वहाँ तक पहुँच गया]।। ७।।

Viśvāmitra speaks, "Indra's heroic deed must be lauded for ever that he cut Ahi (the cloud) into pieces, and also with his thunder-bolt, he smote away the surrounding obstructions of Ahi (the cloud), [and then] the waters flowed down towards their desired course, that is, the ocean." (7)

एतद्वचो॑ जरितर्मापि॑ मृष्ठा॒ आ यत्ते॒ घोषा॒नुत्त॑रा यु॒गानि॑।
उ॒क्थेषु॑ कारो॒ प्रति॑ नो जुषस्व॒ मा नो॒ नि कः॑ पुरुष॒त्रा नम॑स्ते।।८।।

एतद्। वचः॑। ज॒रि॒तः॒। मा। अपि॑। मृ॒ष्ठाः॒।
आ। यत्। ते॒। घोषा॑न्। उद्ऽत॑रा। यु॒गानि॑।
उ॒क्थेषु॑। का॒रो॒ इति॑। प्रति॑। नः॒। जु॒ष॒स्व॒। मा।
नः॒। नि। क॒रिति॑ कः। पु॒रु॒ष॒ऽत्रा। नमः॑। ते॒।।

अन्वयः— जरितः एतद् वचः मा अपिमृष्ठाः, यत् ते उत्तरा युगानि आघोषान्। कारो! उक्थेषु नः प्रतिजुषस्व। नः पुरुषत्रा नि मा कः। ते नमः।

विशिष्ट-पदानि— जरितः = हे स्तोतः! अपिमृष्ठा = विस्मार्षीः निराकुरु। आघोषान् = आघोषयन्ति। कारो = हे कर्तः! उक्थेषु = मन्त्रेषु। प्रतिजुषस्व = प्रतिसेवस्व। पुरुषत्रा = पुरुषेषु। नि = निम्नान् हीनान् वा। कः = कार्षीः, कुरु।

नद्यौ वदतः— हे [इन्द्रस्य] स्तोतः विश्वामित्र! [अस्मासु मध्ये यद्] एतद् [संवादात्मकं] वचः [सुघटितम्, तत् त्वं] मा विस्मार्षीः निराकुरु वा, [यतः] उत्तरेषु युगेषु (आगमिष्यति काले इत्यर्थः) [मनुष्याः] एतद्वचः आघोषयिष्यन्ति वदिष्यन्ति इत्याशयः। हे [मन्त्राणां] कर्तः! त्वम् स्व-प्रतिपादितेषु स्तोत्रेषु अस्मान् प्रतिसेवस्व प्रतिपादयस्व इत्यर्थः। अस्मान् पुरुषेषु निम्नान् हीनान् वा मा कुरु। आवामपि तान् इव वर्णय ऋचासु इत्याशयः। तुभ्यं नमोऽस्तु!।।८।।

नदियाँ कहती हैं— हे [इन्द्र] के स्तुतिकारक विश्वामित्र! हमारे बीच घटित यह संवादात्मक वचन तुम्हें भूल नहीं जाने चाहिएँ, क्योंकि आगामी युगों में [मनुष्य] इन्हीं वचनों को प्रतिध्वनित करेंगे — इनकी आवृत्ति करेंगे। हे [मन्त्रों के] कर्ता विश्वामित्र। तुम [स्व-प्रतिपादित ऋचाओं में] हमें [सम्यग् रूप से] प्रतिपादित करना। हमें, मानवों के बीच अथवा उनकी तुलना में, हीन मत समझना। आशय यह कि ऋचाओं में हमारा वर्णन भी उन्हीं के समान करना। तुम्हें नमस्कार हो।।८।।

The rivers speak, "Oh praiser [of Indra]! never forget this word of yours [addressed to us] which future generations will re-echo. Oh celebrator [of hymns]! be favourable to us in your hymns. Kindly do not humble us amidst the men, that is, treat us alike them in your hymns. Salutation be to thee." (8)

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः।।९।।

ओ इति। सु। स्वसारः। कारवे। शृणोत। ययौ। वः। दूरात्। अनसा। रथेन।
नि। सु। नमध्वम्। भवत। सुऽपाराः। अधःऽअक्षाः। सिन्धवः। स्रोत्याभिः।।

अन्वयः— ओ स्वसारः सिन्धवः कारवे सुशृणोत। अनसा रथेन वः दूराद् ययौ। सु निनमध्वम्। सुपाराः भवत। स्रोत्याभिः अधो अक्षाः।

विशिष्ट-पदानि— कारवे = स्तोत्राणां कर्त्रे। अनसा = शकटेन। निनमध्वम् = स्वल्पजलाः भवत। स्रोत्याभिः = स्रवणशीलाभिः।

विश्वामित्रो वदति— हे भगिन्यः नद्यः! [स्तोत्राणां] कर्त्रे [मह्यं] सुष्ठु शृणुत। अहम् शकटेन रथेन [च] दूराद् युष्मान् प्राप्तोऽस्मि। यूयं सम्यग्-रूपेण गाधाः, स्वल्पजलाः [मया सुखेन] तरणीया भवत। [यूयं] स्रवणशीलैः [जलैः रथाङ्गस्य] अक्षस्य अधस्ताद् भवत [येन रथादीनि पारयितुं लंघितुं शक्नुयुः]।।९।।

विश्वामित्र कहता है—हे बहिनो नदियो! तुम्हारी स्तुति करने वाले [मुझ विश्वामित्र के वचन] को अच्छी प्रकार से, ध्यानपूर्वक, सुनो। मैं तुम्हारे पास भारवाहक गाड़ी और रथ लेकर आया हूँ। तुम नीचे झुक जाओ (अपना जल-प्रवहण—जल का वेग कम कर दो), जिससे कि मैं [सुख-पूर्वक] तुम्हें पार कर जाऊँ। रथ के धुरे के नीचे ही तुम्हारा जल बहे, जिससे कि तुम्हारा जल लाँघ जाने में रथ को कठिनाई न हो।।९।।

Viśvāmitra speaks, "Oh sister streams! kindly listen [to me] attentively who praises [you.] I have come to you from far away with a waggon[1] and chariot. Bow lowly down. Become easily fordable. Remain lower than the axle [of the wheel] with your currents." (9)

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते।।१०।।

आ। ते। कारो इति। शृणवाम। वचांसि। ययाथ। दूरात्। अनसा। रथेन।
नि। ते नंसै। पीप्यानाऽइव। योषा। मर्यायऽइव। कन्या। शश्वचै। ते इति ते।।

अन्वयः— कारो! ते वचांसि आशृणवाम। अनसा रथेन दूराद् ययाथ। पीप्याना योषा इव ते, कन्या मर्याय इव ते शश्वचै नि नंसे ।

1. A waggon or cart or truck for the conveyance of the Soma plant. (Wilson).

विशिष्ट-पदानि:— कारो = कर्तः। अनसा = शकटेन। पीप्याना = पाययन्ती। मर्याय = पुरुषाय। शश्वचै-परिश्वजनाय, आलिङ्गनाय वा। नि नंसे = नीचैर्नमामः।

नद्य ऊचुः— हे मन्त्रकर्तः विश्वामित्र! वयं ते इमानि वाक्यानि शृणुमः [यत्] त्वं दूरात् शकटेन रथेन च आययाथ आगतोऽसि। [तव समीहितं प्रयोजनं निष्पादयितुं] वयं त्वदर्थं नीचैर्नमामः [यथा पुत्रं पुत्रीं वा स्तनं] पाययन्ती माता प्रह्वीभवति, यथा वा कन्या पुरुषाय (प्रियाय, पत्ये) [तस्य] परिष्वजनाय [नम्रीभवति।] 'ते' इति पुनरुक्तिरादरार्थम् (— सायणाचार्यः)।।१०।।

नदियाँ कहती हैं— हे मन्त्रकर्ता विश्वामित्र! हमने तुम्हारे इन वचनों को ध्यानपूर्वक सुना है क्योंकि तुम भारवाहक गाड़ी और रथ लेकर दूर से आये हो। [तुम्हारे अभीष्ट को सिद्ध करने के लिए] हम अपने आपको तुम्हारे लिए नीचे झुका देती हैं— ऐसे, जैसे [अपने पुत्र अथवा पुत्री को स्तन] पिलाती हुई माता झुक जाती है, अथवा जैसे कन्या पुरुष (प्रिय, पति) का आलिंगन करने के लिए झुक जाती है।।१०।।

The streams said, "Oh praiser! we listen to your words that you have come to us from far away with a waggon and chariot. We bow down before you like a woman nursing [her child], like a maiden leaning towards a man (her lover, husband, father or brother)." (10)

यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुर्गव्यन्ग्राम इषित इन्द्रजूतः।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम्।।११।।

यद्।अङ्ग।त्वा।भरताः।सम्ऽतरेयुः।गव्यन्।ग्रामः।इषितः।इन्द्रऽजूतः।
अर्षात्।अह।प्रऽसवः।सर्गऽतक्तः।आ।वः।वृणे।सुऽमतिम्।यज्ञियानाम्।।

अन्वयः— यद् अङ्ग भरताः त्वा संतरेयुः, गव्यन् इषितः इन्द्रजूतः ग्रामः अर्षात्। सर्गतक्तः प्रसवः अह। यज्ञियानां वः सुमतिम् आवृणे।

विशिष्ट-पदानि— यद् = यतः। अङ्ग इत्यामन्त्रणे। गव्यन् = गाः

(उदकानि तरीतुं) इच्छन्। इषितः = अभ्यनुज्ञातः। इन्द्रजूतः = इन्द्रेण प्रेरितः। ग्रामः = संघः। अर्षात् (अर्षेत्) = गच्छेत्। सर्गतक्तः = सर्गाय (गमनाय) तक्तः (प्रवृत्तः)। प्रसवः = उद्योगः। अह = यथापूर्वम्। आवृणे = सर्वतः संभजे।

विश्वामित्रो नदीं प्रत्युवाच — यतः युष्माभिः मम उत्तरणम् अभ्यनुज्ञातम् [तर्हि हे नदि!] भरतकुलजाताः [एते सर्वे मया सह आगताः] त्वां [परस्परमेकताम् आपन्नां नदीं] सम्यग् उत्तीर्णाः भवेयुः— [एष भरतानां] संघः उदकानि तरीतुम् इच्छन्, त्वया अभ्यनुज्ञातः, इन्द्रेण च प्रेरितः संतरेत्। [तदनन्तरं तव] गमनाय प्रवृत्तः उद्योगः यथापूर्वम् [आरभेत।] अहम् [तु] यज्ञार्हाणां युष्माकं शोभनां स्तुतिं सर्वतः संभजे— यूयं [नद्यः] मदर्चनार्हाः अहन्तु युष्माकम् अनुग्रहं प्राप्तुम् अभिलषामि इत्याशयः।।११।।

विश्वामित्र कहता है–हे नदियो! क्योंकि तुमने मुझे [पार] उतर जाने की अनुमति दी है, इसलिए मेरे साथ आये सभी भरत (भारसंवाहक अथवा भरत-वंश से उत्पन्न मेरे लोग) तुझ नदी को (जो कि परस्पर मिलकर एक धारामयी बन चुकी है) सम्यग् रूप से पार कर जाएं। [यह भरतों का] समूह जलों को पार कर जाने की इच्छा रखता हुआ तुझ से आज्ञा लिए हुए है और इन्द्र से प्रेरित है। [इसके बाद] तुम आगे बढ़ने के लिए यथापूर्व प्रवृत्त हो जाओ। तुम मेरी अर्चना के योग्य हो और मैं तुम्हारे अनुग्रह का इच्छुक हूँ।।११।।

Viśvāmitra speaks, "[Oh rivers!] as [you have] allowed [me to cross], so may the Bharatas (the bearers of the goods, or the men belonging to the Bharata race) pass over [your united stream.] May the troop, desiring to cross the water, permitted [by you to do so], and impelled by Indra, pass, and [then] let your streams flow on in rapid motion. You are worthy of [my] adoration and I crave your favour." (11)

अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।

प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्।।

अतारिषुः। भरताः। गव्यवः। सम्। अभक्त। विप्रः। सुऽमतिम्। नदीनाम्।

प्र। पिन्वध्वम्। इषयन्तीः। सुऽराधाः। आ। वक्षणाः। पृणध्वम्। यात। शीभम्।।

अन्वयः— गव्यवः भरताः अतारिषुः। विप्रः नदीनां सुमतिं समभक्त। इषयन्तीः प्रपिन्वध्वम्। सुराधा वक्षणाः आपृणध्वम्। शीभं यात।

विशिष्ट-पदानि:— गव्यवः = गाः (उदकानि तरीतुं, यज्ञेन गाः = पशून् वा) इच्छन्तः। सुमतिं = स्तुतिम् अनुग्रहं वा। समभक्त = समभजत, प्राप्नोत। इषयन्तीः = इच्छन्त्यः। प्रपिन्वध्वम् = प्रकर्षेण तर्पयत, सिञ्चत। सुराधाः = शोभनधनोपेताः। वक्षणाः = नद्यः। आपृणध्वम् = सर्वतः पूरयत। शीभं = शीघ्रम्।

गव्यवः (गाः उदकानि तरीतुं, गाः पशून् वा इच्छन्तः) भरतकुलजाताः [तां नदीम्] अतरन्। मेधावी (विश्वामित्रो) [ऽपि] नदीनां शोभनां स्तुतिम् अनुग्रहं वा समभजत् (प्राप्नोत्)। [हे नद्यः! लोकाय अन्नमुत्पादयितुम्] इच्छन्त्यः [पार्श्वप्रदेशान् यूयं] प्रकर्षेण तर्पयत सिञ्चत इत्याशयः। शोभन-धनोपेताः प्रचुरान्नोत्पत्ति-क्षमाः इत्याशयः, कृत्रिम-सरितः कुल्या वा यूयं [जलैः] सर्वतः सुष्ठु-रूपेण पूरयत। [एतदखिलनिष्पत्त्यनन्तंर च] यूयं शीघ्रम् अग्रे प्रवहत।। १२।।

जलों [को तैरने] अथवा पशुओं [को पाने] के इच्छुक भरतकुलोत्पन्न [उस नदी को] पार कर गये। मेधावी (विश्वामित्र) ने [भी] नदियों की सुन्दर स्तुति की, अथवा उनकी कृपा प्राप्त की। [लोकों के लिए अन्न उत्पन्न करने की] इच्छा वाली [नदियों ने पार्श्ववती प्रदेशों का] भली-भाँति तर्पण किया, अर्थात् उन्हें सींचा। सुशोभित धन से सम्पन्न (प्रचुर अन्न उत्पन्न करने में समर्थ) कृत्रिम नदियों अथवा कुल्याओं को तुम [जलों से] अच्छी प्रकार से भर दो। [यह सब कुछ निष्पन्न करने के अनन्तर] तुम शीघ्र ही [आगे] बहती चली जाओ।। १२।।

Bharatas, desiring to cross the water, or seeking cattle passed over, [and] the sage (Viśvāmitra) enjoyed the favour of the rivers. [O rivers!] You, wishing [the grain to be produced in abundance,] may water the neighbouring lands, your channels—producing food or pouring riches—be filled with water, [and both of] you flow swiftly onwards. (12)

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
मादुष्कृतौ व्येनसाघ्न्यौ शूनमारताम्।।१३।।

उद्। वः। ऊर्मिः। शम्याः। हन्तु। आपः। योक्त्राणि। मुञ्चत।
मा। अदुःऽकृतौ। विऽएनसा। अघ्न्यौ शूनम्। आ। अरताम्।।

अन्वयः— वः ऊर्मि शम्या उत् हन्तु। आपः योक्त्राणि मुञ्चत। अदुष्कृतौ व्येनसा अघ्न्यौ शूनं मा आरताम्।

विशिष्ट-पदानि— शम्याः = रज्जूः। उद्हन्तु = विहाय गच्छतु, ताभ्यां नीचैर्गच्छतु। योक्त्राणि = चर्मबन्धनीः। अदुष्कृतौ = कल्याण-कर्म-कारिण्यौ। व्येनसा = व्येनसौ, विगतपापे। अघ्न्यौ = अतिरस्करणीये, अहिंस्ये वा। शूनम् = समृद्धिम्, शून्यम् इति वा। आरताम् = आगच्छताम्, आप्नुयाताम्।

विश्वामित्रः नदीपारगमनात् पूर्वं नद्यौ स्तौति— युष्माकं तरङ्गः (अनेन रूपेण उच्छलं) गच्छतु येन (शकटेषु युक्तयोः गवोः कण्ठ- पार्श्वादि-संलग्नाः) रज्ज्वः ऊर्ध्वं भवन्तु, स तरङ्गो रज्जूनामधो गच्छतु इत्याशयः। युष्माकम् आपः युग्म-चर्मबन्धनीः मुञ्चत, न स्पृशन्ति तथा प्रवहन्त इत्यभिप्रायः। [यूयं द्वे नद्यौ विपाट्छुतुद्र्यौ] कल्याणकर्मकारिण्यौ विगतपापे अतिरस्करणीये आदरणीये इत्याशयः [एतत् क्षणं जलैः] समृद्धिं मा आप्नुयाताम्। यद्वा [अस्मच्छकटयुक्तगावौ] कल्याण-कर्म-कारिणौ, विगतपापौ, अतिरस्करणीयौ अनिन्दनीयौ स्याताम् इत्याशयः। [अस्मिन् उदकोत्तरण- काले] शून्यं विनाशमिति यावत् मा आप्नुयाताम्। [येनाहं विश्वामित्रः सजातीयैः सहायैः साकम् तरेयम्। एवं विश्वामित्रो नद्यौ स्तुत्वा ताभ्याम् अनुज्ञातोऽतरद् इति।]।।१३।।

विश्वामित्र पार करने से पूर्व नदियों की स्तुति करते हैं—तुम्हारी तरंग [इस प्रकार से उछलती] जाए जिससे [शकटों में जुड़े बैलों के गले,

पार्श्व आदि में संलग्न] रस्सियाँ ऊँची रहें, अर्थात् तरंग रस्सियों से नीची रहें। [तुम्हारे] जल [बैलों के जोड़ों के लगाम आदि] चर्म-बन्धनों को अपने से मुक्त रखें, अर्थात् ऐसे बहें कि इनका स्पर्श न करें। [तुम दोनों विपाट् और शुतुद्री नदियाँ] दूष्कृत्य न करने वाली, अर्थात् कल्याण कर्म करने वाली, पापरहित, तिरस्कार के अयोग्य (आदरणीय अथवा अहिंसक) होती हुई [इस क्षण जलों से] समृद्धि को मत प्राप्त करो। अथवा, जल को पार करने के इस समय में हमारे शकटों से जुड़े बैल कल्याणकारी, विगतपाप और अनिन्दनीय होते हुए विनाश को मत प्राप्त करें, जिससे कि मैं विश्वामित्र अपने सजातीय सहायकों के साथ जलों को पार कर जाऊँ। इस प्रकार नदियों की स्तुति करके उनसे आज्ञा प्राप्त कर विश्वामित्र नदियों को पार कर गये।। १३।।

Viśvāmitra prays, "Let your wave, [Oh rivers!] so flow that the strings contacted with the yoke may be above the water. Let your waters [so flow that they] spare the thongs. You, both the rivers, Vipāṭ and Śutudri—harmless, sinless and uncensured as you are—may not exhibit increase at present. Or the pair of bulls—harmless, sinless and uncensured as it is—may not be destroyed [when I am crossing the rivers]." (13)

विवृति

१. सारांश— विश्वामित्र कहते हैं कि विपाट् (ब्यास) और शुतुद्री (सतलुज) नामक दो नदियाँ पर्वत की गोद से निकल कर समुद्र की ओर अति वेग से भागी चली जा रही हैं। विश्वामित्र इन दोनों नदियों के मूल स्रोत तक चले गये। उन्होंने नदियों से प्रार्थना की वे थोड़ी देर के लिए रुक जाएँ जिससे वे सोम तैयार कर सकें। इन नदियों में वही जल है जोकि इन्द्र द्वारा वृत्र-हनन के बाद बरसा था। इस पर नदियाँ बोलीं, "हे विश्वामित्र! तुम हमारे बीच इस संवाद को स्व-प्रतिपादित ऋचाओं में स्थान देकर अमर कर देना।"

विश्वामित्र बोले– मैंने इस रथ से दूसरे किनारे पर जाना है। तुम ज़रा झुक जाओ (पानी कम कर दो), ताकि मेरा रथ डूब न जाए और मैं तथा मेरे साथ आए सभी भरत (भरत-वंशज) सम्यग् रूप से पार हो जाएँ। नदियों का वेग कम हो गया।[१] जल में रथ को बढ़ाने से पूर्व विश्वामित्र बोले, ''हे नदियो! हमारे चले जाने के बाद तुम कृत्रिम नदियों और कुल्याओं को जल से भर देना, ताकि भूमि सिंचित की जा सके, और इसके बाद आगे बढ़ जाना।'' इस प्रकार नदियों की स्तुति तथा उनसे वार्तालाप करने के बाद विश्वामित्र भरतों के साथ रथों के द्वारा नदी पार करने लगे।

२. बृहद्देवता (४.१०५ख-१०९) में बताया गया है कि ऋषि विश्वामित्र [राजा] सुदास् (सुदास) के साथ, इनके पुरोहित के रूप में, यज्ञ करने जा रहे थे कि विपाट् और शुतुद्री नदियों के संगम पर [अपार जलौघ के कारण उन्हें रुकना पड़ा] और उन्होंने [नदियों से] प्रार्थना की कि वे पार करने योग्य हो जाएँ[२]। (देखिए ऋग्० ३.३३.५)।

३. सुदास् (सुदास) कोसल देश के राजा थे (महाभारत, अनु० १६५, ५७)। कहा जाता है कि परुष्णी, अपर नाम इरावती (वर्तमान रावी), नदी के किनारे वैदिक युग का विख्यात दाशराज्ञ युद्ध हुआ था, जिसमें महाराज सुदास ने अपने विरोध में सम्मिलित होने वाले दस पराक्रमी नरपतियों की सेनाएं छिन्न-भिन्न का डाली थीं।

इस सूक्त के दो मन्त्रों (सं० ११, १२) में कहा गया है कि विश्वामित्र के साथ भरत (भरत जाति के लोग) भी विपाट् और शुतुद्री

---

१. प्रार्थना करने पर नदी का वेग कम हो गया– इस प्रकार के प्रसंग परवर्ती स्थलों में बहुविध रूप में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत का वह ख्यात स्थल लीजिए जिसमें नवजात शिशु कृष्ण को सिर पर रखे वसुदेव नदी से यही प्रार्थना करते हैं और नदी का जल कम हो गया और वे इस शिशु को नन्द के यहाँ पहुँचाने चले गये।

२. **पुरोहितः सन्निज्यार्थं सुदासा सह यन्नृर्षिः।**
विपाट्छुतुद्र्योः संभेदं शमित्येते उवाच ह।। (बृ० दे० ४.१०६)

नदियों को पार कर आये थे। विश्वामित्र और भरतों का परस्पर क्या सम्बन्ध था, इस विषय में उपर्युक्त दाशराज्ञ युद्ध की चर्चा की जाती है जोकि पर्याप्त अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध है। इसका उल्लेख ऋग्वेद (७.३३.१-५) में है।

संभवतः यह संघर्ष एक ओर भरतों (जो कि ब्रह्मावर्त के निवासी थे) और दूसरी ओर उन जनों (जातियों) के बीच हुआ था जो पश्चिमोत्तर भारत के निवासी थे। भरतों के राजा सुदास[1] थे जोकि त्रित्सुओं के अधिपति थे। सुदास के पुरोहित कभी विश्वामित्र हुआ करते थे।[2] किन्तु परिस्थिति ने पासा पलटा। हुआ यह कि सुदास के अन्य पुरोहित वसिष्ठ सुदास की प्रोन्नति के लिए प्रार्थनाएँ किया करते थे। इससे विश्वामित्र का उन्नत पद कम होता चला गया। इस प्रकार वसिष्ठ विश्वामित्र के प्रतिद्वन्द्वी बन गये थे। इसका बदला लेने के लिए विश्वामित्र ने विभिन्न दस राजाओं के संघ को सुदास के विरोध में खड़ा किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संघ में भरत भी शामिल हो गये थे और वे सुदास के प्रमुख शत्रु माने जाते थे। संभवतः इसी अवसर पर भरतों ने विश्वामित्र के साथ उक्त नदियाँ पार की थीं। सुदास और उक्त संघ का युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के तट पर हुआ। यह युद्ध 'दाशराज्ञ युद्ध' कहाता है। इसमें सुदास विजयी हुए और भरत पराजित हुए— ऋग्वेद ७.३३ के अनुसार इस विजयप्राप्ति का कारण था— तृत्सुओं की रक्षार्थ वसिष्ठ की प्रार्थनाएं।[3]

और ये विश्वामित्र, जिन्हें उक्त रूप में सुदास का पुरोहित बताया गया है, कौन थे? क्या वही जो स्वयं अथवा जिनके वंशज ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ऋषि माने जाते हैं। इस मण्डल में ६२ सूक्त हैं। अथवा

---

१. विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः। (ऋग्० ३.५३.९)

२. सुदास के पिता का नाम पिजवन था— "विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव।" (निरुक्त २.२४)

३. (क) देखिए : 'ए हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिट्रेचर' (ए. ए. मैकडॉनल, पृष्ठ १५५-१६०)

(ख) यह आख्यान निरुक्त २.२४-२७, ९.३१; सर्वानुक्रमणी ३.३३ तथा नीति-मञ्जरी, पृष्ठ १४७-१५४ आदि ग्रन्थों में भी प्रस्तुत किया गया है।

वे विश्वामित्र जिनकी चर्चा ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत 'शुनः शेप आख्यान' में है कि उन्होंने इस अभागे बालक पर दया कर इसे अपना पौष्य पुत्र बना लिया था। क्या उक्त तीनों विश्वामित्र एक ही थे, अथवा इनमें नामसाम्य है— इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह मिथकीय नाम अति लोकप्रिय रहा। आगे चलकर परवर्ती ग्रन्थों रामायण और महाभारत में भी अनेक स्थलों पर इस नाम के व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के महत्त्वपूर्ण कृत्यों का उल्लेख किया गया है।

४. विपाश् अथवा विपाशा से तात्पर्य है— पंजाब (भारत) की आधुनिक ब्यास नदी। इस नदी का अन्य नाम था आर्जीकीया,[१] अर्थात् ऋजुगामिनी। संभवतः इस नदी का प्रवाह सरल रहा होगा। विपाट् शब्द की एक व्युत्पत्ति है— विप्रापणाद्, अर्थात् यह पहुँचा देती है। संभवतः इसका आशय यह है कि इस नदी का उपयोग बड़े-बड़े काष्ठ-खण्ड आदि को पहाड़ से मैदानों में पहुँचाने में होता हो। विपाट् शब्द की दो अन्य व्युत्पत्तियाँ हैं— (क) यह अपने तीव्र जल-प्रवाह से कूलों का विपाटन करती है, (ख) यह पाश (पाप अथवा मृत्यु) से वियुक्त अथवा विमुक्त करती है (दे० मन्त्र-१, विशिष्ट-पदानि)। महाभारत आदिपर्व (१७६. २-६) के अनुसार एक नदी ने वसिष्ठ ऋषि को पाशमुक्त किया तो इसका नाम विपाशा पड़ गया। इधर स्वामी दयानन्द ने इसकी व्युत्पत्ति दी है—'विविधं पटति गच्छति, विपाटयति वा सा विपाट् नदी।'

५. भीष्मपर्व (९.१५) के अनुसार इस विपाश का जल भारतीय (भरतकुलोत्पन्न) प्रजा पीती है। 'भारतीय-प्रजा' शब्द का स्रोत इस सूक्त के मन्त्र-संख्या १२ में प्रयुक्त इस वाक्य को माना जा सकता है—"गव्यवः भरताः अतारिषुः।" इसी प्रकार "इषयन्तीः प्रपिन्वध्वम्" वाक्य भी इस ओर संकेत करता है कि इन दोनों नदियों ने समीपवर्ती भूभाग को जल से भरपूर सींचा।

---

१. ऋग्० १०.७५.५ में निर्दिष्ट निम्नोक्त दस नदियों में शुतुद्री और आर्जीकीया का भी उल्लेख है— गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जीकीया, असिक्नी और सुसोमा।

६. महाभारत अनुशासन-पर्व (२५.२४) के अनुसार जो मनुष्य विपाशा नदी में पितरों का तर्पण करता है और क्रोध को जीतकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

७. 'शुतुद्री' यास्क के अनुसार तेज बहाव वाली नदी है—''शुतुद्री शु-द्राविणी=क्षिप्र-द्राविणी, आशु तुन्नेव द्रवतीति वा (निरुक्त ९.२६)। इसी आशय को सायणाचार्य ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—शु-क्षिप्रं, तु-तुन्ना (तुन्नेव—प्रहृता इव) द्रवति गच्छति, अर्थात् यह इतने वेग से जाती है कि मानो इसे कोई भगाये चला जा रहा हो (दे० मन्त्र-१, विशिष्ट-पदानि)।

८. और एक नाटकीय-दृश्य—

''अब ज़रा थम जाओ, थोड़ा रुक जाओ, नदियो!'' विश्वामित्र बोले, ''ताकि तुम्हें पार कर मैं सोम-यज्ञ कर सकूँ।''

''नहीं, नहीं रुकती हम!'' गर्वीली नदियाँ बोलीं।

''मैं जानता हूं कि तुम इन्द्र से प्रेरित हो, वृत्र जैसे महान् राक्षस का संहार करना पड़ा है इन्द्र को तुम दोनों को प्रवाहमय करने के लिए। इतनी महत्ता है तुम्हारी,'' विश्वामित्र बोले।

इतना सुनना था कि नदियाँ प्रसन्न होकर बोलीं, ''ऋषिवर! हमारा भी नामोल्लेख कर देना अपनी ऋचाओं में।''

''बहिनो! ज़रा नीचे झुक जाओ, इतना नीचे कि जल, बस, मेरे रथ के धुरे के नीचे तक ही बहता रहे,'' ऋषि विश्वामित्र ने स्नेह-पूरित वचन बोले।

और तभी दोनों नदियाँ ऐसे झुक गईं जैसे माता अपनी सन्तति को स्तन पिलाने को झुक जाती है, अथवा कोई कन्या (युवती) अपने प्रिय को आलिंगन करने को उसकी ओर उन्मुख हो जाती है। और फिर, विश्वामित्र सभी भरत-जन के साथ उस अगाध नदी को पार कर गये। पर पार करने से पूर्व विश्वामित्र ने नदियों का भरपूर स्तवन किया कि वे लोक-हित में संलग्न रहकर युग-युगान्तर तक बहती रहें।

९. उल्लेख्य है कि इस सूक्त में दोनों नदियों के लिए मन्त्र-संख्या १, २, ३ में द्विवचन का प्रयोग हुआ है, और मन्त्र-संख्या ४, ५, ६, ८, ९, १० में — पूजार्थ में अथवा वैदिक-प्रयोग के कारण — बहुवचन का प्रयोग हुआ है, पर मन्त्र-संख्या ११ में इन दोनों नदियों के लिए एकवचन का प्रयोग किया गया है जिसके सम्बन्ध में सायण ने कहा है— "**परस्परमेकतामापन्नां नदीम्**" (सब नदियाँ परस्पर मिलकर एक हो गईं), और यह नदी अपने गन्तव्य समुद्र की ओर, और भी अधिक वेग से, प्रवहमान हो गयीं। ये दोनों नदियाँ एक हो गईं— इस सम्बन्ध में ए० ए० मैक्डानल ने अपने ख्यात ग्रन्थ 'वैदिक माइथालोजी' में ओल्थम के मन्तव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "सरस्वती मूलतः शुतुद्री की सहायक नदी थी और जब शुतुद्री अपना प्राचीन पथ छोड़कर विपाश् से जा मिली तब सरस्वती ने शुतुद्री का पुराना पथ अपना लिया।" (वैदिक देवशास्त्र, सूर्यकान्त, पृष्ठ २२२)

१०. इधर आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द जी ने इस सूक्त में प्रस्तुत दो नदियों— विपाट् और शुतुद्री को— उपमान-रूप में स्वीकार करते हुए इनका उपमेय ऐसी नारियाँ माना है जो अपने-अपने गृहकार्य में ऐसे निरन्तर गतिशील रहती हैं, जैसे पर्वतों के बीच छलछल करती ये दोनों नदियाँ। ये नारियाँ अपने पतियों के प्रति अत्यन्त लालसा-वश ऐसे उन्मुख होती हैं जैसे कि नदियाँ समुद्र की ओर भागी चली जाती हैं, अथवा जैसे अश्व रथ को अपने गन्तव्य पर ले जाने के लिए दौड़े चले जाते हैं, अथवा जैसे गौएँ साँझ के समय अपने बछड़ों की ओर भागी चली जाती हैं।

इस सूक्त में प्रस्तुत विश्वामित्र से स्वामी जी का आशय ऐसे पराक्रमी तथा उद्यमशील पुरुष से है जो नानाविध सांसारिक कार्य-कलापों को सुचारु रूप से चलाने के लिए जलाशय खोदता है, तथा जलाप्लावित नदियों के पार पहुँचता है।

इस प्रकार स्वामी जी के अनुसार उक्त प्रकार की नारियाँ और पुरुष विद्या, विज्ञान, तथा विभिन्न कलाओं में निपुणता प्राप्त करते हुए सर्वहितकारी कार्यों में संलग्न रहते हैं।

११. आइये अब इस सूक्त के संदर्भ में इन्द्र और वृत्र के विषय में चर्चा करें[१]—

मन्त्र-संख्या २, ६, ७ में 'इन्द्र' शब्द का उल्लेख है और मन्त्र-संख्या ४ में 'देव' शब्द का। यहाँ 'देव' शब्द से भी 'इन्द्र' अभीष्ट है। इन तथा इतर स्थलों से अभिप्रेत है कि—

(क) इन्द्र-द्वारा प्रेषित अथवा प्रेरित ये दोनों नदियाँ पर्वत की गोद से निकलकर समुद्र की ओर जा रही हैं (मन्त्र-संख्या १, २)।

(ख) इन्द्र ने अपने वज्र से नदियों के अवरोधक वृत्र को जब मार डाला तो वृष्टि होने लगी और नदियों में जल उमड़ पड़ा (मन्त्र-संख्या ७)।

१२. इन्द्र वज्र से वृत्र पर प्रहार करता है तो वृष्टि होती है। 'इन्द्र' से अभिप्राय 'वर्षा का देवता' लिया जाता है। इस सूक्त में 'वर्षा का देवता' प्राकृतिक आधार पर किसे कहा जाए? यों तो इन्द्र अर्थात् 'वायु की एक विशेष अवस्था' को वर्षा का देवता माना जाता है, पर इस सूक्त के मन्त्र-संख्या-६ में इन्द्र शब्द के साथ वैकल्पिक रूप में 'सविता' शब्द का भी प्रयोग है, तो इस स्थिति में सूर्य को भी 'वर्षा का देवता' मान सकते हैं।

१३. इन्द्र के साथ सूर्य के साहचर्य की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है—ग्रीष्म ऋतु के अनन्तर और वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने से पूर्व मेघ जल के बोझ के कारण पृथ्वी की ओर झुके से प्रतीत होते हैं। सूर्य की उष्णता और वायु के दबाव के कारण मेघ उमड़ने-घुमड़ने और आपस में टकराने लगते हैं तो उनकी गरज सुनायी देती है, और इस घर्षण के कारण एक चमकती-सी, लहराती-सी ज्वाला नीले आकाश में कड़कदार आवाज़ में यहाँ से वहाँ तक क्षण भर के लिए कौंध जाती है, और तभी मूसलाधार वर्षा होने लगती है। परिणामतः, नदी-नालों में उफ़ान आ जाता है। इसी मनोरम दृश्य को प्रस्तुत करते हैं दो मन्त्र— संख्या ६ और ७।

---

१. इन्द्र और वृत्र के सम्बन्ध में पृष्ठ ३४-३७ भी देखिये।

१४. अब 'वृत्र' शब्द लीजिए—'वृत्र' से मेघ अभिप्रेत है— **"तत्को वृत्रः? मेघः इति नैरुक्ताः"** (निरुक्त २.१६)। वृत्र ऐसे मेघ को कहते हैं जो अपने अन्दर जल को रोके रखता है (√वृ = रोकना)—यह वर्षा का अवरोधक है, अतः इसे असुर (राक्षस) कहा गया है। वृत्र का पर्यायवाची शब्द 'अहि' अर्थात् अजगर है। संभवतः, इस कारण कि वृत्र अर्थात् श्यामवर्ण मेघ— पर्वत के समान स्थूलकाय सर्प की भांति— जल को अपने अन्दर समेटे कुण्डली मारे पड़ा हो।[१] केवल इतना ही नहीं, वृत्र के हाथ, पैर और कन्धे भी नहीं हैं—अजगर के भी तो नहीं होते।[२]

१५. 'वृत्र' शब्द का एक लाक्षणिक अर्थ तो उपर्युक्त 'मेघ' है, पर मुख्य रूप से इसके दो अन्य अर्थ भी किये जाते हैं—(१) रात्रि का गहन **अन्धकार और (२) हेमन्त ऋतु।**

(१) रात्रि का अन्धकार— इस अर्थ के लिए निम्नलिखित मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है—

स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।
अजनयत् सूर्य्यं विदद् गा, अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत्।।

(ऋग्० २.१९.३)

अर्थात् उस (माहिन) महिमाशाली, (अहिहा) सर्प अर्थात् वृत्र के हन्ता इन्द्र ने (अपाम् अर्णः) जलौघ को [पार्थिव] समुद्र की ओर प्रेरित किया। [बादलों से आच्छादित] सूर्य को उसने पुनः प्रकट किया तथा (गाः) किरणें निकल आयीं। [इस प्रकार] इन्द्र ने दिनों के (वयुनानि) कर्मों को प्रकाश द्वारा सिद्ध किया।

इस मन्त्र से 'अहि' (वृत्र) शब्द का अर्थ 'मेघ' भी प्रतीत होता है, और 'रात्रि का गहन अन्धकार' भी। यहां दोनों अर्थ प्रस्तुत हैं—

पहला अर्थ— महान् इन्द्र (वर्षा के देवता) ने वृत्र (मेघ) के हनन द्वारा 'अपाम् अर्णस्' अर्थात् जलौघ को समुद्र की ओर सम्यक् रूप से प्रेरित किया जिससे नदी-नाले भर गये, सूर्य का प्रादुर्भाव किया जिससे सूर्य-किरणें प्राप्त हुईं—निखरने लगीं और तभी [जगत् के] सारे कार्य, सूर्य के प्रकाश से, दिन भर सम्पन्न होने लगे।

---

१. ऋग्० ४.१९.२; ५.३०.६; १.५७.६; ५.३२.१, २

२. ऋग्० १३२.७

दूसरा अर्थ— महान् इन्द्र (सूर्य) ने वृत्र (रात्रि के घोर अन्धकार) के विनाश द्वारा जलौघ को समुद्र की ओर प्रेरित किया, सूर्य का प्रादुर्भाव किया तथा सूर्य-रश्मियाँ प्राप्त हुईं— निखर उठीं।

इन दोनों अर्थों में से पहला अर्थ कहीं अधिक सटीक प्रतीत होता है। इन्द्र अर्थात् वर्षा के देवता (विद्युत्) द्वारा वृत्र (मेघ) का हनन होते ही मूसलाधार वर्षा होने लगी, घनघोर घटा के पीछे ढका सूर्य दिखायी देने लगा, और उसकी किरणें फूट पड़ीं, चमकने-दमकने लगीं।

किन्तु इसकी तुलना में दूसरा अर्थ वैसा सटीक प्रतीत नहीं होता— इन्द्र अर्थात् सूर्य द्वारा वृत्र (रात्रि के अन्धकार) का हनन होते ही जलौघ उमड़ पड़ा— पर कैसे और क्योंकर? तो क्या इसके लिए 'अपाम् अर्णः' का अर्थ 'जलौघ' के स्थान पर 'प्रकाश-पुंज' कर लें, पर 'अप' और 'अर्ण' दोनों का अर्थ जल ही है, न कि प्रकाश। सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ और इसकी किरणें फूट पड़ीं— यह बात सही तो है कि प्रातःकाल हो गया, पर स्वयं सूर्य के द्वारा सूर्य का प्रादुर्भाव और सूर्य-किरणों का फूटना— यह अभिव्यक्ति जँचती नहीं है।

(२) हेमन्त ऋतु— वृत्र का अर्थ 'हेमन्त ऋतु' मानने के पीछे तर्क यह दिया जाता है कि वृष्टि का देवता जब पृथक् रूप से 'पर्जन्य' को माना गया है तो इन्द्र को 'वृष्टि का देवता' न मानकर 'ग्रीष्म ऋतु का प्रचण्ड सूर्य' मानना चाहिए। ऊँचे पर्वतों पर वृत्र अर्थात् हेमन्त ऋतु जब जल को ग्लेशियर (हिमानी) के रूप में जमा कर उसे बहने से रोक देता है तो इन्द्र अर्थात् ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड सूर्य द्वारा उसका हनन होते ही जलौघ फूट पड़ता है।

पर कुछ विद्वान् वृत्र शब्द का 'हेमन्त ऋतु' अर्थ नहीं मानते। इसका प्रमुख कारण यह है कि जिस भूभाग (पंचनद-प्रदेश) पर ऋग्वेद की रचना हुई है, वह कोई पर्वत विशेष न होकर भारत का मैदानी भाग है। इस भूभाग की नदियों में जल शीत ऋतु में भी बरफ़ की चट्टानों के रूप में परिवर्तित नहीं होता। और, इसका गौण कारण यह कि सूर्य के विभिन्न रूप सविता, मित्र आदि बारह देवताओं के रूप में स्वीकार किये गये हैं, पर इन नामों में इन्द्र का नाम कहीं नहीं आता। अतः इन्द्र को ग्रीष्मकालीन प्रचण्ड सूर्य का प्रतीक नहीं मानना चाहिए, और इसी कारण वृत्र को 'हेमन्त ऋतु' कहने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

५. यम-यमी-संवाद

(ऋग्वेद १०.१०)

ऋग्वेदस्य दशम-मण्डलस्य दशमं सूक्तम्

चतुर्दशर्चस्यास्य सूक्तस्य प्रथमा-तृतीययोर्ऋचोः पञ्चम्यादि-तृचस्यैकादशी-त्रयोदश्योश्च वैवस्वती यमी ऋषिका, द्वितीया-चतुर्थ्योरष्टम्यादि-तृचस्य द्वादशी-चतुर्दश्योश्च वैवस्वतो यम ऋषिः। प्रथमा-तृतीययोः पञ्चम्यादि-तृचस्यैकादशी-त्रयोदश्योश्च यमः, द्वितीया-चतुर्थ्योरष्टम्यादि-तृचस्य द्वादशी-चतुर्दश्योश्च यमी देवते। प्रथमादि-द्वादशर्चां चतुर्दश्याश्च त्रिष्टुप्, त्रयोदश्याश्च विराट्स्थाना छन्दसी।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल का यह १०वाँ सूक्त है। इस सूक्त में १४ मन्त्र हैं। इनमें से संख्या १, ३, ५-७, ११-१३ मन्त्रों की ऋषिका वैवस्वती यमी है, संख्या २, ४, ८-१०, १२, १४ मन्त्रों का ऋषि यम है।

इस सूक्त के संख्या १, ३, ५-७, ११, १३ मन्त्रों का देवता यम है, और संख्या २, ४, ८-१०, १२, १४ मन्त्रों का देवता यमी है। इन १४ मन्त्रों में से संख्या १ से १२ तथा १४ मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में रचित हैं, और १३वाँ मन्त्र विराट्स्थाना छन्द में रचित है।

ओ चि॒त्सखा॑यं स॒ख्या व॑वृत्यां ति॒रः पु॒रू चि॑दर्ण॒वं ज॑ग॒न्वान्।
पि॒तुर्नपा॑त॒मा द॑धीत वे॒धा अधि॒ क्षमि॑ प्रत॒रं दीध्या॑नः॥१॥

ओ इति। चि॒त्। सखा॑यं। स॒ख्या। व॒वृ॒त्या॒म्। ति॒रः। पु॒रु। चि॒त्। अ॒र्ण॒वम्। ज॒ग॒न्वान्।
पि॒तुः। नपा॑तम्। आ। द॒धी॒त॒। वे॒धाः। अधि॑। क्षमि॑। प्र॒ऽत॒रम्। दीध्या॑नः॥

अन्वयः—पुरू चित् तिरः अर्णवं जगन्वान् सखायं सख्या ओ ववृत्याम्। दीध्यानः वेधाः प्रतरं पितुर्नपातम् अधिक्षमि आदधीत।

विशिष्ट-पदानि—पुरू = पुरु, अतिविस्तीर्णम्। चित् = पूजितम्, इष्टं, श्रेष्ठं वा। तिरः = अन्तर्हितम्, अप्रकाशमानम् (सामान्यजनैरज्ञातम्, निर्जनम् इत्यभिप्रायः)। जगन्वान् = गतवान्[1], परमत्र गतवती = आगतवती इत्यर्थः।

---

१. एम० विन्टरनिट्ज़-महोदयेन 'गतवान्' अर्थ एव स्वीकृतः।

ओ = आङ् उपसर्गार्थे निपातः। ओववृत्याम् (आववृत्याम्) = आभिमुख्येन स्थित्वा (लज्जां त्यक्त्वा) [त्वया सह] सम्पर्कं (सम्भोगं) करोमि। दीध्यानः = दीप्यमानः, ध्यायन् वा। प्रतरं = प्रकृष्टम्, सर्वगुणोपेतम्, प्रभूतं सुखम्। पितुर्नप्तारम् = जनकस्य दौहित्रम्, पौत्रं वा, अथवा जनकस्य समीपं तस्य दौहित्रं पौत्रं वा। अधिक्षमि अधिपृथिव्याम्, पृथ्वी-स्थानीये उदरे इत्यपि व्यज्यते, भूतले वा। आदधीत-आदधातु = धारयतु, स्थापयतु।

यमी यमं प्रति कथयति— [अहं त्वया सह एतद्] विस्तीर्णं, श्रेष्ठम्, अन्तर्हितं (निर्जनं) समुद्रं (समुद्रैकदेशम् अवान्तर-द्वीपमिति यावत्) गतवती (आगतवती) [त्वां] मित्रं (गर्भवासाद् आरभ्य सखिभूतम् इत्याशयः) मित्रभावेन प्राप्य आवर्तयामि (लज्जां त्यक्त्वा त्वत्सम्भोगं करोमि।) यद्वा [अपि] गतवान् [असि त्वं मम] सखा किञ्चिदपि अतिदूरम् अन्तर्हितं समुद्रतलमहं त्वां सख्यभावेन स्वसमीपे आकर्षयिष्यामि सम्भोगार्थम् इति शेषः। येन दीप्यमानः ब्रह्मा, यद्वा [आवयोः अनुरूपस्य पुत्रस्य जननार्थम् आवां] ध्यायन् ब्रह्मा प्रकृष्टं (सर्वगुणोपेतम्) [आवयोः] पितुः विवस्वतः नपातं (दौहित्रं पौत्रं वा— आवयोः पुत्रमिति यावत्) अधिपृथिव्यां (ममोदरे इत्यपि व्यज्यते) धारयतु[१] स्थापयतु। अथवा आवयोः पितुः प्रभूतं भाविसुखं ध्यात्वा तस्य

१. (क) प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। ऋग्० १०.१८४.१

(ख) उद्गीथ (७ वीं शती) ने अपने भाष्य में ऋग्० १०.१०.१ के अन्तर्गत निम्नोक्त मन्त्र के आधार पर गर्भ-धारण की रूपरेखा प्रस्तुत की है—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।। (ऋग्० १०.१८४.१)

विष्णु जो कि व्यापक देव है, [अपने आप को कल्पना में] योनि (गर्भाधान-स्थान) समझे। त्वष्टा नामक देव, जो कि देह का कर्ता है, स्त्रीत्व-पुंस्त्व के अभिव्यंजक चिह्नों को विभिन्न रूपों में अलग-अलग दिखाए। उस कल्पित योनि में धाता (धारक) देव प्रजापति वीर्य का सिंचन करे जो कि गर्भ के रूप में परिणत हो जाए। 'परिणत' से अभिप्रेत है कि गर्भ का न तो स्राव हो, न पात हो तथा न ही अपप्रसव हो अर्थात् समय से पूर्व बच्चे की उत्पत्ति न हो जाए।

समीपे तम् आनयतु। अथवा एषोऽपि अर्थः प्रतीयते— यद् ब्रह्मा पृथिव्यां प्रकृष्टं (मानव-वंश-विस्तृतिं ध्यायन्) आवाभ्यां पुत्रं धारयतु।

फलितार्थः— कस्मिंश्चिन् निर्जने द्वीपे यमी यमं प्राप्य (स्वभ्रातरं) सहगामिरूपेण कल्पयन्ती तस्मात् च पुत्रम् इच्छन्ती तं सम्भोगाय आमन्त्रयति, येन पृथिव्यां मानव-वंश-परम्परा प्रसरेत्।।१।।

यमी यम से कहती है— [मैं तेरे साथ इस] विस्तीर्ण, श्रेष्ठ निर्जन समुद्र (द्वीप) में आयी हुई [तुझ] मित्र के प्रति मित्रभाव से आपन्न होकर सम्पर्क (सहवास, संभोग) करना चाहती हूँ। अथवा, भले ही मेरे सखा तुम किसी भी दूर देश के निर्जन स्थान पर या समुद्रतट पर क्यों न गये हुए हो, मैं तुम्हें मैत्रीभाव से अपने समीप सम्भोग के लिए आकृष्ट कर लूँगी, [जिससे] दीप्यमान ब्रह्मा अथवा [हम दोनों के अनुरूप पुत्रोत्पत्ति का] ध्याता ब्रह्मा पृथ्वी-तलपर (अथवा मेरे उदर में) हम दोनों के पिता विवस्वान् के नपात (पौत्र अथवा दौहित्र), अर्थात् हम दोनों के पुत्र को, जो कि प्रकृष्ट (सर्वगुण-सम्पन्न) होगा, धारण करे। अथवा हम दोनों के पिता के प्रकृष्टभाव (भावि-सुख) को ध्यान में रखते हुए उसके पास हमारा पुत्र ले जाए, अथवा पृथ्वी पर प्रकृष्ट (अर्थात् मानव-वेश की विस्तृति) को ध्यान में रखते हुए हमें पुत्र धारण कराए (प्रदान करे।)।।१।।

Yamī says to Yama, "I want to contact you—as a friend does to her friend—on this vast, pleasant and lonely island, so that Brahman, considering over the expansion [of the human race] on this earth, bestow our father, Vivasvan, with a grandson." (1)

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन्।।२।।

न। ते। सखा। सख्यं। वष्टि। एतद्। सऽलक्ष्मा। यद्। विषुऽरूपा। भवाति।
महः। पुत्रासः। असुरस्य। वीराः। दिवः। धर्तारः। उर्विया। परि। ख्यन्।।

अन्वयः— ते सखा (ते) सख्यं न वष्टि। यत् एतत् सलक्ष्मा विषुरूपा भवाति। महः असुरस्य वीराः पुत्रा दिवो धर्तारः उर्विया परिख्यन्।

विशिष्ट-पदानि— वष्टि = कामयते। यत् = यतः। एतत् = एषा। सलक्ष्मा = समान-योनित्व-लक्षणा, भगिनीत्यर्थः। विषु-रूपा = विषमा, अयोग्या, वर्जिता। उर्विया = विस्तीर्णं क्षेत्रम्। परिख्यन् = अव्यवधानेन सर्वत्र पश्यन्ति। भवाति = भवति।

यमः प्रतिवदति— [हे यमि! अयं] तव सखा (गर्भे सहवासित्वात्) [यमः] ते सखित्वं (स्त्री-पुरुष-सम्पर्क-लक्षणम्) न कामयते। यत एषा [यमी यमस्य] समान-योनित्व-लक्षणा (भगिनी इति यावत्) अस्ति, [अतएव संभोगाय] अयोग्या वर्जिता वा वर्तते। [अपि च, यदि त्वं कथयसि यद् आवां सुदूर-द्वीपमापन्नौ स्त्री-पुरुष-सम्पर्के संलग्नौ भवेव, तदपि न संभवम्, यतः अत्रापि] महतः असुरस्य (प्राणवतः प्रजावतो वा) वरुणस्य रुद्रस्य वा वीराः पुत्राः, स्वर्गस्य च धारयितारः, अति-विस्तीर्ण-क्षेत्र-पर्यन्तं सर्वत्राऽव्यवधानेन पश्यन्ति।।२।।

यम यमी से कहता है—(हे यमी! गर्भ में एक साथ रहने के कारण यह) तेरा सखा तेरे साथ मैत्रीभाव (स्त्री-पुरुष-सम्पर्क) नहीं चाहता। क्योंकि यह [यमी] समान योनि से उत्पन्न होने के कारण [यम की] भगिनी (बहिन) है, [इसी कारण संभोग के लिए] अयोग्य (वर्जित) है। [और यदि तुम कहती हो कि इस सुदूर द्वीप में हमें संभोग-रत हो जाना चाहिए, पर यह भी संभव नहीं है, क्योंकि वहाँ भी] महान् असुर (प्राणवान् अथवा प्रजावान्) वरुण अथवा रुद्र के वीर पुत्र, जो कि स्वर्ग के धारयिता हैं, अति विस्तीर्ण क्षेत्रों तक सर्वत्र अव्यवधान-रूप से देखते रहते हैं[1] ।।२।।

---

१. उद्गीथ ने १०.१०.२ प्रसंग के अन्तर्गत मनुस्मृति से निम्नोक्त श्लोक उद्धृत किया है, जिसका आशय है कि पापकारी तो समझते हैं कि उन्हें कोई नहीं देख रहा, परन्तु उन्हें देव देख रहे होते हैं और स्वयम् उनका अन्तरात्मा भी—

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित् पश्यतीति नः।
तांश्च देवाः प्रपश्यन्ति स्वश्चैवान्तरपूरुषः।। (मनु० ८.८५)

और अगले श्लोक (८.६) में मनु ने उन देवताओं के नाम गिनाये हैं— द्युलोक, भूमि, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, यम, वायु, रात, सन्ध्या और धर्म।

Yama says to Yamī, "Your friend does not desire this sort of friendship, i.e., contact, as this kinswoman is unworthy of doing so. [Moreover,] the daring sons of the mighty Asura (Varuṇa or Rudra)—the supporters of the heavens—watch far around [always]. (2)

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य।

नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः।।३।।

उशन्ति। घ। ते। अमृतासः। एतद्। एकस्य। चित्। त्यजसं। मर्त्यस्य।

नि।ते।मनः।मनसि।धायि।अस्मे इति।जन्युः।पतिः।तन्वम्।आ।विविश्याः।।

अन्वयः— ते अमृतासः घ एतत् त्यजसम् उशन्ति। एकस्यचित् मर्त्यस्य। ते मनः अस्मे मनसि निधायि। जन्युः पतिः तन्वम् आविविश्याः।

विशिष्ट-पदानि— अमृतासः = देवाः। घ = अपि। त्यजसम् = वर्ज्यं कृत्यम्। उशन्ति = कामयन्ते। अस्मे = मम। जन्युः = जनयिता। तन्वम् = शरीरम्। आविविश्याः = आविश, प्रवेशं कुरु।।३।।

यमी वक्ति— [हे यम! किमर्थं त्वं गम्यागम्यविषये चिन्तितोऽसि?] ते [प्रसिद्धाः अपि प्रजापत्यादयो] देवाः एतत् वर्ज्यं कृत्यं (भगिन्या सह मैथुनं) कामयन्ते। [सर्वजगतः मुख्यस्य] एकस्यचित् [विशिष्ट-] मर्त्यस्य (प्रजापतेः) [स्वदुहित्रा सह मैथुनन्तु प्रख्यात-घटनैव। अतः] स्व-चित्तं मम चित्ते निधीयताम्— यथाऽहं त्वां कामये त्वमपि मां कामयस्वेत्यर्थः। [तथा च यथा] जनयिता (प्रजापतिः) [पतिर्भूत्वा स्वदुहितुः शरीरं संभोगेनाविष्टवान्, तथा त्वमपि मम] पतिर्भूत्वा मदीयं शरीरं संभोगेन आविश। यद्वा ते देवा अपि कामयन्ते यद् एकस्य मर्त्यस्य श्रेष्ठः पुत्रः भवतु, अतः स्वचित्तं मम चित्ते निधीयताम्— यथाऽहं त्वां कामये त्वम् अपि मां कामयस्व इत्यर्थः। तथा च त्वं जनयिता (उत्पादकः) सन् मम पतिर्भूत्वा मदीयं शरीरं [संभोगेन] आविश।।३।।

यमी कहती है—[हे यम! तुम गम्य और अगम्य के विषय में क्यों चिन्तित हो?] उस [प्रसिद्ध प्रजापति] देवता ने इस वर्ज्य कृत्य (भगिनी के साथ मैथुन) की कामना की है—[सकल जगत् में मुख्य एक विशिष्ट मर्त्य

(प्रजापति) का अपनी बेटी के साथ मैथुन तो प्रख्यात घटना है।] अतः तुम्हारा चित्त मेरे चित्त में संलग्न हो—जैसे मैं तुम्हारी कामना करती हूँ, वैसे तुम भी मेरी कामना करो। [तथा जैसे] जनयिता (प्रजापति) ने [पति बनकर अपनी दुहिता के शरीर में संभोग द्वारा प्रवेश किया, वैसे तुम भी मेरे] पति बनकर मेरे शरीर में [संभोग द्वारा] प्रवेश करो। अथवा वे देवगण कामना करते हैं कि किसी मर्त्य (मरणशील) का श्रेष्ठ पुत्र हो। अतः तुम्हारा चित्त मेरे चित्त में संलग्न हो तथा तुम जनयिता उत्पादक-रूप में मेरे पति बनकर मेरे शरीर में (संभोग द्वारा) प्रवेश करो।।३।।

Yamī says, "O Yama! even those immortals (gods) seek that a mortal should have a splendid son. Let your soul and mine, therefore, be knit together, and you, being progenitor and husband of mine, enter into my body." (3)

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ।।४।।

न। यत्। पुरा। चकृम। कद्। ह। नूनम्। ऋता। वदन्तः। अनृतम्। रपेम।
गन्धर्वः।अप्ऽसु।अप्या।च।योषा।सा।नः।नाभिः।परमं।जामि।तत्।नौ।।

अन्वयः—यत् पुरा कद् ह न चकृम नूनम् ऋता वदन्तः अनृतं रपेम? गन्धर्वः अप्सु, योषा च अप्या। नः सा नाभिः। तत् नौ परमम् जामि।

विशिष्ट-पदानि—कद् = कदा। ह = निश्चितम्। चकृम = कृतवन्तः। नूनम् = पद-पूरणो निश्चयार्थो वा। ऋता = ऋतानि, सत्यानि (सत्यम्)। रपेम = वदेम। गन्धर्वः = आदित्यः। अप्सु = आकाशे जले वा। अप्या = आकाश-वासिनी, जल-वासिनी वा। नः=नौ, आवयोः। नाभिः = उत्पत्ति-स्थानम्। परमम् = उत्कृष्टा। जामि = बन्धुता (रक्तसम्बन्धः)।

यमः कथयति—यत् [कृत्यं] पूर्वं [वयं] कदापि न कृतवन्तः, [तत् कथमधुनाऽस्माभिः कर्तुं शक्यते] नैवेत्यर्थः। अथवा यत् [कृत्यं] पूर्वं [प्रजापतिः] कृतवान् वयं तत् कर्तुं कदापि न शक्नुमः । ये वयम् इतः पूर्वं सत्यमेव अब्रूम, किमु ते वयम् इदानीम् असत्यं वदेम? न कदापि इत्यर्थः। [सत्यमेतद् यत् प्रजापतिः स्वपुत्र्या सह सम्भोगं कृतवान्, परम् आवयोः पिता] गन्धर्वः

(सूर्यः) आकाशे जले वा स्थितः, तस्य योषा (सरण्यू-नामधेया आवयोः माता) अपि आकाशे जले वा वर्तिनी, अतः तदेव आवयोः उत्पत्ति-स्थानम्। एतत्कारणात् च आवयोः रक्त-सम्बन्धोऽपि उत्कृष्ट एव सहोदरत्वाद् इत्यभिप्रायः। [अतोऽहम् अगम्य-स्त्री-विषये तर्कयामि यत्त्वं मम अभोग्या (वर्ज्या)ऽसि]।।४।।

यम कहता है—जो कृत्य हमने पहले कभी नहीं किया, उसे अब हम करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं कर सकते। अथवा जो कृत्य पहले [प्रजापति ने] किया था, हम उसे करने में कभी समर्थ नहीं हो सकते। जो हम अब तक सत्य बोलते चले आए हैं वे हम अब झूठ कैसे बोल सकते हैं? अर्थात् आज तक हमारा व्यवहार सदाचरण-युक्त रहा है। [यह सत्य है कि प्रजापति ने अपनी पुत्री के साथ संभोग किया था, परन्तु हमारा पिता] गन्धर्व (सूर्य) आकाश में अथवा जल में स्थित है, और उनकी पत्नी (सरण्यू-नामधेया हमारी माता) भी आकाश में अथवा जल में रहती है, अतः वही हमारा उत्पत्ति-स्थान है, और इस कारण हम दोनों की बन्धुता (रक्त-सम्बन्ध) भी उत्कृष्ट है— सहोदर होने के कारण, यह आशय है। [अतएव मैं तुम्हारे सम्बन्ध में कहता हूँ कि तुम मेरे लिये अभोग्या (वर्ज्या) नारी हो]।।४।।

Yama says to Yamī, "What we never did before, shall we do now? We, who spoke truth, should now talk untrue? [Our father] Gandharva (the sun) is in the sky (the upper region) or in the waters, his wife, (our mother) also is of the sky or of the waters. That is the place of origin of both of us, and such is our lofty kinship." (4)

गर्भे॒ नु नौ॑ ज॒नि॒ता दंप॑ती क॒र्दे॒वस्त्वष्टा॑ सवि॒ता वि॒श्वरू॑पः।
नकि॑रस्य॒ प्र मि॑नन्ति व्र॒तानि॒ वेद॑ ना॒वस्य पृ॑थि॒वी उ॒त द्यौः।।५।।

गर्भे॑।नु।नौ॒।ज॒नि॒ता।दंप॑ती॒ इति॒ दम्ऽप॑ती।क॒ः।दे॒वः।त्वष्टा॑।स॒वि॒ता।वि॒श्वऽरू॑पः।
नकि॑ः। अ॒स्य॒। प्र। मि॒न॒न्ति॒। व्र॒तानि॑। वेद॑। नौ॒। अ॒स्य। पृ॒थि॒वी। उ॒त। द्यौः।।

अन्वयः— त्वष्टा, सविता, विश्वरूपः, जनिता, देवः, गर्भे नु नौ दम्पती कः। अस्य व्रतानि नकिः प्रमिनन्ति। पृथ्वी उत द्यौः नौ अस्य वेद।

विशिष्ट-पदानि— कः = अकरोत्। नकिः = नापि। प्रमिनन्ति = हिंसन्ति, लोपयन्ति इत्यर्थः।

यमी कथयति— त्वष्टा (रूपाणां कर्ता), सविता (सर्वस्य प्रसविता), विश्वरूपः (सर्वात्मकः), जनिता (जनयिता, प्रजापतिः) देवः आवां गर्भे एव (एकोदरे सहवासित्वाद्) दम्पती (जायापती) कृतवान्। अस्य [देवस्य प्रजापतेः] व्रतानि (कर्माणि) आदेशान् वा न केचित् लोपयन्ति (विनाशयितुं शक्नुवन्ति)। अपि च अस्य [प्रजापतेः] आवयोः [इदं दम्पतित्वं] पृथिवी जानाति, द्यौः च जानाति। [अतो न हि कश्चिद्दोषो वर्तते आवयोः करणीये सम्भोग-कर्मणि— विशेषतः पुत्रोत्पत्त्यर्थं, तेन च मानव-वंश-प्रसारणार्थम्] ।।५।।

यमी कहती है—हम दोनों को त्वष्टा (आकृतियों का निर्माता) सविता (उत्पादक), विश्वरूप (सर्वात्मक), जनयिता (प्रजापति) देवता ने गर्भ में ही दम्पती बना दिया था—[कारण, हम दोनों एक-साथ एक ही दम (स्थान) अर्थात् उदर में रहे थे।] इस (प्रजापति देवता) के व्रतों (कर्मों अथवा आदेशों) को कोई भी टाल नहीं सकता तथा इस (प्रजापति) के द्वारा प्रस्तुत हम दोनों का [यह दम्पतिभाव] पृथ्वी और द्युलोक दोनों जानते हैं। [इसलिए हम दोनों द्वारा करणीय संभोगकर्म में—विशेषतः पुत्रोत्पत्ति के लिए, और उसके द्वारा मानव-वंश के प्रसार के लिए—कुछ भी दोष नहीं है]।।५।।

Yamī says to Yama, "Even in the womb, the god Tvaṣṭṛ (the architect of the gods shaping all forms), the Producer, the Pervasive and the Creator made us consorts. No one can violate the holy ordinances of Him. Both the earth and the heaven acknowledge that it is due to Him (Prajāpati) that we are consort to each other." (5)

को अ॒स्य वे॑द प्र॒थ॒मस्याह्नः॒ क ईं॑ ददर्श॒ क इ॒ह प्र वो॑चत्।
बृ॒हन्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ धाम॒ कदु॑ ब्रव आहनो॒ वीच्या॒ नॄन्।।६।।

कः। अ॒स्य। वे॒द। प्र॒थ॒मस्य॑। अह्नः॑। कः। ईम्। द॒द॒र्श॒। कः। इ॒ह। प्र। वो॒च॒त्।
बृ॒हत्। मि॒त्रस्य॑। वरु॑णस्य। धाम॑। कत्। ऊँ इति। ब्र॒वः॒। आ॒ह॒नः॒। वीच्या॑। नॄन्।।

अन्वयः— अस्य प्रथमस्य अह्नः कः वेद? कः ईं ददर्श? कः ह प्रवोचत्? मित्रस्य वरुणस्य धाम बृहत्। नॄन् वीच्या आहनः। कत् उ ब्रवः।

विशिष्ट-पदानि— ईम् = एतत्। ह = निश्चयार्थे, पादपूरणे वा। नॄन् = मनुष्यान्। वीच्या = नरकेण। हे आहनः = हे निग्रहकर्तः। कत् ऊँ= किं वा। ब्रवः = ब्रवीषि।

यमी कथयति— [अस्मिन् सुदूरवर्ति-स्थाने] अस्य प्रथमदिवसस्य [आवयोः एतत् संभोगरूप-कर्म] को जानाति? को वा एतत् प्रत्यक्षतः पश्यति, कश्च [ज्ञानाभावे दर्शनाभावे वा] एतद् (एतद्विषये) प्रख्यापयति। [अयम्भावः— सुदूरवर्तिनी स्थानेऽस्मिन् आवयोरेतत्संभोग-कर्म ज्ञातुं, द्रष्टुं, प्रख्यातुञ्च न हि कोऽपि समर्थः।] एतन्मन्यते एव यत् मित्रस्य वरुणस्य स्थानम् (अहोरात्रं) बृहद्, परं मर्त्यानां नरकेण निग्रहकर्तः [हे यम]! त्वं कथं किं वा एतद् ब्रवीषि [यद् असुरस्य वरुणस्य पुत्राः अहनि रात्रौ वा कृतम् आवयोः सम्भोग-कर्म पश्येयुः? न हि ते आवां द्रष्टुं समर्थाः सन्ति, यतः त्वमपि मर्त्यानां निग्रह-कर्तृत्वेन[१] केनापि रूपेण अल्पबलिष्ठो नासि]।।६।।

यमी कहती है— [इस सुदूरवर्ती स्थान में] इस प्रथम दिवस के [हमारे] इस [संभोग-रूप कार्य] को कौन जानता है? अथवा कौन इसे प्रत्यक्ष-रूप से देख सकता है? और न ही इसके विषय में कोई [किसी को कुछ] बता सकता है। [यदि यह मान भी लिया जाए कि] मित्र और वरुण का धाम (दिवस और रात्रि रूप स्थान) बृहद् है, पर हे यम! तुम भी तो मर्त्यों (मरणधर्मा मानवों) के नरक [और स्वर्ग] के नियामक हो (अर्थात् तुम भी कम शक्तिशाली नहीं हो), तो फिर तुम यह कैसे कहते हो [कि असुर (प्राणवान्) वरुण अथवा रुद्र के पुत्र रात और दिन में किए गये हमारे सम्भोग-कृत्य को देखेंगे।]।।६।।

Who knows our actions of the first day [over here]? Who has beheld it, and who has declared it? Great is the abode of Mitra and Varuṇa [in the form of day and night.] You are capable of handling the task of keeping the mortals

---

१. यमो वस्तुतः मनुष्यैः कृत-शुभ-कर्मापेक्षया तेषां नरक-पातनेन स्वर्ग-प्रापणेन वा निग्रहानुग्रहयोः कर्ताऽस्ति, न तु केवलं नरक-पातनेन निग्रह-कर्ता।

in hell [or heaven according to their deeds], then how you say[that the sons of Rudra will behold our deed of mating together.] (6)

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।

जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा।।७।।

यमस्य। मा। यम्यम्। कामः। आ। अगन्। समाने। योनौ। सहऽशेय्याय।

जायाऽइव। पत्ये। तन्वम्। रिरिच्याम्। वि। चित्। वृहेव। रथ्याऽइव। चक्रा।।

अन्वयः— समाने योनौ सहशेय्याय यमस्य कामः मा यम्यम् आगन्। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम्। रथ्या चक्रा इव विवृहेव चित्।

विशिष्ट-पदानि— समाने=एकस्मिन्। योनौ=[शय्याख्य-]संभोग-स्थाने। सहशेय्याय=सह-शयनाय। मा=माम्। यम्यं=यमीम्। आगन्=आगच्छतु। तन्वं=शरीरम्। रिरिच्याम्=प्रकाशयेयम्। रथ्या चक्रा (रथ्यानि चक्राणि) =रथस्यावयवभूते द्वे चक्रे इति यावत्। विवृहेव=वहेव। यद्वा वहनं कुर्याव भावि-जीवनस्य इति शेषः। चित्=इति पूरणे।

यमी कथयति— एकस्मिन् [शय्याख्ये] संभोगस्थाने सहशयनाय। [तव] यमस्य कामः मां (यमीं) प्रति आगच्छतु, मद्-विषये तव यमस्य संभोगेच्छा जायताम् इत्यभिप्रायः। यथा भार्या [शय्यायां] पत्यर्थाय स्वशरीरं प्रकाशयति तथाऽहमपि शय्यायां स्वशरीरं त्वदर्थं प्रकाशयेयम्। [तदा च परस्परं संश्लिष्टौ आवाम् अन्योन्यमेतद्रूपेण] उत्क्षिपेव उद्वहेव वा यथा रथस्यावयवभूते द्वे चक्रे [रथम् उद्वहतः] यद्वा रथस्य द्वे चक्रे इव [भावि-जीवनम्] आवां वहेव।।७।।

यमी कहती है— एक संभोग-स्थान (शय्या) पर इकट्ठे सोने के लिए तुझ यम का काम (संभोगेच्छा) मुझ यमी के प्रति जागरित हो जाए। जैसे भार्या [शय्या पर] पति के लिए अपने शरीर को खोल देती है उसी प्रकार मैं भी शय्या पर तेरे लिए अपने शरीर को खोल दूँ। [और तभी परस्पर आलिंगन-बद्ध] हम दोनों अपने-आप को एक-दूसरे पर इस रूप में फेंकें (परस्पर आलोडित हों), जैसे रथ के अवयवभूत दो पहिये पथ को [धारण करते हुए] आलोडित करते हैं, चलाते हैं। अथवा हम दोनों रथ के दो चक्रों के समान भावी जीवन को वहन करें— गृहस्थ-भार उठाएं।।७।।

Yamī says, "Yama's lust towards me should arise to sleep together on one couch [for love-play]. I would uncover my body [towards him] as a wife does towards her husband. We both of us, [then in an tight embrace,] would roll like the car-wheels, or we both of us may lead the future life together like the car-wheels. (7)

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा।।८।।

न। तिष्ठन्ति। न। नि। मिषन्ति। एते। देवानाम्। स्पशः। इह। ये। चरन्ति।
अन्येन। मत्। आहनः। याहि। तूयं। तेन। वि। वृह। रथ्याऽइव। चक्रा।।

अन्वयः— इह देवानाम् एते ये स्पशः चरन्ति, न तिष्ठन्ति, न निमिषन्ति। आहनः! मद् अन्येन तूयं याहि। तेन रथ्या चक्रा इव विवृह।

विशिष्ट-पदानि— स्पशः = चराः चाराः वा। आहनः = अपहन्त्रि, दुःखयित्रि। मत् = मत्तः। तूयम् = क्षिप्रम्। विवृह = उद्यच्छ, उत्क्षिप।

यमो यमीं प्रति वदति— अस्मिन् लोके देवानां ये एते चराः [सर्वेषां शुभाशुभकर्माणि सततम् अवेक्षितुम् अहोरात्रं] परिभ्रमन्ति, [ते] न [क्षणमात्रं] तिष्ठन्ति, नापि च निमिषन्ति— मानवानां शुभाशुभकर्माणि सततं निरीक्षन्त इत्यर्थः। हे अपहन्त्रि! मर्यादाया हिंसिके, असह्य-भाषणेन मम दुःखयित्रि वा त्वं मत्तः अन्येन [त्वत्सदृश-कामुकेन सह] क्षिप्रं गच्छ [गत्वा च] तेन सह उत्क्षिप (युवां परस्परं संश्लिष्टौ अन्योन्यं एतद्रूपेण उत्क्षिपेतं) यथा रथस्यावयवभूते द्वे चक्रे रथम् उत्क्षिपतः। यद्वा युवां रथस्य चक्रे इव [भवि-जीवनं] वहतम्।।८।।

यम कहता है— इस लोक में देवताओं के जो चर (दूत) हैं ये सभी [लोगों के शुभ और अशुभ कार्यों को देखने के लिए दिन-रात] घूमते रहते हैं, [क्षणमात्र भी] नहीं ठहरते हैं, और न ही पलकें झपकाते हैं— मानवों के शुभाशुभ कर्मों को निरन्तर देखते हैं। हे अपहन्त्रि! (मुझे अपने असह्य भाषण से दुःख देने वाली हे यमि!) तू मुझे छोड़कर [किसी] अन्य (अपने सदृश कामुक पुरुष) के साथ शीघ्र चली जाओ। [और तुम दोनों

आलिंगन-बद्ध होकर] ऐसे आलोडन करो जैसे रथ के अवयवभूत दो चक्र रथ को आलोडित करते हैं।।८।।

Yama says to Yamī, "The sentinals of gods who wander [around us to see our good and bad deeds] do not stand still, and never close their eyelids. Oh troubling lady ! leave me alone and go quickly to another[man]. And then, both of you roll like the car-wheels [in an embrace], or lead the future life together like the car-wheels. (8)

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।

दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि।।९।।

रात्रीभिः। अस्मै। अहऽभिः। दशस्येत्। सूर्यस्य। चक्षुः। मुहुः। उत्। मिमीयात्।

दिवा। पृथिव्या। मिथुना। सबंधूइति सऽबंधू। यमीः। यमस्य। बिभृयात्। अजामि।।

अन्वयः— अस्मा सूर्यस्य चक्षुः रात्रिभिः अहभिः दशस्येत्, मुहुः उन्मिमीयात्। मिथुना दिवा पृथिव्या सबन्धू। यमी यमस्य अजामि बिभृयाद्।

विशिष्ट-पदानि— अस्मा = अस्मै (यमाय)। दशस्येत् = प्रयच्छतु [विवेक-बुद्धिम्]। उन्मिमीयात् = उदेतु। अजामि = अभ्रातरम्। बिभृयाद् = धारयतु, परिगृह्णातु।

अस्याम् ऋचि यमः स्वस्य विवेकं प्राप्तुं प्रार्थयते यद् अस्मै यमाय दिवस-रात्रि-रूपे सूर्यस्य द्वे नेत्रे [स्वभगिनीं यमीं प्रति कामवासना-रहितां बुद्धिं] प्रयच्छताम्— भगिनी न कदापि पत्नी भवितुमर्हति इति विवेकं प्रयच्छतु इत्याशयः। अपि च, दिवस-काले यमीं प्रति यमः भगिनी-बुद्धिं धारयेद् एव, रात्रौ स्वप्नेऽप्यसौ तां प्रति पत्नी-बुद्धिं न कदापि धारयेद् इत्यपि अभिप्रायः। [यमाय सूर्यस्य तेजः] वारं-वारम् उदेतु— तस्य विवेक-बुद्धिं सदा प्रबोधयतु। अस्मै यमाय च द्वौ द्यावा-पृथिवी-लोकौ समान-रूपेण बन्धू स्याताम्— एतयोः द्वयोरेव लोकयोः स उपर्युक्तां विवेक-बुद्धिं प्राप्नुयाद् इत्याशयः। यमी च [कञ्चिद् अन्यं पुरुषं] परिगृह्णातु सम्भोगाय पुत्र-प्राप्त्यर्थञ्च इति शेषः, यो यमस्य [यम्याश्च] भ्राता न भवेद्।।९।।

इस ऋचा में **यम** अपने लिए विवेक-प्राप्ति की प्रार्थना करता है— दिवस और रात्रि रूप— सूर्य के दोनों नेत्र इस यम को [अपनी भगिनी यमी के प्रति काम-वासना-रहित बुद्धि] प्रदान करें— दिन को तो यम यमी के प्रति भगिनी-बुद्धि धारण करे ही, रात्रि के समय— स्वप्न में भी उसके प्रति पत्नी-बुद्धि धारण न करे। [यम के लिए सूर्य का तेज] बार-बार उदित हो— उसकी विवेक-बुद्धि को सदा जगाए रखे। [इस-यम के लिए] द्युलोक और पृथ्वीलोक समान-रूप से बन्धु बने रहें— अर्थात् इन दोनों लोकों में यम उक्त विवेक-बुद्धि प्राप्त किये रहे। और यमी [किसी ऐसे अन्य पुरुष को सम्भोग तथा पुत्र-प्राप्ति-हेतु] ग्रहण करे जो यम [और यमी] का भाई न हो।। ९।।

Yama prays for himself, "Sūrya's (The god sun's) eyes [in the form of] days and nights may bestow him [with the power of being unlustful towards his sister Yamī.[1]] The light of sūrya may spread out before him time and again, that is, Yama may have the above-mentioned faculty for ever. May the kindred pair of two worlds—the heaven and the earth—be friendly with Yama equally.[2] And Yamī should go to a man other than her brother. [for copulation in order to have a son.] (9)

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।।१०।।

आ। घ। ता। गच्छान्। उद्ऽतरा। युगानि। यत्र। जामयः। कृणवन्। अजामि।

उप। बर्बृहि। वृषभाय। बाहुम्। अन्यम्। इच्छस्व। सुऽभगे। पतिम्। मत्।।

अन्वयः— ता उत्तरा युगानि आगच्छान् घा यत्र जामयः अजामि कृणवन्। सुभगे मद् अन्यं पतिम् इच्छस्व। वृषभाय बाहुं उपबर्बृहि।

---

1. Yama means to say that during the day-time he definitely can have unlustful mind towards Yamī, in the night-hours too he should have such mind even in the dreams.
2. In both these worlds he should possess the above faculty.

विशिष्ट-पदानि— उत्तरा = उत्तराणि। आगच्छान् = आगमिष्यन्ति। घ इति = पूरणः। जामयः = भगिन्यः। अजामि = अभ्रातरम्, भ्रातुः इतरं पुरुषम्। कृणवन् = करिष्यन्ति। उपबर्बृहि = उपधान-रूपेण प्रयुङ्क्ष्व।

यमः कथयति— तानि उत्तराणि युगानि (काल-विशेषाः) आगमिष्यन्ति, येषु भगिन्यः अभ्रातृयोग्यं कर्म करिष्यन्ति— भगिन्यो भ्रातुः इतरं पुरुषं पति-रूपेण स्वीकरिष्यन्ति। अतः हे सुभगे! (सुन्दरि! सौभाग्यशालिनि वा) त्वम् [इदानीं, अस्मिन् युगे एव] मत्तोऽन्यं पुरुषं पति-रूपेण कामयस्व। तस्मै च वृषभाय (तव योनौ रेतःसेचन-समर्थाय पुरुषाय) स्वबाहुम् उपधान-रूपेण प्रयुङ्क्ष्व— शयनकाले तमेव पुरुषं भुजाभ्याम् आलिङ्ग इत्यभिप्रायः।।१०।।

यम कहता है कि भविष्य में कभी ऐसे दिन भी आएँगे जब बहिनें भाई से इतर पुरुष को [पति रूप में स्वीकार] करेंगी। इसलिए हे सुन्दरि अथवा सौभाग्यशालिनि यमि! तू [इस युग में ही] मुझ से इतर किसी अन्य पुरुष की पतिरूप में कामना करो। और, उस वृषभ पुरुष (तेरी योनि में रेतःसेचन में समर्थ पुरुष) के लिए अपनी बाहु का तकिया बना दे (शयन-काल में उस पुरुष का गाढ आलिंगन कर)।।१०।।

Yama says, "Those succeeding times would surely come when the sisters will do the act [of making husband] in non-brother-man. Oh beautiful/fortunate lady ! seek for any other man apart from me to make him your husband, and for that the very best man (capable of giving you a son) you should make your arm a pillow, i.e., while embracing him, place your arm as tight as possible. (10)

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि।।११।।

किं। भ्राता। असत्। यत्। अनाथम्। भवाति।
किम्। ऊँ इति। स्वसा। यत्। निःऽऋतिः। निऽगच्छात्।
कामऽमूता। बहु। एतत्। रपामि।
तन्वा। मे। तन्वम्। सम्। पिपृग्धि।।

अन्वयः— यद् अनाथं भवाति किं भ्राता असद्। यत् निर्ऋतिः निगच्छात् किमु स्वसा। काममूता एतद् बहु रपामि। मे तन्वा तन्वं संपिपृग्धि।।

विशिष्ट-पदानि— भवाति = भवति। असत् = भवति। निर्ऋतिः = दुखम्। निगच्छात् = नियम-पूर्वकं गच्छति प्राप्नोति इत्याशयः। काममूता = कामाविष्टा। रपामि = आलपामि, ब्रवीमि। संपिपृग्धि = संपर्चय, संश्लेषय, आलिङ्ग।

भ्रात्रा प्रत्याख्याता यमी यममाह— यस्मिन् भ्रातरि सति भगिनी अनाथा (असहाया) भवति, स भ्राता किं भवति? यस्यां भगिन्यां च सत्यां [भ्राता] अनवरतं दुःखं प्राप्नोति सा किंभगिनी भवति? भ्रातृ-भगिन्यौ अन्योन्यस्य सर्वप्रकारस्य अभावस्य पूर्तिं कुरुतः इत्याशयः। कामेन आविष्टा सती अहम् ईदृशं बहु ब्रवीमि— यत् त्वं मे शरीरेण सह स्वशरीरं संपर्चय— [संभोगेन] संश्लेषय, गाढाश्लेषेण मां बधान इत्याशयः।।११।।

यमी कहती है — [जिस भाई के होने पर बहिन] अनाथ (असहाय) हो जाती है [उस] भाई से क्या [लाभ]? तथा जिस भगिनी के होने पर भाई को निरन्तर दुःख प्राप्त होता रहे उस बहिन से क्या [लाभ]? आशय यह है कि भाई और बहिन एक-दूसरे के सर्व प्रकार के अभावों की पूर्ति करते हैं। काम से घिरी हुई मैं इस प्रकार का बहु-प्रलाप कर रही हूँ कि तुम मेरे शरीर के साथ अपने शरीर को [संभोग द्वारा] गाढालिंगन में बाँध लो।।११।।

Yamī says, "What sort of brother is he, [in whose presence, a sister] is without lord ? What sort of sister is she, [in whose presence,] the destruction comes [upon her brother?]. Overpowered by love [for you,] I prate [that you should] come near me and hold me in your close embraces. (11)

न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्।।१२।।

न। वै। ऊँ इति। ते। तन्वा। तन्वम्। सं। पपृच्याम्।
पापम्। आहुः। यः। स्वसारम्। निऽगच्छात्।
अन्येन। मत्। प्रऽमुदः। कल्पयस्व।
न। ते। भ्राता। सुऽभगे। वष्टि। एतत्।।

अन्वयः—ते तन्वा तन्वं न वै संपपृच्याम्। यः स्वसारं निगच्छात् पापम् आहुः। सुभगे! मद् अन्येन प्रमुदः कल्पयस्व। ते भ्राता एतत् न वष्टि।

विशिष्ट-पदानि— तन्वा = शरीरेण। तन्वं = शरीरम्। संपपृच्याम् = संश्लेषयेयम्। निगच्छात् = निम्नरूपेण उपगच्छति (संभुक्ते, संभोगं करोतीत्याशयः।) प्रमुदः = प्रमोदान्। कल्पयस्व = कुरु। वष्टि = कामयते, इच्छति।

यमो वदति— [हे यमि!] तव शरीरेण [आत्मीयं] शरीरं न संश्लेषयेयम्, त्वया सह अहं नैव संभोग-रतो भवेयम् इत्याशयः। [यतः] यः पुरुषः भगिनीं निगच्छति (संभुक्ते, तया सह संभोगं करोति इत्याशयः), [तं] [धर्मज्ञाः जनाः] पापं कथयन्ति। तस्माद् हे सुभगे! (सुन्दरि, सुष्ठु-भजनीये, सौभाग्यशालिनि वा) मत्तोऽन्येन [पुरुषेण सह मैथुन-जन्य-] प्रमोदान् कल्पयस्व। ते भ्राता (यमः) त्वया सह एतत् [मैथुन-कर्म कर्तुं] न कामयते।।१२।।

यम कहता है—[हे यमि!] मैं तुम्हारे शरीर के साथ अपने शरीर को संश्लिष्ट (आलिङ्गन-बद्ध = संभोगरत) नहीं करूँगा, [क्योंकि] जो पुरुष भगिनी के साथ निम्न रूप से जाता है, अर्थात् संभोग करता है, [धर्मज्ञों के अनुसार] पापी कहाता है। हे सुन्दरि! सौभाग्यशालिनि! मुझ से अन्य किसी पुरुष के साथ [संभोग-जन्य] प्रमोदों की कल्पना करो। तुम्हारा भाई (यम) तेरे साथ इसकी (मैथुन-कर्म की) कामना नहीं करता।।१२।।

Yama says to Yamī, "I shall not embrace your body with that of mine. He who goes near his sister [for copulation] is called to be a sinful person. O fair lady! enjoy your pleasures with another man than me. Your brother does not seek such [sort of pleasures] from you. (12)

ब॒तो ब॑तासि यम॒ नैव ते॒ मनो॒ हृद॑यं चाविदाम।
अ॒न्या किल॒ त्वां क॒क्ष्यैव यु॒क्तं परि॑ ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम्।।१३।।

ब॒तः। ब॒त॒। अ॒सि॒। य॒म॒। न। ए॒व। ते॒। मन॑ः। हृद॑यम्। च॒। अ॒वि॒दा॒म॒।
अ॒न्या। किल॑। त्वाम्। क॒क्ष्या॑ऽइव। यु॒क्तम्। परि॑। स्व॒जा॒ते॒। लिबु॑जाऽइव। वृ॒क्षम्।।

अन्वयः— यम! बतोऽसि बत। ते मनः हृदयं च नैव अविदाम। अन्या किल कक्ष्येव युक्तं, लिबुजेव वृक्षम् त्वां परिष्वजाते।

विशिष्ट-पदानि— बतः = दुर्बलः। बत = इति निपातः खेदे, अनुकम्पायां वा। परिष्वजाते = आलिङ्गयिष्यति। कक्ष्या = अश्वकक्षावगाहिनी रज्जूः। लिबुजा = वल्ली।

यमी वदति— हे यम! त्वं निर्बलोऽसि, [इत्यस्ति अत्यन्तं] खेद-विषयः, अथवा त्वम् अनुकम्प्योऽसि इति यावत्। अहं त्वदीयं मनः (मनोगतं संकल्पं), हृदयञ्च (बुद्धिगतम् अध्यवसायञ्च) पूर्वं न अजानाम्। न मया पूर्वम् एतद् ज्ञातं यत् त्वं पाप-पुण्य-कर्मणोः विमर्शे ईदृशीं शोचनीय-स्थितिं गतोऽसि इत्याशयः। [मया च ज्ञातं त्वद्-दौर्बल्य-कारणम्—] त्वां खलु अन्यैव काचिन्नारी [गाढम्] आलिङ्गति यथा रज्जूः [आत्मना] संलग्नम् [अश्वादिकं], लता च वृक्षम् आलिङ्गति। त्वं काञ्चिद् अन्यां नारीं रन्तुमालिङ्गसि न तु माम् इत्यभिप्रायः।।१३।।

यमी कहती है— हे यम! तुम निर्बल अर्थात् अनुकम्पनीय हो— यह अत्यन्त खेद का विषय है। मैं न तो तेरे मन (मनोगत संकल्प) से परिचित थी और न हृदय (बुद्धिगत अध्यवसाय) से। अर्थात् तुम संभोग जैसे प्राकृतिक कर्म के विषय में भी पाप-पुण्य के पचड़े में पड़े रहते हो— तुम्हारी यह शोचनीय स्थिति मुझे पहले ज्ञात न थी। [मैंने तुम्हारी निर्बलता का कारण जान लिया है कि] तुम्हें कोई अन्य नारी [गाढ़] आलिङ्गन में बाँधती है— ऐसे जैसे रज्जु [अपने से] संलग्न [अश्व आदि] को, अथवा वल्ली वृक्ष को आलिङ्गन करती है। तुम किसी अन्य नारी के प्रति आसक्त हो, अतः मुझ से विरक्त हो— यह मैंने जान लिया है।।१३।।

Yamī says to Yama, "Alas! you are a spiritless fellow Oh Yama! [By this time] I could not be able to find out how much faculty of perception and power of judgement you possess. [Well, I have found out the reason of your denial to have sexual relations with me that] another lady will embrace you just as a girdle [wrapped round a horse, does so to the animal,] or a creeper clings round the tree." (13)

अ॒न्यमू॒ षु त्वं य॑म्य॒न्य उ॒ त्वां परि॑ ष्वजाते लिबु॑जेव वृ॒क्षम्।
तस्य॑ वा॒ त्वं मन॑ इ॒च्छा स वा॒ तवाधा॑ कृणुष्व सं॒विद॒ं सुभ॑द्राम्।।

अ॒न्यम्। ऊँ॒ इति॑। सु। त्वम्। य॒मि॒। अ॒न्यः। ऊँ॒ इति॑। त्वाम्। परि॑। स्व॒जा॒ते।
लिबु॑जाऽइव। वृ॒क्षम्।
तस्य॑। वा॒। त्वम्। मन॑ः। इ॒च्छ। सः। वा॒। तव॑। अध॑। कृ॒णु॒ष्व।
सं॒ऽविद॑म्। सु॒ऽभ॑द्राम्।।

अन्वयः —यमि! त्वम् अन्यम् उ सु अन्यः त्वां लिबुजेव वृक्षम् परिष्वजाते। त्वं वा तस्य मन इच्छ। स वा तव। अध सुभद्रां संविदं कृणुष्व।

विशिष्ट-पदानि— उ = एव। सु = सुष्ठु, गाढम्। परिष्वजाते = परिष्वजताम्। लिबुजा = वल्ली, व्रततिः। वा = समुच्चये। अध = अथ, तदनन्तरम्। संविदम् = परस्परं संभोग-सुख-संवित्तिम् अनुभूतिम् इति यावत्।

यमो वदति— हे यमि! त्वम् [कश्चित्] अन्यमेव सुपुरुषं (त्वद्योग्यं पुरुषम् अभ्रातरमिति यावत्), आलिङ्गस्व। अथवा कश्चिदन्यमेव पुरुषं गाढम् आलिङ्गस्व यथा वल्ली वृक्षमालिङ्गति। तथा सोऽन्योऽपि त्वां गाढमालिङ्गतु, त्वं तस्य चित्तं कामयस्व। सोऽपि तव चित्तमिच्छतु। [युवां परस्परं वशवर्तिनौ भवेताम् इत्याशयः।] तदनन्तरं (परस्परं वशीभूय) त्वं [तेन सह] सुकल्याणीं (इहलोक-परलोकाविरोधिनीम्) संभोग-सुख-संवित्तिम् अनुभूतिं कुरु। [भ्रातृत्व-कारणेनाऽहं त्वया सह संभोगकार्यं कर्तुम् अयोग्यः पुरुषः। अतः केनचिद् अन्येन सह स्वपुत्रं स्वपितुरर्पयितुं वंशवृद्ध्यर्थमिति यावत् संभोगं कुरु इत्यभिप्रायः।] ।।१४।।

यम कहता है—हे यमि! तू किसी अन्य पुरुष (अभ्राता) को आलिङ्गन कर ऐसे जैसे वल्ली वृक्ष का आलिङ्गन करती है और वह भी तुम्हारा ऐसे ही आलिङ्गन करे। तू उसके चित्त की कामना कर और वह तेरे चित्त की कामना करे। इसके बाद तुम कल्याणी (इहलोक और परलोक की अविरोधी), [संभोग-सुख की] अनुभूति को [प्राप्त] करो।।१४।।

Yama says to Yamī, "Oh Yamī ! you embrace another man like creeper does so to a tree and let that another man

embrace you. You seek his heart and he may also seek that of yours, i.e., you both win the hearts of each other. And then, both of you perform the blessed alliance [in the form of copulation]." (14)

विवृति

१. यम-यमी सूक्त के सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि इसके सभी (१४) मन्त्र अथर्ववेद १८.१ में उपलब्ध हैं, जिसमें ६१ मन्त्र हैं। अथर्ववेदीय सूक्त के पहले १६ मन्त्रों में से मन्त्र-संख्या ६ और १३ को छोड़कर शेष १४ मन्त्र ऋग्वेदीय ही हैं।

२. सर्वप्रथम इस सूक्त का सारांश लीजिए—

यम और यमी ये दोनों यमल (जुड़वाँ) भाई-बहिन हैं। यमी अपने भाई यम के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के लिए उसे इस आधार पर प्रेरित करती है कि ये दोनों अपनी माता के गर्भ में एक-साथ इकट्ठे रहे हैं, अतः दाम्पत्य के लिये सर्वथा उचित हैं। इसके लिए यह उसकी मिन्नत-समाजत करती है। उसे बताती है कि प्रजापति ने भी तो अपनी दुहिता को वर्जिता नहीं माना था। पर यम जब यमी के इस अनुरोध को स्वीकार नहीं करता तो वह उसे फटकारती है कि 'तुम दुर्बल हो, मैं तुम्हारे मन और बुद्धि को पहचान नहीं सकी, और तुम परनारी के प्रति आसक्त हो।' यम उसकी भर्त्सना करते हुए, साथ ही उसकी मंगल-कामना करते हुए, उसे परामर्श देते हैं कि वह किसी अन्य पुरुष का वरण करे।[1]

---

१. उल्लेख्य है कि ए. ए. मेक्डॉनल के कथनानुसार अवेस्ता-साहित्य में भी इसी प्रकार भाई-बहिन के युगल का नाम मिलता है— भाई का नाम यिम है और उसकी बहिन का नाम यिमेह। इनके पिता का नाम विवन्ह्वन्त है (इधर यम-यमी के पिता का नाम विवस्वत् है। (ए हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ११८)
इसके अतिरिक्त ए. विन्टर के अनुसार एक लैटिक लोकगीत में यह कथा विलोम रूप में निर्दिष्ट है कि एक भाई अपनी बहिन के साथ रतिकर्म करने की चेष्टा करता है। (ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन लिट्रेचर, एम. विन्टरनिट्ज़, पृष्ठ १०५-६ पा० टि०)

३. बृहद्देवता में यम-यमी के सम्बन्ध में प्रस्तुत निम्नोक्त कथन उल्लेख्य हैं—

(क) यमी ने अभिलाषा प्रकट की कि यम उसके साथ रति-कर्म में लिप्त हो, पर यम ने इसे अस्वीकार कर दिया। शौनक के अनुसार विवस्वान् के इन दोनों (युगल) बच्चों का संवाद **'ओ चित् सखायं.....'** [इत्यादि रूप में ऋग्० १०.१० सूक्त में प्रस्तुत किया गया] है—

मैथुनार्थमभीप्सन्तीं प्रत्याचष्टे यमीं यमः।
तदो चिदिति संवादो विवस्वत्सुतयोस्तयोः।। (बृ० दे० ६.१५४)

(ख) त्वष्टा[१] के दो युगल बच्चे हुए— सरण्यू (पुत्री) और त्रिशिराः (पुत्र)। उसने सरण्यू का विवाह विवस्वान् के साथ कर दिया।[२] विवस्वान् के सरण्यू से दो बच्चे हुए यम और यमी। ये भी युगल थे, इनमें बड़ा यम था—

अभवन् मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराः सह।
स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते।।
ततः सरण्व्यां जज्ञाते यम-यम्यौ विवस्वतः।
तौ चाप्युभौ यमावेव ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः।। (बृ०दे० ६.१६२,१६३)

४. बृहद्देवता में यम-यमी के पिता विवस्वान् और माता सरण्यू के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त विवरण मिलता है—

सरण्यू ने इन दोनों बच्चों (यम और यमी) को जन्म देने के अनन्तर, अपने पति की अनुपस्थिति में इन दोनों के [पालन-पोषण के लिए] इन्हें एक ऐसी नारी के सुपुर्द कर दिया जिसकी आकृति उससे मिलती थी, और स्वयं अश्वा बनकर वहाँ से चली गयी (७.१)। यह सब-कुछ न जानते हुए विवस्वान् का इस धात्री से मनु नामक पुत्र हुआ जो कि विवस्वान् के समान तेजस्वी राजर्षि [सिद्ध] हुआ।

---

१. त्वष्टा (देवताओं के वर्धकि; विश्वकर्मा)।
२. विवस्वान् की एक अन्य पत्नी भी कही गयी है जिसके चार नाम हैं— सावित्री, सूर्या, वृषाकपायी और उषा। (बृ० दे० २.११९ ख, १२० क)

किन्तु जब विवस्वान् को ज्ञात हुआ कि सरण्यू अश्वा (अश्विनी) रूप में वहाँ से चली गयी है तो वह तुरन्त उस अश्विनी के लक्षणों के अनुरूप स्वयम् अश्व बनकर उसके पीछे चले गये (७.३)। सरण्यू को जब ज्ञात हुआ कि यह अश्व वस्तुतः विवस्वान् है तो वह उसकी ओर मैथुन के लिए गयी और अश्व ने तुरन्त आरोहण किया (७.४)। उन दोनों के वेगाविष्ट होने के कारण शुक्र भूमि पर गिर गया, पर अश्वा ने सन्तति की इच्छा-वश इसे तुरन्त सूँघ लिया (७.५)। शुक्र के सूँघने मात्र से ही उसके दो कुमार उत्पन्न हुए— नासत्य और दस्र, जो कि 'अश्विनौ' नाम से ख्यात हुए (७.६)। यास्क ने निरुक्त (१२.१०) में ऋग्वेद के दो मन्त्रों [१०.१७.१,२][१] की व्याख्या में इसे विवस्वान् और त्वाष्ट्री (सरण्यू) का इतिहास (इन दोनों की कहानी) कहा है। इन दोनों मन्त्रों का देवता सरण्यू है (७.७)।[२]

५. इस प्रकार त्वष्टा की यमल सन्तान हैं— त्रिशिराः (पुत्र) और सरण्यू (पुत्री)। सरण्यू से विवस्वान् की यमल सन्तान हैं— यम और यमी। अश्विनी-रूप सरण्यू से भी अश्व-रूप विवस्वान् की यमल सन्तान है— नासत्य और दस्र जो कि 'अश्विनीकुमार' कहाते हैं। एक ही परिवार में एक-के बाद एक यमल-सन्तति की उत्पत्ति होते चले जाने का प्रतीकात्मक अर्थ क्या हो सकता है, विद्वानों के लिए यह विचारणीय विषय है।

६. इस सूक्त के अनुसार यमी ने यम से बहुत मिन्नत-समाजत की और अनुरोध किया कि वह इसके साथ योग करे— रतिकर्म में लिप्त हो जिससे इन दोनों का पिता (विवस्वान्) नपात् (पौत्र अथवा दौहित्र) को प्राप्त करे। इतना ही नहीं, यमी ने यम पर यह दोषारोपण भी किया कि तुम किसी रमणी के प्रति आसक्त हो जो तुम्हें ऐसे आलिंगन-बद्ध करती

---

१. ये दो मन्त्र हैं— (१) त्वष्टा दुहित्रे वहतुम्.........., तथा (२) अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः..........।

२. सायणाचार्य ने भी १०.१७ सूक्त के प्राक्कथन में यही इतिहास (भूतपूर्व तथ्य) प्रस्तुत किया है।

है जैसे बेल वृक्ष से लिपटी रहती है। और इसी पर यम तुनक कर बोले—''चली जा यहाँ से, और किसी अन्य पुरुष के आलिंगन-पाश में बँध जा—ऐसे, जैसे घोड़े की 'तंग' घोड़े की कमर पर, और बेल वृक्ष से चिपटी रहती है।'' फिर शान्तचित्त होकर बोले—''तू उसके मन की कामना कर और वह तेरे मन की कामना करे—इसी में तेरा कल्याण है।''

इस प्रकार इस सूक्त की समाप्ति एकदम कर दी गयी है। बाद की घटना ने क्या मोड़ लिया—कह नहीं सकते।

७. अब एक अन्य प्रश्न पर विचार करें। क्या यम और यमी को मानव जाति के पहले दो मानव, भाई-बहिन के रूप में; अथवा संभवतः भाई-बहिन के पहले यमल के रूप में, मानना चाहिए अथवा नहीं, यह विषय भी विद्वानों के लिए विचारणीय है। यों मैत्रायणी संहिता (१.५.१२) में प्रस्तुत एक आख्यान से ज्ञात होता है कि 'यम जब परलोक में चले गये तो यमी उसके वियोग में सदा विलाप करती रहती थी—वह उसे किसी भी स्थिति में भूल नहीं पाती थी। उस समय दिन का राज्य था और दिन में उसकी स्मृति भूलती न थी। प्रजापति ने दयावश रात्रि को जन्म दिया। तभी यमी यम को भुलाने में समर्थ हो सकी।' पर यह आख्यान ऋग्वेदीय उक्त आख्यान को आगे बढ़ाने की शृंखला का कार्य करता प्रतीत नहीं होता।

८. प्रश्न है कि एक नारी का इस प्रकार से प्रणयानुरोध क्या उसकी अदमनीय कामुकता के परिणाम-स्वरूप है? यदि हाँ, तो इसकी पूर्ति अपने सगे भाई से क्यों, किसी अन्य पुरुष से क्यों नहीं? ऐसा तो नहीं कि इसका कारण उसके प्रति मोहित हो जाना है, पर उसका यह तर्क तो नितान्त असंगत प्रतीत होता है कि प्रजापति ने हम दोनों को गर्भ में एकत्र रखा है, अतः दम्पती बनना हमारा जन्म-सिद्ध ही नहीं, गर्भ-सिद्ध अधिकार है।

९. और, कहीं ऐसा तो नहीं कि उस प्राचीनतम ऋग्वेदीय युग में इस प्रकार के युग्म-भ्रातृ-भगिनी के बीच मैथुन-सम्बन्ध के इक्के-दुक्के उदाहरण मिल जाते हों, और यमी भी उनसे प्रेरित होकर इस प्रकार के कामुकता-पूर्ण वचन कह उठी हो, पर यहाँ तो परस्पर दम्पती बन जाने

की चर्चा चल उठी है। तो क्या इस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध स्वीकृत हो चले थे[1] कि जिसे यम जैसा सुधारवादी व्यक्ति मिटा देना चाहता था। और, क्या ऐसे विवाह केवल उन भाई-बहनों के लिए ही स्वीकृत हो गए थे जिनका जन्म युगल-रूप में हुआ था—यदि यही स्थिति थी तो ऐसे उदाहरण बहुत विरले होते होंगे। चलिए, और कोई कारण न सही, पर एक कामुक नारी की बहक तो कारण है ही जो कि यम जैसे सुधारवादी भाई को रिझा नहीं सकी।

१०. पर यमी ने ज्यों ही प्रणय-निवेदन आरम्भ किया कि यम बोल पड़े—जानती नहीं हो यमि! ''असुर (वरुण) के वीर पुत्र तथा देवताओं के चर निरन्तर सर्वत्र घूमते रहते हैं।'' यम का यह कथन यमी के प्रति कहीं उसकी दुर्बलता का सूचक तो नहीं है? और, उनकी इस कमज़ोरी को बढ़ावा देने के लिए ही मानो यमी कह उठती है—''देखने वाले देखते रहें, तुम क्या उनसे किसी रूप में कम हो?''

११. और फिर, यम का यह कहना कि ''ऐसा युग आएगा जब बहिनें भातृ-इतर पुरुषों के साथ सह-शय्या-सम्बन्ध करेंगी''—संभवतः इस ओर संकेत करता है कि यह सम्बन्ध व्यभिचार के अतिरिक्त विवाह-रूप में भी—अल्प संख्या में ही सही—प्रचलित था अथवा प्रचलित हो चला था, और यम नामक इस ऋषि ने इस परम्परा को तोड़ने का प्रयास किया। उन्हें इस कार्य में पूर्ण सफलता मिली अथवा नहीं, पर समाज में इस दिशा में सोच अवश्य उत्पन्न हो गई होगी, और इसका प्रमाण है कि आज हिन्दू धर्म में मनुस्मृति के अनुसार उस नारी से विवाह नहीं करना चाहिए जो कि माता की [छह] पीढ़ी और पिता के गोत्र की हो—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।। (मनुस्मृति ३.५)

१२. इस आख्यान के प्रतीकात्मक अर्थ के सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को यम कहा गया है और पृथ्वी को यमी—अग्निर्वै यमः। इयं (पृथिवी) यमी। यास्क ने यम की मध्यमस्थानीय

---

१. जैन साहित्य में भी इस प्रकार की चर्चा संभवतः मिलती है।

देवों में गणना की है (निरुक्त १०.२०)। स्कन्दस्वामी ने निरुक्त की टीका में यम को आदित्य माना है और यमी को रात्रि— नित्यपक्षे तु यम आदित्यो यम्यपि रात्रिः।

१३. अधिकांश पाठक जानते हैं कि स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद का भाष्य इसके सप्तम मण्डल के ६१ वें सूक्त के दूसरे मन्त्र तक किया था। पर उन्हों ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में नियोग-प्रकरण के अन्तर्गत यम-यमी-सूक्त के दसवें मन्त्र के निम्नोक्त स्थल—"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" (१०.१०.१०) को उद्धृत करते हुए यम और यमी को क्रमशः पति-पत्नी घोषित किया है। साथ ही, इस कथन से स्वामी जी को नियोग-पद्धति सिद्ध करना अभीष्ट है कि तुम मुझ से किसी अन्य मनुष्य को पति (उपभोक्ता) रूप में स्वीकार कर।

१४. स्वामी जी की इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर ऋग्वेद के उन भाष्यकारों को, जोकि उनके अनुयायी हैं,[१] यह सब स्वीकार नहीं हुआ कि इस प्रकार के संवाद के पात्र भाई-बहिन हैं। उनकी दृष्टि में ये पति-पत्नी हैं। और साथ ही, वे यम-यमी से अभिप्राय क्रमशः दिन-रात भी मानते हैं, और प्रायः यह संकेत देते हैं कि दिन और रात क्रमशः पति और पत्नी के उपमान-स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। पर दिन और रात में परस्पर संवाद बहुत अधिक सटीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों का एक-साथ, एक ही समय में, होना संभव नहीं है। प्रतीकात्मक रूप में, आलंकारिक रूप में, प्रस्तुति भी देश और काल की अपेक्षा रखती है।

१५. आइए, अब इस विषय को थोड़ा और आगे बढ़ाएँ। यम और यमी के पिता विवस्वान् है। विवस्वान् का अर्थ है सूर्य। इनकी माता का नाम सरण्यू है। यास्क के अनुसार 'सरण्युः सरणात्' और निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य के अनुसार 'सरण्यू' नाम इसलिए है कि यह सूर्य के प्रति अविभागेन अर्थात् तद्रूप होकर फैलती है।[२] 'अविभागेन' से तात्पर्य है

---

१. पं. जयदेव विद्यालंकार, श्री ब्रह्ममुनि परिव्राजक, आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री तथा पं. बिहारीलाल शास्त्री।

२. सरण्युः इति वक्तव्यम्। सैव यदा सूर्यं प्रति अविभागेन प्रसृता भवति तदा 'सरणात्' सरण्यूरित्युच्यते। (निरुक्त, दुर्गाचार्य, १२.९.१०.)

कि सूर्य और सरण्यू में जल-मरीचिवत् अविभाज्य सम्बन्ध है— सूर्य और उसकी दीप्ति में भी यही सम्बन्ध है। सूर्य शक्तिमान् है तो सरण्यू सूर्य की क्रियाशक्ति है— शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। विवस्वान् (सूर्य) उदित हुआ कि उसकी सरण्यू (दीप्ति) सर्वत्र फैल गयी। ऐसा ही सम्बन्ध इन दोनों की सन्तति यम और यमी के बीच मान लेना उचित प्रतीत होता है। यम यदि सूर्य के प्रकाश का, दिन का, प्रतीक है, तो यमी दिन भर में सम्पाद्य विभिन्न क्रियाओं का प्रतीक प्रतीत होता है। यम और यमी को क्रमशः दिन और रात का प्रतीक मानने की अपेक्षा यह उपर्युक्त प्रतीक कहीं अधिक सटीक प्रतीत होता है कि यम यदि सूर्य-प्रकाश अर्थात् दिन का प्रतीक है तो यमी समग्र दिन में होने वाली क्रियाशीलता का। पर इन्हें पति-पत्नी का प्रतीक मानना तो किसी रूप में उचित प्रतीत नहीं होता।

१६. पं० जयदेव विद्यालंकार इस सूक्त में यम से तात्पर्य ऐसे पति से लेते हैं जो सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ है। इस धारणा की प्रेरणा उन्हें सम्भवतः यमी के इस कथन से मिली प्रतीत होती है—''बतो बतासि यम'' (१०.१०.१३) (खेद है कि तू बहुत निर्बल है)। इसके अतिरिक्त यमी का यह कथन कि हम दोनों गर्भ से ही दम्पती बनने के अधिकारी हैं, जयदेव जी को नितान्त स्वीकार नहीं है। ''गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता'' (१०.१०.५) यमी के इस कथन से जयदेव जी को अभिप्रेत है— उत्पादक (पिता) ने गर्भ धारण करने के निमित्त ही हम दोनों (स्त्री-पुरुष) को दम्पती रूप में बना दिया है, अर्थात् हमारा विवाह अवश्यंभावी है— यह पहले से नियत कर दिया है।[1] पर यह आशय बहुत ही फीका-फीका सा लगता है।

१७. सायण के अनुसार यम और यमी— यह युगल क्रमशः भाई-बहिन हैं, पर जयदेव जी आदि के अनुसार यम और यमी क्रमशः पति-पत्नी हैं, क्योंकि विवाह-बन्धन में परस्पर एक दूसरे को बाँधने वाला संस्कार 'उपयम' अथवा 'उपयमन' कहाता है, अतः इस बन्धन में बँधने वाले पुरुष और स्त्री यम और यमी हैं। (ऋग्वेद-संहिता, भाषाभाष्य, १०.१०.१)

---

१. ऋग्वेद-संहिता (भाषाभाष्य) आर्य साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित, पृ० ३७३.

१८. यमी को बहिन न मान कर पत्नी मानने का तर्क यह दिया जाता है कि 'पुंयोगादाख्यायाम्' (अष्टाध्यायी ४.१.४८) पाणिनि के इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय लगकर यम का स्त्रीलिंगवाची शब्द यमी बना जो कि पत्नी का वाची है, न कि बहिन का। बहिन कहना अभीष्ट होता तो 'यमा' शब्द प्रयुक्त होता। जैसे गोप की पत्नी = गोपी, गोप की बहिन अथवा कन्या = गोपा (टाप् प्रत्यय)। पर उक्त सूत्र से ङीष् प्रत्यय वस्तुतः स्त्रीलिंग-वाची है न कि पत्नी-वाची। जैसे महाभारत के पात्र 'कृपा-कृपी' भाई-बहन थे, न कि पति-पत्नी। 'रेवती' रेवत की पुत्री थी, न कि पत्नी (देवीभागवत पु० ७.७.४४, ४६)। इसी प्रकार श्यालः और श्याली भाई-बहिन होते हैं, न कि पति-पत्नी। यों, वस्तुतः 'यमा' शब्द तो प्रयुक्त ही नहीं होता।[1]

१९. इधर आधुनिक युग में वेद के निष्टावान् अध्येता डॉ० फ़तहसिंह ने यम-यमी शब्दों की व्युत्पत्ति यम् धातु से मानी है जिसका अर्थ है दमन करना, नियन्त्रण करना। और इस आधार पर उनके अनुसार यम नियन्त्रक अर्थात् जितेन्द्रिय (व्यक्ति) का प्रतीक है,[2] और इस प्रतीक से शायद उनका यह आशय भी है कि हर गृहस्थ पति ऋतुगामी होते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करे। उनका यह आशय आपाततः अत्यन्त सुहावना एवम् उपादेय प्रतीत होता है, पर 'यमी' शब्द भी तो यम् धातु से निष्पन्न है, पर वह तो 'जितेन्द्रिया' नहीं है। इस सूक्त में 'यमी' शब्द का प्रतीकार्थ क्या होगा— इस ओर विद्वान् आचार्य ने कोई संकेत नहीं किया।

२०. अब कुछ मन्त्रांशों की चर्चा—

—'तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्' (१०.१०.१) में 'अर्णव' से सायण को अभीष्ट है— समुद्र अथवा द्वीप जहाँ यम-यमी (भाई-बहिन)

---

१. द्रष्टव्य— श्रीसनातनधर्मालोक : ८म सुमन (पं० दीनानाथ सारस्वत) में 'यम-यमी'-सूक्त।
२. 'वेदोद्धारिणी' पत्रिका (सितम्बर, अक्तूबर, १९८५) में 'यम-यमी का ऋषित्व' नामक लेख।

एकान्त-सेवी हैं। पर इधर जयदेव जी को 'अर्णव' से अभीष्ट है— सागर-तुल्य दीर्घ जीवन, जिसे कि विवाहित दम्पती को पार करना है।

—**उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य** (१०.१०.३) में '**एकस्यचित् मर्त्यस्य**' इस अधूरे कथन को सायण ने यों पूरा किया था—'एक विशिष्ट मर्त्य अर्थात् प्रजापति जिसके द्वारा स्व-दुहिता के साथ सम्भोग प्रख्यात घटना है।' पर यह वाक्य-पूर्ति सचमुच 'दूर की कौड़ी' लगती है।

इधर ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक '**एकस्यचित् मर्त्यस्य**' इन दो शब्दों को पूर्ववर्ती वाक्य से जोड़ते हुए अर्थ करते हैं— पत्नी कहती है कि वे अमर दीर्घायु जन ऐसा अवश्य चाहते हैं कि एक सन्तान तो श्रेष्ठ पुत्र के रूप में हो ही। 'त्यजसः' का अर्थ सायण ने 'त्याज्य' (अगम्य) किया है, और ब्रह्ममुनि जी ने त्याग किया है— अवश्य ही गर्भाधान द्वारा मेरे प्रति त्याग हो। 'त्याग' से उनका आशय संभवतः 'रेतःप्रक्षेपण' से है। इस प्रकार दोनों व्याख्याकारों की अपनी-अपनी दृष्टि है। हाँ, यह अलग बात है कि प्रजापति और उनकी दुहिता के बीच समागम-प्रसंग न केवल स्वामी दयानन्द जी के अनुयायियों को, अपितु आज हम सब को अरुचिकर लगता है। यों, आलंकारिक रूप में भले ही कुछ लोग इससे कोई आशय निकाल लेते हों।

—'**न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम**' (१०.१०.४) यम के इस कथन का अर्थ सायण के अनुसार यह है— हे यमि! हम ने प्रजापति के समान दुहिता-सम्भोग-रूप कोई कृत्य पहले नहीं किया— यह हम सत्य कहते हैं, झूठ नहीं कहते। पर इधर आधुनिक युग में ब्रह्ममुनि जी के अनुसार "न यत्पुरा.....रपेम" का अभिप्राय है कि गर्भाधान के लिए हमने जो कुछ किया है उसे हम वेद-विरुद्ध नहीं कह सकते— यह सत्य है। और जयदेव जी ने इसका अर्थ किया है— ऐसा कौन सा उपाय है जो हमने नहीं किया? अर्थात् हर प्रकार की चिकित्सा कर चुके हैं।

इसी प्रसंग में उल्लेख्य है कि मीमांसाभाष्यवार्तिककार के अनुसार प्रजापति शब्द से तात्पर्य है सूर्य, क्योंकि यह प्रजा का पालन करता है,[१]

---

१. देखिए पृष्ठ १२१, पा० टि० २

और ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'दुहिता' शब्द से द्युलोक अथवा उष:काल अभिप्रेत है। इस प्रकार 'प्रजापति अपनी दुहिता के पीछे भागे'— इस कथन का आशय है कि सूर्य, द्यूलोक अथवा उष:काल के होते ही, भागता-फिरता है।[1] मीमांसाभाष्य- वार्तिककार ने इसे और भी स्पष्ट किया है कि सूर्य अरुणोदय वेला में उषा को उत्पन्न करता है। उषा सूर्य के आगमन के पश्चात् पैदा होती है, अत: यह सूर्य की दुहिता कहाती है। उषा में अरुण-किरण रूप बीज-निक्षेपण के कारण यहाँ स्त्री-पुरुष-योग समझ लिया जाता है।[2]

—'गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा, सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ।' (१०.१०.४) यम के इस कथन का अर्थ यास्क ने यों किया है—'यम-यमी का पिता गन्धर्व, और माता सरण्यू— ये दोनों अप् (जल अथवा अन्तरिक्ष) में स्थित हैं, तथा हमारे उत्पत्ति-स्थान हैं, अत: हमारी 'जामि' अर्थात् बन्धुता उत्कृष्ट है। इस कारण हम परस्पर समागम नहीं कर सकते।'

पर इधर ब्रह्ममुनि जी यम (पति) के इस कथन का अर्थ करते हैं—'हम दम्पती अन्तरिक्ष में स्थित हैं अर्थात् जल-प्रवाह की नाईं निरन्तर गतिशील हैं।' और, जयदेव जी को अभिप्रेत है कि 'गन्धर्व अर्थात् गम्या भूमि का धारयिता पुरुष जलीय अंशों से तथा नारी भी जलीय परमाणुओं से युक्त है— यही हम दोनों में 'जामि' अर्थात् महान् दोष है।' इसी कारण एक प्रकृति ही के स्त्री और पुरुष होने से हमारी सन्तान उत्पन्न नहीं होती।

---

१. प्रजापतिर्वै स्वदुहितरमभ्यधावद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितंभूतामभ्यैत्। (ऐतरेय ब्राह्मण)
संभवत: इसी कथन के आधार स्वामी दयानन्द ने लिखा है— सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति। तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। (ऋ०भा०भू०, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय)

२. प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य उच्यते। स च अरुणोदय-वेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत्। सा तदागमनादेवोपजायते इति तद्-दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां च अरुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः। इति तत्त्वम्। (मी०भा०वा०)

जयदेव जी के इस कथन का आशय क्या है, मुझे स्पष्ट नहीं है। संभवतः, वे इससे कहना चाहते हैं कि रक्त में एक-समान तत्त्व वाले स्त्री-पुरुषों में रति-सम्बन्ध निषिद्ध है, अथवा यह कि निकट-सम्बन्धियों में पति-पत्नी- सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए। यदि यह आशय है तो क्या जयदेव जी को भी यह स्वीकार है कि यम-यमी भाई-बहिन न सही, पर निकट सम्बन्धी तो थे ही? इस प्रकार 'परमं जामि' का अर्थ यास्क के यहाँ 'उत्कृष्ट बन्धुता' है, पर स्वामी जी के अनुयायियों के यहाँ इसका अर्थ 'महान् दोष' है। किन्तु जन् धातु से निष्पन्न 'जामि' का अर्थ 'बन्धुता' करना हमें उचित लगता है, न कि 'महान् दोष' अर्थ। अस्तु! इसके अतिरिक्त इस मन्त्र में प्रयुक्त 'अप्' (जल अथवा अन्तरिक्ष) शब्द से इन दोनों व्याख्याताओं को क्या अभिप्रेत है— यह भी विद्वानों के लिये विचारणीय विषय है।

—'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि'। (१०.१०.१०) यम बोले— एक युग आएगा जब जामयः (बहिनें) अजामि (भाई से— भाई द्वारा करणीय कर्म से— इतर) कर्म (समागम) करेंगी। पर इधर जयदेव जी के अनुसार पति कहता है— वे श्रेष्ठतम वर्ष आएँ, जिनमें जामयः (पुत्रोत्पत्ति में समर्थ कन्याएँ अथवा वधुएँ) अजामि (निर्दोष सन्तानों) को कृणवन्=जन्म दें। वस्तुतः 'अजामि' (न + जामि) शब्द नपुंसक-लिंग प्रयोग में 'कर्मन्' जैसे शब्द का लक्षक है, 'सन्तति' आदि का नहीं। यदि सन्तति का वाचक होता तो 'अजामिम्' प्रयोग होता। अतः इसका अर्थ 'निर्दोष सन्तान' उचित प्रतीत नहीं होता।

— बहिन का 'इसरार' हो और भाई का 'इनकार' हो, तो इनकार का स्पष्ट कारण 'सदाचरण-प्रियता' है, पर यदि पत्नी का इसरार हो और पति का इनकार तो इस इनकार का स्पष्ट कारण है— सन्तानोत्पत्ति-क्षमता का अभाव। अतः **'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'** (१०.१०.१०), अर्थात् तुम मुझसे भिन्न किसी अन्य व्यक्ति (उपभोक्ता) की कामना करो, यह वाक्य सायण के अनुसार सदाचारी और समाज-सुधारक भाई का है, पर स्वामी दयानन्द जी के अनुसार यह सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ उस पति का है [जो

नियोग-पद्धति द्वारा] पुत्रोत्पत्ति का इच्छुक है। किन्तु इसी सूक्त में ही स्वयं उसकी तथाकथित 'पत्नी' उस पर दोषारोपण करती है कि वह अन्य-नारी-संलग्न है। पत्नी के इस कथन से 'पति असमर्थ पुरुष है' यह द्योतित नहीं होता।

—इसके पश्चात् यमी खीझते हुए कहती है—'किं भ्राता......निगच्छात्' (१०.१०.११) 'वह भाई भी क्या कि जिसके होते बहिन अनाथ हो जाए और वह बहिन भी क्या जिसके होते भाई दुःख उठाए'—यह अर्थ सायण के अनुसार है। पर जयदेव जी यहाँ 'काकु' का आश्रय लेते हैं। उनके अनुसार पत्नी अपने पति से कह उठती है—'किसी अन्य पुरुष को पति-रूप में चाहने को कहते हो, तो क्या तुम मेरे भाई लगते हो, जिस कारण तुम मेरे 'अनाथ' हो रहे हो अर्थात् पति नहीं हो रहे हो। क्या मैं तुम्हारी बहिन हूँ कि बाध्य होकर चली जाऊँ?'

इस प्रकार स्वामी दयानन्द जी और उनके अनुयायी पूरी आस्था के साथ ऋग्वेद को इस कलंक से मुक्त कर देना चाहते हैं कि इसमें एक 'काममूता' (१०.१०.११) (कामाविष्टा) के विषय में वर्णित है कि वह अपने भाई से—सन्तानोत्पत्ति के लिए सही, प्रणय-निवेदन करती है। किन्तु पात्रों का तथा कुछ स्थलों के अर्थ का परिवर्तन करते हुए भी हमारे विचार में स्वामी जी तथा उनके अनुयायी ऋग्वेद जैसे महान् एवं गम्भीर ग्रन्थ के इस हल्के स्तर को दूर नहीं कर सके।

पर इधर कोई भी सुबुद्ध पाठक यमी के इस हास्यास्पद आधार पर भी तो उसके प्रणय-निवेदन के प्रति कभी सहमत नहीं हो सकता कि वह अपनी माता के गर्भ में अपने भाई के साथ नौ मास तक इक्ट्ठे रही है। आश्चर्य है कि इस प्रकार का कथन कहने वाली भोली-भोली अपनी बहिन को यम जैसा समझदार व्यक्ति समझाता नहीं है कि गर्भावस्था में एक साथ रहने के कारण दो भ्रूण, उत्पन्न होने के बाद, पति-पत्नी बनने

---

१. आज की वैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो माता-पिता के क्रमशः 'एक्स' और 'वाई' क्रोमोसोमों के मेल से पुत्र, और 'एक्स' और 'एक्स' क्रोमोसोमों के मेल से पुत्री उत्पन्न होती है।

के अधिकारी नहीं बन जाते, अपितु वे एक ही माता-पिता के क्रमशः रज (अण्ड) और वीर्य के मेल से निर्मित होने के कारण भाई-बहिन ही कहाते हैं।[१]

उधर सायण और इधर स्वामी जी— वास्तविक अर्थ प्रस्तुत करने की दृष्टि से पलड़ा तो निःसन्देह सायण का भारी है। पर स्वामी जी प्राचीन भारतीय संस्कृति पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने देना चाहते थे। इसलिए वह श्रद्धा, निष्ठा और विश्वास के साथ सूक्त के स्वर को अन्य दिशा में बदल देने का पूर्ण प्रयास करते हैं। पर इस प्रकार के प्रयासों से अर्थ का 'अनर्थ' भी तो हो सकता है।

२१. इधर वर्तमान युग में डॉ. सत्यव्रत राजेश ने 'यम' से आशय 'जीव' लिया है और 'यमी' से 'प्रकृति'। जीव और प्रकृति के मेल से संसार की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति के लिए ही प्रकृति जीव से आग्रह करती है कि वह इससे समागम करे। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा है कि प्रकृति जीव का नियन्त्रण करने वाली है[१] (ऐसे, जैसे कोई सदगृहिणी अपने पति पर नियन्त्रण रखती है)। पर इस अर्थ का निर्वहण करने में विद्वान् आचार्य महोदय को पर्याप्त खींचतान करनी पड़ी है।

२२. पर हमें तो सायण-भाष्य के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में संभवतः भाई-बहन में —विशेषतः यमल भाई-बहन में— विवाह-सम्बन्ध की प्रथा रही होगी या इस प्रथा के चलने की संभावना बन चली होगी, जिसे कि जागरूक एवं समाज-सुधारक यम ने —यों कहिए वैदिक ऋषि ने —इस आख्यान के माध्यम से दूर करने का प्रयास किया, और इसी सूक्त का ही सबल प्रभाव और सुपरिणाम है कि वैदिक काल से लेकर आज तक हिन्दू-समाज के अन्तर्गत निकट रिश्तों में विवाह-सम्बन्ध नहीं होता— यह महत्त्व निःसन्देह किसी भी रूप में कम नहीं है।

---

१. 'यम-यमी-सूक्त की आध्यात्मिक व्याख्या' (आर्यसमाज, कीरतपुर, बिजनौर)

६. अक्ष-सूक्त

(ऋग्वेद १०.३४)

चतुर्दशर्चस्यास्य सूक्तस्यैलूषः कवषो मौजवानक्षो वा ऋषिः। प्रथमा-सप्तमी-नवमी-द्वादशीनामृचामक्षाः, द्वितीयादि-पञ्चानामष्टमी-दशम्येकादशी-चतुर्दशीनाञ्चाक्ष-कितवनिन्दा, त्रयोदश्याश्च कृषिर्देवताः। प्रथमादीनां षड्ऋचामष्टम्यादिसप्तानाञ्च त्रिष्टुप्, सप्तम्याश्च जगती छन्दसी।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल का यह ३४वाँ सूक्त है। इस सूक्त में १४ ऋचाएं हैं। इस सूक्त का ऋषि ऐलूष कवष अथवा मौजवान् अक्ष है।

इस सूक्त के मन्त्र-संख्या १, ७, ९, १२ का देवता अक्ष है, मन्त्र-संख्या २-६, ८, १०, ११, १४ का देवता 'जुआरी की निन्दा' है, तथा १३वें मन्त्र का देवता कृषि है। इस सूक्त के मन्त्र-संख्या १-६ तथा ८-१४ त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं और ७वां मन्त्र जगती छन्द में।

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।।

प्रावेपाः। मा। बृहतः। मादयन्ति। प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृतानाः।
सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः। विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान्।।

अन्वयः— प्रावेपाः प्रवातेजाः इरिणे वर्वृतानाः बृहतः [अक्षाः] मा मादयन्ति। मौजवतः सोमस्य भक्षः इव विभीदकः जागृविः मह्यम् अच्छान्।

विशिष्ट-पदानि— प्रावेपाः = कम्पनशीलाः। प्रवातेजाः = प्रवणे देशे जाताः = अधोदेशे गच्छन्तः। इरिणे = आस्फारे, द्यूत-फलके। वर्वृतानाः = प्रवर्तमानाः। बृहतः = महतः। भक्षः = आस्वादयिता, आह्लादक इत्याशयः। विभीदकः = विभीतक-नामकस्य 'बहेड़ा' इत्याख्यवृक्षस्य यस्य फलं, तद् इव अक्षः इति यावत्। जागृविः = जागरितः प्राणी। अच्छान् = अचच्छदत्, आह्लादयति।

[कश्चिद् द्यूतकरः कथयति-] अक्षाः यदा मम अक्ष-कितवस्य हस्ते कम्पन्ते (कम्पमानाः निनदन्ति), तदनन्तरं च यदा ते अधोदिशां गच्छन्तः आस्फारे (द्यूत-फलके) पतित्वा लुण्ठन्ति, तदा ते अति शोभन-फलानि इव मां द्यूतकारं हर्षयन्ति। एषः अक्षः मां जागरित-प्राणी इव द्यूत-क्रीडने प्रेरयति। अपि च, मूजवत्पर्वते उत्पन्नस्य सोमस्य इव एषो विभीदकः (अक्षः) माम् आह्लादयति।

[कोई जुआरी कहता है– जुआ खेलने के] पाँसे [जब मुझ जुआरी के हाथ में] काँपते हैं, नीचे [भूमि] की ओर जाते हुए आस्फार (द्यूत-फलक, फड़) पर जाकर लुढ़कते हैं, तो वे एक बड़े अर्थात् अति सुहावने फल के समान [मुझ जुआरी को] हर्षित करते हैं। विभीदक (बहेड़ा) नामक पेड़ के फल[१] के समान यह पाँसा मुझे [जुआ खेलने के लिए ऐसे प्रेरित] करता है जैसे कि यह कोई जीता-जागता प्राणी हो तथा ऐसे आनन्द देता है जैसे कि यह मूजवत् पर्वत पर उत्पन्न स्वादु एवं मादक सोम हो।

(आपततः ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में अक्ष (जुए) की स्तुति की गयी है, पर शाब्दी तथा आर्थी व्यंजना के माध्यम से यहाँ अक्ष की निन्दा ही आभासित होती है– यह प्रवेपा (कंपाने वाला) है, प्रवातेजाः (अधोगति को ले जाने वाला) है। अन्ततः यह हमारे जीवन को ऊसर भूमि पर लुढ़का देगा।। १।।

A gambler says: The dice, rattling in my hand, while falling down, roll and then come to standstill on the dice-board, they exhilarate me much. The die which looks like the fruit of Belleric myrobalan in its shape, persuades me to gamble: as if it is an animate creature. The die makes me cheerful as the taste of Soma grown on Mūjavat mountain [delights the gods]. (1)

---

१. हरीतकी (हर्र), बहेड़ा तथा आँवला इन तीनों फलों के मेल से 'त्रिफला' नामक प्रसिद्ध ओषधि बनती है।

न मां मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।।२।।

न। मा। मिमेथ। न। जिहीळे। एषा। शिवा। सखिऽभ्यः। उत। मह्यम् आसीत्।
अक्षस्य। अहम्। एकऽपरस्य। हेतोः। अनुऽव्रताम्। अप। जायाम्। अरोधम्।।

अन्वयः— एषा मा न मिमेथ, न जिहीळे, सखिभ्यः उत मह्यं शिवा आसीत्। एकपरस्य अक्षस्य हेतोः अहम् अनुव्रतां जायाम् अपारोधम्।

विशिष्ट-पदानि— मिमेथ = तुदति। जिहीळे = अनादरति। शिवा = कल्याणकारिणी। अनुव्रताम् = पतिव्रताम्। अपारोधम् = परित्यक्तवान्।

एषा मम पत्नी न मां कदाचिद् अतुदत्, न च असौ अनादरत् माम्। सर्वेभ्यः मम मित्रेभ्यः मह्यं चापि एषा सुखकरी आसीत्। परम् केवलम् अक्षस्य हेतोः एव अहं पतिव्रतां तां परित्यक्तवान्, यद्वा तामहं द्यूतकर्मणि हारितवान्।।२।।

मेरी पत्नी ने मुझे कभी न तो दुःख दिया है और न ही मेरा निरादर करती है। [इसके विपरीत] वह मेरे मित्रों और मेरे लिये सुखकारी है। पर मैं हूँ कि एकमात्र जुए [की लत] के कारण उसे छोड़ बैठा हूँ, अथवा जुए में उसे [भी] हार गया हूँ।।२।।

My wife has never been having any ill feelings against me, nor has been humiliating me. Kind and gracious was she to me and to my friends; yet I have deserted such a devoted and faithful wife for the sake of a die. (2)

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।।

द्वेष्टि। श्वश्रूः। अप। जाया। रुणद्धि। न। नाथितः। विन्दते। मर्डितारम्।
अश्वस्यऽइव। जरतः। वस्न्यस्य। न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम्।।

अन्वयः— श्वश्रूः द्वेष्टि। जाया अपरुणद्धि। नाथितः मर्डितारं न विन्दते। जरतः वस्न्यस्य अश्वस्य इव अहं कितवस्य भोगं न विन्दामि।

विशिष्ट-पदानि— अपरुणद्धि = गर्हति। नाथितः = दुःखितः। मर्डितारं = सुखयितारम्। जरतः = वृद्धस्य। वस्न्यस्य = वत्स्नं = मूल्यम्, तद्-योग्यस्य। कितवस्य = धूर्तस्य, द्यूतव्यसनिन इत्याशयः। भोगम् = सुखम्।

मम श्वश्रूः मां द्वेष्टि। मम पत्नी मां गर्हति, दूरं गच्छति मत्तः इत्याशयः। दुःखितः न कञ्चित् सुखयितारं लभते— [धनाभावेन यदाऽहं] दुःखितो भवामि [तदा याचमानम् अपि मां न कोऽपि धन-प्रदानेन] सुखयति। अहं मूल्यवान् वृद्धः अश्व इव न कञ्चित् भोगं लभे— यथा वृद्धस्य मूल्यवतोऽपि अश्वस्य स्वामी तस्मै तद्योग्यं खाद्य-पदार्थं न ददाति, इत्थम् अहं कितवोऽपि अस्मिन् संसारे न किञ्चित् सुखं प्राप्नोमि कस्माच्चिदपि जनात्।।३।।

मेरी सास मुझसे द्वेष रखती है—उसके घर में जाने पर वह मेरा सम्मान नहीं करती। मेरी पत्नी मुझसे घृणा करती है—मुझसे दूर भागती है। [जब भी मैं धनाभाव के कारण] दुःखी हो जाता हूँ, तो माँगने पर भी कोई मुझे धन देकर सुखी नहीं करता। कीमती बूढ़े घोड़े के समान मेरा निरादर होता है—मुझे उसी के समान समझा जाता है कि मेरा कोई मूल्य नहीं है। मुझ जुआरी को मेरे योग्य किंचित् भी सुख नहीं मिलता।।३।।

Now, my mother-in-law has no respect for me; my wife holds me aloof. None has any compassion for a pennyless person like me. I have now become like an old and feeble horse though most costly, but has no value in the market. I, being a gambler, enjoy no comfort in my life. (3)

अ॒न्ये जा॒यां परि॑ मृशन्त्यस्य॒ यस्यागृ॑ध॒द्वेद॑ने वा॒ज्य१॒॑क्षः।
पि॒ता मा॒ता भ्रात॑र एनमाहु॒र्न जा॑नीमो॒ नय॑ता ब॒द्धमे॒तम्।।४।।

अ॒न्ये। जा॒याम् परि॑। मृ॒श॒न्ति॒। अ॒स्य॒। यस्य॑। अगृ॑धत्। वेद॑ने। वा॒जी। अ॒क्षः।
पि॒ता। मा॒ता। भ्रात॑रः। ए॒न॒म्। आ॒हु॒ः। न। जा॒नी॒म॒ः। नय॑त। ब॒द्धम्। ए॒तम्।।

अन्वयः— यस्य वेदने वाजी अक्षः अगृधत्, अस्य जायाम् अन्ये परिमृशन्ति। पिता माता भ्रातर एनम् आहुः न जानीमः, एतं बद्धं नयत।।४।।

विशिष्ट-पदानि— वेदने = धने। वाजी = अश्वः, बलशाली इत्याशयः। अगृधत् = आकाङ्क्षति (लट्)। परिमृशन्ति = स्पृशन्ति।

अश्व इव बलशाली अक्षः कितवस्य धनं प्राप्तुम् अभिलषति— कितवः द्यूतकर्मणि अनवरतं पराजितो जायते इत्याशयः। अन्ये [कितवाः] अस्य पत्नीं दुर्भावनया स्पृशन्ति अस्याः वस्त्र-केशादीन् स्प्रष्टुम् इच्छन्ति। तस्य जनकः, जननी, सहोदरा इत्यादयः सर्वे कथयन्ति यद् वयं एतं जनं न जानीमः। [हे कितवाः! एतस्माद् जितं धनं ग्रहीतुम्] एनं [रज्ज्वा] बद्ध्वा [कुत्रापि] नयत।।४।।

घोड़े के समान बलशाली पाँसा जुआरी का अधिक से अधिक धन प्राप्त करना चाहता है— जुआरी अपना धन निरन्तर हारता चला जाता है। अन्य जुआरी इस जुआरी की पत्नी के वस्त्र, केश आदि को छूना चाहते हैं। इसके माता, पिता, भाई [आदि सभी सगे-सम्बन्धी] अन्य द्यूतकारों से इसके विषय में कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते। [इससे अपना धन वसूल करना चाहते हो तो] इसे [कहीं भी रस्सी से] बाँधकर ले जाओ।।४।।

The die, potent like a horse, covets the riches of a gambler. Other people want to touch [the hair and the clothes of] the wife of this wretched man. Even his father, mother and brothers say, "We know him not, take him away bound", [whenever any creditor comes to them.] (4)

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।।५।।

यद्। आऽदीध्यै। न। दविषाणि। एभिः परायत्ऽभ्यः। अव। हीये। सखिभ्यः।
निऽउप्ताः।च।बभ्रवः।वाचम्।अक्रत।एमि।इत्।एषाम्।निःऽकृतं।जारिणीऽइव।।

अन्वयः— यद् आदीध्ये एभिः न दविषाणि, परायद्भ्यः सखीभ्यः अवहीये। न्युप्ताः बभ्रवः वाचम् अक्रत, एषां निष्कृतं जारिणी इव एमि।

विशिष्ट-पदानि— आदीध्ये = ध्यायामि, विचारयामि। दविषाणि = दूषये, परितपामि, यद्वा देविष्यामि। परायद्भ्यः=प्रत्यागच्छद्भ्यः। अवहीये= ऽवमानितो भवामि। न्युप्ताः = क्षिप्ताः। निष्कृतम् = नियतं स्थानम्।

यदा यदा एतद् विचारयामि यद् अहम् एभिः [अक्षैः] न परितपामि— द्यूतक्रीडया आत्मानं दुःखितं न करिष्यामि, द्यूतक्रीडां परित्यक्ष्यामि इत्याशयः, तदा तदा एव [क्रीडास्थले मां] प्रति आगच्छद्भ्यः कितवेभ्यः अवमानितः भवामि [यन्मया एतादृशा मनोमोहिका द्यूतक्रीडा परित्यक्ता।] यदा च तैः कितवैः बभ्रुवर्णाः अक्षाः द्यूत-फलके क्षिप्ताः [मनोहरं] नादं कुर्वन्ति [तदाऽहम् एतेन नादेन आकृष्टः सन्] एषाम् अक्षाणां नियतं स्थानं (क्रीडास्थलीं) तथा गच्छामि यथा स्वैरिणी स्व-संकेतस्थानं प्रति गच्छति।। ५।।

जब जब मैं यह विचार करता हूँ कि अब मैं इन अक्षों से दुःखी न होऊँ— द्यूतक्रीड़ा से अपने-आप को व्यथित न करूँ, तब तब द्यूतक्रीड़ा-स्थल पर आ पहुँचे जुआरी मुझे चिढ़ाते हैं [कि मैं इतना मोहक खेल खेलने से वंचित हो गया]। और, ज्यों ही वे लोग भूरे रंग वाले पाँसे फेंकते हैं, तो मैं [इन पाँसों के नाद से खिंचा चला जाता हुआ] जूएघर में ऐसे पहुँच जाता हूँ जैसे स्वैरिणी अपने संकेत-स्थल पर जा पहुँचती है।। ५।।

Whenever I think that I should not get myself in trouble by playing with these dice, I am condemned by other gamblers [that I have abondened such a pleasant game.] Whenever I hear the rattling sound of the tawny dice thrown on the dice-board [by the gamblers,] I hasten to the accustomed place of these [dice] as a harlot does [to an assignation.] (5)

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि।।

सभाम्। एति। कितवः। पृच्छमानः। जेष्यामि। इति। तन्वा। शूशुजानः।
अक्षासः। अस्य। वि। तिरन्ति। कामं। प्रतिऽदीव्ने। दधतः। आ। कृतानि।।

अन्वयः— तन्वा शूशुजानः कितवः जेष्यामि इति पृच्छमानः सभाम् एति। प्रतिदीव्ने कृतानि दधतः अस्य कामम् अक्षासः वितरन्ति।

विशिष्ट-पदानि— शूशुजानः = शोशुचानः = दीप्यमानः। प्रतिदीव्ने = प्रतिदेवित्रे, पराजिताय प्रतिद्वन्द्विने। कृतानि = देवनाय (द्यूतकर्मणे) उपयुक्तानि कौशलानि। कामम् = द्यूतक्रीडनेच्छाम्। अक्षासः = अक्षाः।

शरीरेण दीप्यमानः (भाविविजयोल्लासेन दीप्त इति यावत्) द्यूतकारः [अस्ति कश्चित् अत्र धनिकः यम् अद्याहं] जेष्यामि इति पृच्छमानः (आत्मानं विकत्थमान इत्याशयः) द्यूतस्थलं प्रविशति। असौ यदा पराजिताय कितवाय उपयुक्तानि कौशलानि प्रयुङ्क्ते, तदा अक्षाः अस्य द्यूतक्रीडनेच्छां वर्धयन्ति।।६।।

शरीर से सजा-सँवरा (भावि-विजयोल्लास में डूबा हुआ) द्यूत-व्यसनी [है कोई यहाँ धनिक? जिसे कि मैं आज जीतूँगा—] यह पूछता हुआ (डींगें हाँकता हुआ) द्यूत-स्थल में प्रवेश करता है। इसके बाद जब वह [कल्पना में] प्रतिद्वन्द्वी जुआरी को पराजित करने के लिए उपयुक्त कौशलों को प्रयोग में लाता है, तो पाँसे इसकी द्यूत-क्रीडनेच्छा को और भी अधिक बढ़ा देते हैं।।६।।

The gambler, radiant in person, goes to the gaming table, asking "what richman is there here: I shall beat him." The dice increase his passion for play as he practices the arts of [gambling] against his adversary. (6)

अक्षास इदंकुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा।।

अक्षासः। इत्। अङ्कुशिनः। नितोदिनः। निऽकृत्वानः। तपनाः। तापयिष्णवः। कुमारऽदेष्णाः। जयतः। पुनःऽहनः। मध्वा। संपृक्ताः। कितवस्य। बर्हणा।।

अन्वयः— अक्षासः इत् अङ्कुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः। जयतः [कितवस्य] कुमारदेष्णाः। मध्वा संपृक्ताः बर्हणा कितवस्य पुनर्हणः।

विशिष्ट-पदानि— नितोदिनः = (नितोदितवन्तः) व्यथयितारः। निकृत्वानः = छेत्तारः, विनाशिनः)। तपनाः = संतापकाः। तापयिष्णवः = संतापशीलाः। कुमारदेष्णाः = कुमाराणां दातारः। मध्वा संपृक्ताः = मधुरनादेन युक्ताः। बर्हणा = परिवृद्धेन। पुनर्हणः = हन्तारः।

[कल्पनायां विजेतुः द्यूतकरस्य] अक्षाः तु [प्रतिद्वन्द्विनः द्यूतकारस्य] नियन्त्रकाः सन्ति, तेषां व्यथयितारः विनाशकारिणः च भवन्ति। तेभ्यः संतापकाः, [तेषां परिवार-जनेभ्यः] संतापशीलाः च भवन्ति। एते अक्षाः जितवतः कितवस्य कुमार-दातारः भवन्ति— द्यूते विजयवते मनुष्याय एते अक्षाः धन-धान्यादि लम्भयन्तो धनाद्यर्जयतां सुपुत्राणां दातारः इव जायन्ते इत्याशयः। [यदा अक्षाः क्षिप्यन्ते तदा ते] मधुना (मधुरनादेन) संयुक्ताः (गुञ्जिताः) इव जायन्ते। एते अक्षाः प्रतिद्वन्द्वि-द्यूतकारस्य परिवृद्धेन सर्वस्व-हरणेन प्रतिकितवस्य पुनः [पुनः] हन्तारः जायन्ते।।७।।

[कल्पना में विजेता द्यूतकर के] पाँसे प्रतिद्वन्द्वी द्यूतकार को नियन्त्रण में रखे रहते हैं। उसे व्यथा पहुँचाते हैं, उसका विनाश करते हैं। उसे सन्ताप देते हैं। उसके [परिवार के लोगों] को दुःखी और परेशान करते हैं। ये पाँसे तो मानो विजयी द्यूतकर के कमाऊ बेटों के समान होते हैं। [जब पाँसे फेंके जाते हैं तब ये] मधुर गुंजार करते हैं। पराजित जुआरी का सर्वस्व हरण करते हैं— उसका धन अधिक-से-अधिक लूटते हैं और इस प्रकार उसका बार-बार हनन करते हैं।।७।।

The dice of the winning players are so to say the controller of his adversary; they cause him afflicted; destroy and torture him, and become painful [for him and also for all his family-members.] The dice for a winner player are like his [earning] sons; they please him with their sweet voice, and plunder all the riches of his rival and thus as if slaughter him many a time. (7)

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति।।८।।

त्रिऽपञ्चाशः। क्रीळति। व्रातः। एषाम्। देवःऽइव। सविता। सत्यऽधर्मा।
उग्रस्य। चित्। मन्यवे। न। नमन्ते। राजा। चित्। एभ्यः। नमः। इत्। कृणोति।।

अन्वयः— एषां त्रिपञ्चाशः व्रातः सत्यधर्मा सविता देवः इव क्रीडति। उग्रस्य चित् मन्यवे न नमन्ते । एभ्यः राजा चित् नमः इत् कृणोति।

विशिष्ट-पदानि— व्रातः = संघः। सत्यधर्मा = सर्वस्य जगतः प्रेरकः। मन्यवे = क्रोधाय।

एषाम् अक्षाणां त्र्यधिकपञ्चाशत् (५३) संख्याकः संघः आस्फारे (द्यूत-फलके) इत्थं विहरति यथा सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देवः [आकाशे विहरति]। (आक्षिकाः संभवतः त्र्यधिकपञ्चाशता अक्षैः क्रीडन्ति स्म तेषु युगेषु।) [यदा एते अक्षाः आस्फारे विहरन्ति तदा] ते क्रूरस्य अपि जनस्य क्रोधाय न नमन्ते (आक्षिकाः क्रूरस्य अपि दण्डाधिकारिण आदेशं न मन्यन्ते यद् द्यूतक्रीडा मा कर्तव्येति।) द्यूत-क्रीडा-समये तु राजा (सकलजगतः शासकः ईश्वरो वा) अपि तेभ्यः अक्षेभ्यः नमस्कारं करोति— आक्षिकान् न किञ्चिदपि वक्तुं शक्नोति।।८।।

तरेपन संख्या के अक्षों का संघ, घुमाकर फेंके जाने पर, फड़ पर ऐसे विहार करता है, जैसे सकल जगत् का प्रेरक सूर्य देव आकाश में विहार करता है। (संभवतः उस युग में ५३ अक्षों से जुआ खेला जाता होगा।) [फड़ पर विहार करते ये अक्ष] किसी भी क्रूर व्यक्ति के क्रोध के आगे नहीं झुकते—क्रूर से क्रूर दण्डाधिकारी भी जुआरियों को जूआ खेलने से नहीं रोक सकता । इन अक्षों को तो राजा अथवा सकल जगत् का शासक भी नमस्कार करता है—वह आक्षिकों को कुछ भी नहीं कह सकता, अर्थात् वह भी यदि जूआ खेले तो पाँसे उसे भी रंक बना सकते हैं।।८।।

The heap of fifty three dice merrily moves on the dice-board as the observant sun god [roams on the sky.] The dice do not bow before the wrath of anyone else. They are so violent that even a king himself pays homage and reveres them. (8)

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति।।९।।

नीचा। वर्तन्ते। उपरि। स्फुरन्ति। अहस्तासः। हस्तऽवन्तम्। सहन्ते।
दिव्याः। अङ्गाराः। इरिणे। निऽउप्ताः। शीताः। सन्तः। हृदयम्। निः। दहन्ति।।

अन्वयः— नीचाः वर्तन्ते, उपरि स्फुरन्ति, अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। दिव्याः अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति।

विशिष्ट-पदानि— इरिणे = आस्फारे, द्यूत-फलके। सहन्ते = [पराजितं-कृत्वा] अभिभवन्ति। दिव्याः = दिवि-भवाः, द्युतिमन्त इत्याशयः। न्युप्ताः = निक्षिप्ताः।

एते अक्षाः निम्नाभिमुखाः, नीचीन-स्थले वर्तमाना अपि [क्षेपण-समये चपलतया] उपरिदिशायाम् उच्छलन्ति, यद्वा पराजयाद् भीतानां द्यूतकराणां हृदयस्य उपरि स्फुरन्ति। हस्तरहिता अपि एते हस्तवतः द्यूतकरान् सहन्ते, [पराजयकरणेन] अभिभवन्ति इत्याशयः। अङ्गार-सदृशाः द्युतिमन्तः एते अक्षाः यदा [शीतले] द्यूत-फलके क्षिप्यन्ते, तदा ते शीत-स्पर्शाः सन्तोऽपि [द्यूतकराणाम्] अन्तःकरणं निर्दहन्ति— पराजय-जनित-सन्तापेन भस्मी-कुर्वन्ति।।९।।

अक्षों का मुख यद्यपि नीचे की ओर रहता है, अथवा ये भूतल पर नीचे की ओर रखे द्यूत-फलक पर लुढ़के पड़े होते हैं, पर जब इन्हें फेंका जाता है तब ये चपलता से ऊपर की ओर उछलते हैं, अथवा पराजय से डरे हुए द्यूतकारों के हृदयों के ऊपर उछलते हैं। इनके हाथ तो नहीं होते, पर ये हाथ वाले मनुष्यों (द्यूतकारों) को पराजित कर देते हैं। अंगारे के समान चमकते-दमकते ये अक्ष जब [शीतल] द्यूतफलक पर फेंके जाते हैं तब इनका स्पर्श यद्यपि शीतल होता है, फिर भी ये [द्यूतकारों के] अन्तःकरण को जलाते हैं— पराजयजन्य सन्ताप द्वारा भस्म कर देते हैं।।९।।

The dice though roll downward, yet they spring quickly upward, though handless, yet they make a man with hands, that is, physically fit person, defeated. Cast upon the dice-board like the burning charcoals, even though cold, they burn the heart [of the defeated gambler.] (9)

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति।।१०।।

जाया। तप्यते। कितवस्य। हीना। माता। पुत्रस्य। चरतः। क्व। स्वित्।
ऋणऽवा। बिभ्यत्। धनम्। इच्छमानः। अन्येषाम्। अस्तम्। उप। नक्तम्। एति।।

अन्वयः— क्वस्वित् चरतः कितवस्य जाया हीना। पुत्रस्य माता तप्यते। ऋणावा बिभ्यद् धनम् इच्छमानो ऽन्येषाम् अस्तं नक्तम् उपेति।

विशिष्ट-पदानि— हीनाः = वियुक्ताः। ऋणावा = ऋणग्रस्तः। अस्तम् = गृहम्। नक्तम् = रात्रौ।

[द्यूतकर्मणि पराजयाद् अनन्तरं निर्वेद-वशात् लज्जा-वशाद् वा] क्वचिदपि विचरतः द्यूतकरस्य भार्या एतेन वियुक्ता, परित्यक्ता इति यावत्, संतप्ता भवति। एतस्य जननी अपि पुत्र-विरह-जन्य-शोकेन तप्यते। [अक्ष-पराजयाद्] ऋणग्रस्तः एषः सर्वतः, सर्वदा च [ऋणदातृभ्यः] भीतः धनम् इच्छन् रात्रिवेलायाम् अन्येषाम्, धनाढ्यानाम् इत्याशयः, गृहम् उपेति धनस्य स्तेयार्थम् इति शेषः।।१०।।

[द्यूतकर्म में पराजित होने के पश्चात् निर्वेद अथवा लज्जा के कारण इधर-उधर] कहीं भी भटकते हुए जुआरी की पत्नी इससे वियुक्त हो जाने के कारण शोक-संतप्त रहती है। यही स्थिति उसकी माता की भी होती है। ऋण में डूबा हुआ यह ऋणदाताओं से सर्वतः तथा सर्वदा भयभीत रहता है। पर इसे धन तो चाहिए ही, अतः यह अन्यों (धनाढ्यों) के घरों में [चोरी करने के लिए] रात्रि के समय [चुपके-से] जा घुसता है।।१०।।

The deserted wife of the gambler is afflicted: his mother grieves for her son wandering wherever he likes. Being involved in debt, the gambler remains in constant fear and

also anxious to get wealth [from any source. But having no other way to get it,] he goes by night unto the dwellings of others, i.e., the rich people [to plunder]. (10)

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद।।११।।

स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। तताप। अन्येषाम्। जायाम्। सुऽकृतम्। च। योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्। सः। अग्नेः। अन्तौ। वृषलः। पपाद।।

अन्वयः— कितवम् अन्येषां जायां स्त्रियं, सुकृतं योनिं च दृष्ट्वाय तताप। स वृषलः पूर्वाह्णे बभ्रून् अश्वान् युयुजे। अग्नेरन्ते पपाद।

विशिष्ट-पदानि— कितवं = कितवः (विभक्ति-व्यत्ययः)। सुकृतं = सम्यग्-रूपेण कृतम्, सुसज्जितम् इत्याशयः। योनिम् = गृहम्। दृष्ट्वाय = दृष्ट्वा, अवलोक्य। वृषलः = अधमः जनः = पराजितः कितवः। अग्नेरन्ते (अग्नेः सूर्यस्य अन्ते) = सूर्यास्ते सति, रात्रेः समीपे, रात्रौ चुल्ल्याः समीपे वा।

कितवः स्व-व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि जनस्य जायाभूतां भार्याम्, तेषां सुसज्जितं गृहं च दृष्ट्वा दुःखितो भवति। असौ अधमः जनः प्रातःकाले एव बभ्रु-वर्णान् अश्वान् इव अक्षान् युङ्क्ते — द्यूत-गृहं गत्वा एतै सह क्रीडति इत्याशयः। रात्रिवेलायां च [पराजितः, चिन्ताग्रस्तः, श्रान्तः सन् स्वगृहम् आगत्य शय्यायाम्] पतति, पतित्वा लुठति इत्याशयः।

द्यूतकार किसी की पत्नी को तथा उसके सुसज्जित घर को देखकर दुःखी होता है। वह अधम प्रातःकाल होते ही अपने बभ्रुवर्ण वाले घोड़ों को जोतता है—जूआघर जाकर रंग-बिरंगे पासों को द्यूत-फलक पर फेंकना आरम्भ कर देता है, और फिर सूर्यास्त होने पर [पराजित, चिन्ताग्रस्त, थका-माँदा वह अपने घर आकर शय्या पर] जा पड़ता है और देर रात तक करवटें बदलता रहता है।।११।।

The gambler, having seen anybody's wife happy and his home well-ordered, becomes sad: yet in the early morning, he yokes his brown steeds, and at night, sad and dejected, lies down on his bed. (11)

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि।।१२।।

यः। वः। सेनाऽनीः। महतः। गणस्य। राजा। व्रातस्य। प्रथमः। बभूव।
तस्मै। कृणोमि। न। धना। रुणध्मि। दश। अहम्। प्राचीः। तत्। ऋतम्। वदामि।।

अन्वयः— वः महतो गणस्य व्रातस्य च यः सेनानी प्रथमो राजा बभूव, तस्मै दश प्राचीः कृणोमि। धना न रुणध्मि। तद् ऋतं वदामि।

विशिष्ट-पदानि— गणस्य = संघस्य। व्रातस्य = समूहस्य, समुच्चयस्य (गणव्रातयोः अल्पो भेदः— सायण)। सेनानीः = नेता। बभूव = आसीत् = अस्ति। दश (दश अङ्गुलीः) प्राचीः (सूर्याभिमुखं), कृणोमि (करोमि) = दश प्राचीः कृणोमि = नमस्करोमि। धना = धनानि। ऋतम् = सत्यम्।

[हे अक्षाः!] युष्माकं महतः (बहु-संख्यकस्य) संघस्य समूहस्य च यः प्रथमः नेता अस्ति, स एव राजा (राजेश्वरः अक्षः) अस्ति, तस्मै (महते अक्षाय) दश अङ्गुलीः प्राच्याभिमुखाः करोमि— तस्मै अहमञ्जलिं बद्ध्वा धनानि न रुणध्मि। धनानि न रक्षामि, [अपि तु तेषां व्ययं पणैरेव करोमि।] अस्मिन् विषये नास्ति किञ्चिद् असत्यम्— अहं सत्यं वदामि।।१२।।

[हे अक्षो!] आपके महान् (बहु-संख्यक) संघ तथा समूह का जो पहला नेता है— वह ही राजा (राजेश्वर अक्ष) है। उस [महान्] अक्ष को मैं दसों अंगुलियाँ पूरब की ओर करके (अंजलि बाँधकर) नमस्कार करता हूँ। मैं [अपने पास] धन बचाकर नहीं रखता, [अपितु इसे द्यूतक्रीड़ा में व्यय कर देता हूँ।] इसमें कुछ भी असत्य नहीं है— मैं नितान्त सत्य कहता हूँ।।१२।।

O dice! I offer my humble! salutation to him who has been the general of your mighty army, the chief lord of your

host. I speak the truth that I do not withhold any wealth [as I spend it in gambling chamber.] (12)

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः।।१३।।

अक्षैः। मा। दीव्यः। कृषिम्। इत्। कृषस्व। वित्ते। रमस्व। बहु। मन्यमानः।
तत्र। गावः। कितव। तत्र। जाया। तत्। मे। वि। चष्टे। सविता। अयम्। अर्यः।।

अन्वयः— कितव! बहु मन्यमानः अक्षैः मा दीव्यः। कृषिम् इत् कृषस्व, वित्ते रमस्व। तत्र गावः, तत्र जाया। अयं सविता अर्यः मे तद् विचष्टे।

विशिष्ट-पदानि— बहु मन्यमानः = मद्वचने विश्वासं कुर्वन्। दीव्यः = द्यूतं कुरु। इत् = एव। सविता = सर्वस्य प्रेरकः। अर्यः = स्वामी। विचष्टे =विविधम् आख्याति।

''हे अधम (द्यूतकर)! मम वचने विश्वासं कुर्वन् त्वम् अक्षैः मा क्रीड। कृषिमेव कुरु। कृष्या सम्पादितेन वित्तेन रमणं कुरु। एतत्कार्येण एव तव पार्श्वे गावः भविष्यन्ति, तव पत्नी सुखम् अनुभविष्यति''— एतत् [सर्वं वचनं] सर्वस्य प्रेरकः स्वामी (ईश्वरः) मह्यं विविधरूपेण आख्याति— सुमार्गं दर्शयति।।१२।।

''हे अधम (द्यूतकर)! मेरे वचन पर विश्वास करता हुआ तू अक्षों से मत खेल--जूआ मत खेल। खेती के लिए धरती बाह। इसी के द्वारा धन-धान्य में रमण कर, सुख भोग। इसी कार्य में तुम्हें गौएँ (पशु-धन) मिलेंगी, इसी से तुम्हारी पत्नी होगी [जो कि अति सुखी रहेगी]''— यह [कथन] सबके प्रेरक स्वामी (ईश्वर) मुझे विविध रूप में कहते हैं— सुमार्ग दिखाते हैं।।१२।।

"Play not with dice; cultivate your land; delight in wealth [so acquired]: then, O gambler, there are cows, there is a wife"; all this god Savitā, the inspirer of all, has told me [and thus showed me the beneficial path for me and also for all the members of my family.] (13)

मि॒त्रं कृ॑णुध्वं॒ खलु॑ मृ॒ळता॑ नो॒ मा नो॑ घो॒रेण॑ चरता॒भि धृ॒ष्णु।
नि वो॒ नु म॒न्युर्वि॑शता॒मरा॑तिर॒न्यो ब॑भ्रूणां प्रसि॑तौ॒ न्व॑स्तु।।१४।।

मि॒त्रम्। कृ॒णु॒ध्व॒म्। खलु॑। मृ॒ळत॑। नः॒। मा। नः॒। घो॒रेण॑। च॒र॒त॒। अ॒भि। धृ॒ष्णु।
नि। वः॒। नु। म॒न्युः। वि॒श॒ता॒म्। अरा॑तिः। अ॒न्यः। ब॒भ्रूणाम्। प्रऽसि॑तौ। नु। अ॒स्तु॒।।

अन्वयः— मित्रं कृणुध्वं खलु। नः मृळत। नः घोरेण धृष्णु मा अभिचरत। वः मन्यु अरातिः निविशताम्। अन्यः बभ्रूणां प्रसृतौ नु अस्तु।

विशिष्ट-पदानि— कृणुध्वम् = कुरुत। मृळत = सुखयत। घोरेण = असह्येन। धृष्णु = धृष्णुना (तृतीयार्थे प्रथमा) = क्रोधेन। अरातिः = शत्रुः। निविशताम् = तिष्ठतु। प्रसितौ = बन्धने। नु = क्षिप्रम्।

हे अक्षाः! यूयम् अस्मासु मैत्रीं कुरुत। अस्मान् सुखयत। अस्मान् युष्माकम् असह्येन क्रोधेन मा आक्रामत। युष्माकं क्रोधः अस्माकं शत्रौ तिष्ठतु (अस्माकं शत्रवे अस्तु)। मत्तः अन्यः (मम शत्रुः इत्याशयः) बभ्रु-वर्णानाम् अक्षाणां बन्धने शीघ्रम् अस्तु।।१४।।

हे अक्षो! आप हमारे साथ (हम जैसे अधम द्यूतकारों के साथ) मैत्री करो। हमें सुखी रखो—हम जूआ न खेलें, यह प्रेरणा दो। अपने असह्य क्रोध द्वारा हम पर आक्रमण मत करो। आपका क्रोध हमारे शत्रु के लिये होवे। मुझसे अन्य-जन (मेरा शत्रु) भूरे रंग वाले अक्षों के बन्धन में शीघ्र बँध जाए।।१४।।

Be friend with us, O dice! make us feel happy; approach us not in your terrible wrath; let your anger be fallen upon our enemies; let our enemy fall under the bondage of tawny dice. (14)

विवृति

सारांश— अपनी आदत से मजबूर द्यूतकर भली भाँति जानता है कि इस द्यूतकर्म ने उसका जीवन अस्तव्यस्त कर दिया है, तबाह कर दिया है। पर भूरे-भूरे रंग वाले ये अक्ष उसे अति आकर्षक प्रतीत होते हैं। द्यूत-फलक पर फेंकने से पहले ये जब इसके हाथ में खनकते हैं तो इनकी

यह खनक द्यूतकर को अति मनमोहक लगती है। और जब ये द्यूत-फलक पर फेंके जाते ही उछलते हैं तो द्यूतकर का मन भी बल्लियों उछलने लगता है कि बस अभी वह अपने प्रतिपक्षी को पराजित कर देगा। पर होता इसके विपरीत है— ये अक्ष उसके अन्तःकरण को भस्मसात् कर देते हैं।

नहीं खेलूंगा जूआ मैं, और वह नहीं जाता जूआघर में। पर उसके साथी जब उसे कहते हैं कि तुम तो इस लुभावनी क्रीडा से वंचित हो गये, तो फिर वह जा पहुँचता है वहाँ, और मन-ही-मन कहता है, "है कोई आज यहाँ, जो मुझे जीत सके!"

उसकी बेचारी पत्नी उसके प्रति वफ़ादार है, वह सब-कुछ जानती-समझती हुई भी, भूखी-प्यासी रहकर इसका निरादर नहीं करती। पर यह है कि इसे उसकी रत्ती भर भी चिन्ता नहीं। पर हाँ, इसकी सास के मन में इसके प्रति कोई आदरभाव शेष नहीं रहा। इस पर ऋण का बोझ दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। यह इसे चुका नहीं पाता, और ऋणदाता हैं कि अब इसकी पत्नी से चुहल करने लगे हैं— यहाँ तक कि उसके वस्त्र, केश आदि को छूने की चेष्टा करते हैं।

ऋण में डूबा यह द्यूतकर इधर-उधर भटकता और ऋणदाताओं से लुकता-छिपता फिरता है। इसके सगे-सम्बन्धी इसके मुँह पर ही उनसे कहते हैं, "हम नहीं जानते इसे, बाँधकर ले जाओ इसे, जहाँ ले जाना हो।" और ऋण चुकाने के लिए तथा जूआ खेलने के लिए भी उसे द्रव्य की आवश्यकता रहती है, और इसके लिए वह रात्रि के समय चुपके से धनाढ्यों के घरों में चोरी करने घुस जाता है।

अन्य लोगों के कितने सुन्दर घर हैं, उनकी पत्नियाँ कितनी सुखी तथा प्रसन्नचित्त हैं— जब वह यह सब देखता है तो वह अपना मन मसोस कर रह जाता है। रात भर करवटें बदलता रहता है— जूआ न खेलने का संकल्प करता है, पर प्रातः होते ही जूआघर की ओर चल देता है— इतनी तेज़ी से कि मानो घोड़े पर सवार होकर जा रहा हो। किन्तु फिर वही आशा और निराशा का खेल!

उसकी अन्तरात्मा उसे कहती है— जुआ मत खेल, कृषिकार्य में श्रम कर। इससे तू धन-धान्य में खेलेगा। तुम्हारे पास पशु होंगे, तुम्हारी पत्नी सुखी रहेगी। और वह स्वयम् अक्षों से कह उठता है— "अब बस, मेरा

पिण्ड छोड़ो। मुझे और मत सताओ। इसके भागी कोई और जन होंगे, पर मै नहीं हूँ।''

यह है एक द्यूतकर का समग्र स्वगत-भाषण। इस द्यूतकर के समान इस दुर्दशा से तथा इस प्रकार की अन्य दुर्दशाओं से मुक्ति पाने की सद्बुद्धि भगवान् सबको प्रदान करे।[1]

२. बृहद्देवता के सातवें खण्ड में ऋग्वेद के इस सूक्त के सम्बन्ध में केवल इतना उल्लिखित है कि जो सूक्त 'प्रावेपा:' से आरम्भ होता है वह 'अक्ष-प्रशंसा' कहाता है। अक्ष अर्थात् जूआ खेलने का पांसा। इस सूक्त के पहले, सातवें, नवें और बारहवें मन्त्रों में पाँसे की प्रशंसा की गयी है; तथा तेरहवें में कृषि की प्रशंसा है और जुआ खेलने वाले को सचेत किया गया है। शेष मन्त्रों में पाँसों की (जुआ खेलने की) निन्दा की गयी है।[2]

३. उल्लेखनीय है कि इस सूक्त (१०.३४) के ऋषि ऐलूशकवष को ऋग्वेद के निम्नोक्त अन्य चार सूक्तों का भी ऋषि (प्रणेता) माना गया है— १०.३०,३१,३२ और ३३। ऐतरेय ब्राह्मण (८.१) तथा शांखायन ब्राह्मण (१२.३) में लगभग एक-समान एक आख्यान के अन्तर्गत एक यज्ञसभा से इसे बहिष्कृत करके सरस्वती नदी के तट पर कहीं दूर एक निर्जन स्थान में इसलिए भेज दिया गया कि यह अब्राह्मण है 'दास्या: पुत्र:' और (दासीपुत्र अर्थात् शूद्र) है। इसे द्यूतकर भी कहा गया। उन दिनों उस निर्जन स्थान में जल का नितान्त अभाव था। इसने 'अपां नपात्' नामक देवता की स्तुति सूक्त की रचना की, जिससे जल-प्रिय 'अपां नपात्' देवता इतने प्रसन्न हुए कि सरस्वती नदी का पानी उछलता-कूदता स्वयं इसके पास आ गया। इस समाचार से ब्राह्मण हतप्रभ हो गये और इसके पास आकर इसे आदरपूर्वक यज्ञभूमि में ले गये और इसे यथोचित स्थान दिया।

---

१. ऋग्वेद में वर्णित द्यूतकर की उपर्युक्त दुर्गति अद्यावधि अक्षुण्ण रूप में सर्वत्र द्यूतकारों की होती चली आ रही है। महाभारत के प्रमुख पात्रों (पाँचों पाण्डवों) तथा नल की इस व्यसन के कारण हुई दुर्गति सर्व-विदित है।

२. **प्रावेपा इति सूक्तं यत् तदक्षस्तुतिरुच्यते।। ३६(ख)**
अत्राक्षान् द्वादशी स्तौति नवम्याद्या च सप्तमी।
त्रयोदशी कृषिं स्तौति कितवं चानुशासति।।३७
अक्षांस्तु शेषा: निन्दन्ति......................।।३८(क)

७. सूर्या-सूक्त अथवा विवाह-सूक्त

(ऋग्वेद १०.८५)

ऋग्वेद के दशम मण्डल का यह ८५वाँ सूक्त है। इस सूक्त में ४७ मन्त्र हैं। सायणाचार्य के अनुसार इस सूक्त की ऋषिका (वक्त्री) सविता अथवा सूर्य की पुत्री सावित्री अथवा सूर्या है। १-५ मन्त्रों का देवता अर्थात् विषय सोम है, ६-१६ मन्त्रों में सूर्या ने अपने विवाह के विषय में कहा है, १७वें मन्त्र का विषय देवगण हैं, १८वें मन्त्र का देवता सोम (चन्द्रमा) और अर्क (सूर्य) हैं तथा १९वें मन्त्र का चन्द्रमा। २०-२७ मन्त्रों में आशीर्वादात्मक विवाह-मन्त्र हैं, २८-३० मन्त्रों में वधू के वस्त्रों को छूने की निन्दा है, ३१वाँ मन्त्र वधू के यक्ष्मा (आदि) रोगों के नाशन से सम्बन्धित है, ३२-४७ मन्त्रों का विषय सावित्री अथवा सूर्या है।

शौनक ने भी बृहद्देवता (१२२-१३८) में इस सूक्त की विषय-सूची दी है जो कि सायणाचार्य के उक्त विषय-विवरण से पर्याप्त भिन्न है।

संख्या १-१३, १५-१७, २२, २५, २८-३३, ३५, ३८-४२, ४५-४७ मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं, संख्या १४, १९-२१, २३-२४, 2६, ३६-३७, ४४ मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में, संख्या १८, २७, ४३ मन्त्र जगती छन्द में, और संख्या ३४ मन्त्र उरोबृहती छन्द में।

उल्लेख्य है कि इस सूक्त के प्रायः सब मन्त्र अथर्ववेद (काण्ड १४, १.१) में भी आये हैं।

१-५ पञ्च-मन्त्रेषु सावित्री सूर्या वा स्वपतिं सोमं स्तौति। एषु मन्त्रेषु वल्ली-रूपस्य सोमस्य चन्द्रमसश्च एकरूपता अपि व्यंजना-शब्दशक्त्या-ऽभिव्यक्ता —

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठंति दिवि सोमो अधि श्रितः॥१॥

सत्येन। उत्तभिता। भूमिः। सूर्येण। उत्तभिता। द्यौः।
ऋतेन। आदित्याः। तिष्ठंति। दिवि। सोमः। अधि। श्रितः॥

विशिष्ट-पदानि— सत्येन = ब्रह्मणा, अनन्तात्मना। उत्तभिता = उपरि स्तंभिता। सत्येन = धर्मेण। उत्तभिता = उद्धृता, फलिता वा। ऋतेन = यज्ञेन। सोमः = वल्लीरूपः। सोमः = चन्द्रमाः।

सत्येन (ब्रह्मणा, अनन्तात्मना) भूमिः उपरि स्तंभिता, यथा अधो न पतेत् तथा कृता, यद्वा, सत्येन धर्मेण कृषिधर्मस्य पालनेन इत्याशयः, भूमिः उद्धृता (फलिता)— सस्यादि-जनयित्री— कृता। सूर्येण द्यौः उपरि स्तंभिता; सूर्यः द्युस्थानीयो वर्तते, अतः सूर्येण द्यौः धार्यते। यज्ञेन (यजमान-दत्तया आहुत्या) आदित्याः (अदिति-पुत्रा) इन्द्रादयः देवाः तिष्ठन्ति उपजीवन्ति। दिवि द्युलोके सोमः देवानाम् आप्यायनकारी (पुष्टि-कारकः) वल्ली-रूपः अधिश्रितः अधितिष्ठति, यद्वा द्युलोके सोमः चन्द्रमा अधितिष्ठति।।१।।

१-५ मन्त्रों में सावित्री अथवा सूर्या अपने पति सोम के विषय में कहती है। इन मन्त्रों में वल्ली-रूप सोम तथा चन्द्रमा में एकरूपता भी व्यंजना शब्दशक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त की गयी है—

सत्य (ब्रह्म, अनन्त आत्मा) के द्वारा भूमि ऊपर थामी गयी है जिससे कि यह नीचे न गिरे, अथवा सत्य (धर्म) के द्वारा अर्थात् कृषिधर्म के पालन से भूमि उद्धृत (फलित) होती है— सस्य आदि उत्पन्न करती है। सूर्य के द्वारा द्यौ थामा जाता है— सूर्य द्युलोक में स्थित है, अतः कहा गया है कि सूर्य के द्वारा द्युलोक थामा जाता है। यज्ञ से आदित्य (अदिति के पुत्र) स्थिर रहते हैं। यज्ञ (यजमान) के द्वारा दी गयी आहुति से आदित्य (अदिति-पुत्र) इन्द्र आदि स्थिर रहते हैं। द्युलोक में वल्ली-रूप सोम, जो कि देवों का पुष्टिकारक है, स्थित है, अथवा द्युलोक में चन्द्रमा स्थित है।।१।।

In the *mantras* 1-5, Sūryā says about her husband Soma. The word 'Soma' means both a plant called (i) 'moon creeper' and (ii) The moon. Here the identity of both has been indicated through *Vyañjanā-śabdaśakti*, i.e., the word's power of suggestion:

Earth is upheld by truth, that is, Brahman, the eternal soul; heaven is sustained by the sun; the *ādityas* (gods like

Indra and others) are supported by *yajña* and Soma (a plant) holds its place in heaven or the moon is situated in the sky. (1)

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः।।२।।

सोमेन। आदित्याः। बलिनः। सोमेन। पृथिवी। मही।
अथो। इति। नक्षत्राणाम्। एषां। उपऽस्थे। सोमः। आऽहितः।।

विशिष्ट-पदानि— सोमेन=वल्लीविशेषेण, चन्द्रमसा वा। मही=महती (उर्वरा)। अथो=अथ। नक्षत्राणि=न क्षं त्रायन्त इति नक्षत्राणि, ग्रह-चन्द्रमसादयः इति सायणः। आहितः=स्थितः।

सोमेन वल्लीविशेषेण आदित्याः अदितेः पुत्राः इन्द्रादयः देवाः बलशालिनः (हृष्ट-पुष्टाः) भवन्ति। सोमेन आहुति-रूपेण अग्नौ हुतेन पृथिवी महती (उर्वरा) भवति। सोमस्य आहुत्या वृष्टिर्जायते, एतेन च सस्यादि (अन्नादिकम्) उत्पद्यते। अपि च, यथा सोमरसः कटोरिकादीनां पात्राणां मध्ये स्थितो वर्तते तथैव रसात्मकः चन्द्रमा नक्षत्राणां मध्ये स्थितो वर्तते।।२।।

यद्वा

सोमेन चन्द्रमसा आदित्याः अदितिपुत्रा इन्द्रादयः देवाः बलवन्तो भवन्ति यतः ते एतस्य एकैकां कलाम् आस्वादयन्ति। प्रथमां कलां पिबन् वह्निः बलवान् भवति, द्वितीयां कलां पिबन् रविः बलवान् भवति इत्यादि-स्मृति-वचनात्। सोमेन चन्द्रमसा पृथिवी महती (सस्यादि-परिपूर्णा) जायते— चन्द्रमोद्वारा अमृतसेकेन ओषध्यादयः उत्पद्यन्ते, येन च पृथिवी महती बलवती वा जायते। सोमः (चन्द्रमाः) सदा नक्षत्राणाम् सन्निधाने वर्तते इति तु प्रसिद्धमेव।।२।।

सोम (वल्ली-विशेष) के द्वारा आदित्य (अदिति-पुत्र)—इन्द्र आदि—बलशाली (हृष्ट-पुष्ट) बने रहते हैं। [अग्नि में] सोम [की आहुति]

से पृथ्वी महती (उर्वरा) बनी रहती है। सोम की आहुति से वर्षा होती है, इससे सस्य (अन्न आदि) उपजते हैं। जैसे सोम रस कटोरिका आदि पात्रों के बीच में स्थित होता है, उसी प्रकार रसात्मक चन्द्रमा नक्षत्रों के मध्य स्थित रहता है।।२।।

अथवा

सोम (चन्द्रमा) द्वारा आदित्य (अदिति-पुत्र, इन्द्र आदि) देव हृष्ट-पुष्ट रहते हैं, क्योंकि ये इसकी एक-एक कला का उपभोग करते रहते हैं, जैसा कि स्मृति का वचन है—पहली कला पीने से अग्नि पुष्ट होती है, दूसरी कला पीने से सूर्य पुष्ट होता है, आदि। चन्द्रमा आदि के द्वारा पृथिवी अन्नादि से परिपूर्ण होती है—चन्द्रमा अपने अमृत से पृथिवी को सींचता है जिससे वनस्पतियां उपजती हैं और इस प्रकार पृथिवी महती (बलवती) मानी जाती है। चन्द्रमा नक्षत्रों के मध्य रहता है, यह तो प्रसिद्ध है ही।।२।।

By Soma (the moon-creeper), the *ādityas* (the gods) become strong. By Soma the earth becomes great, that is, it is nourished by the libations of the juice of the Soma plant as the cause of rain; or by the moon as the lord of plants. As Soma (the juice of the Soma plant) has its place in the vessels, Soma (the moon) has its place in the midst of all the constellations. (2)

सोमं॑ मन्यते पपि॒वान्यत्सं॑पिं॒षंत्योष॑धिम्।
सोम॒ं यं ब्र॒ह्माणो॒ वि॒दुर्न तस्या॑श्नाति॒ कश्च॒न।।३।।

सोम॑। म॒न्य॒ते॒। प॒पि॒ऽवान्। यत्। सं॒ऽपिं॒षन्ति॑। ओष॑धिम्।
सोम॒म्। यम्। ब्र॒ह्माणः॑। वि॒दुः। न। तस्य॑। अ॒श्ना॒ति॒। कः। च॒न।।

विशिष्ट-पदानि— पपिवान्=सोमपायी। ब्रह्माणः=ब्राह्मणाः अभिज्ञाः वा। विदुः=विदन्ति। तस्य=तम्।

सोमपायी जनः तु सोमं तं मन्यन्ते यं रासायनकाः ओषधिरूपेण संपिंशन्ति। परं ब्राह्मणाः (ऋत्विजः यजमाना अपि च) यं सोमं विदन्ति असौ नास्ति ओषधिविशेषः, अपि तु यागस्य अंश एव। एतं यागाशं यज्वा

एव अश्नाति, न कश्चिद् अपि अयज्वा एतम् अशितुं शक्नोति। एतस्य वचनस्य इत्यपि अभिप्राय: यन्न कोऽपि सोमं तावद् गृह्णाति यावद् एष: याज्ञिकेन यज्ञाग्नौ न हूयते। यद्वा अभिज्ञा: जना: एतं सोमं चन्द्रमस्-रूपेण जानन्ति, यं च अग्न्यादय: रश्मयो वा देवा: भक्षयन्ति, न तु देवेभ्योऽन्ये मनुष्यादय: ग्रहीतुं शक्यन्ते।।३।।

सोमपायी जन तो सोम उसे मानते हैं जिसे रासायनिक ओषधि-रूप में कूटते-पीसते हैं। पर ब्राह्मण (ऋत्विग् और यजमान लोग) जिसे सोम जानते हैं वह ओषधि नहीं है, अपितु याग का अंश है। इस यागांश का सेवन [याज्ञिक ही करता है, याज्ञिक से इतर] और कोई नहीं कर सकता। अथवा इसका आशय यह भी है कि जब तक याज्ञिक सोम की आहुति यज्ञाग्नि में नहीं देता, तब तक इसे (सोम को) कोई ग्रहण नहीं करता। अथवा इस सोम को अभिज्ञ जन चन्द्रमा के रूप में जानते हैं, जिसे [अग्नि आदि अथवा रश्मियाँ ग्रहण कर सकती हैं, किन्तु देवों से इतर] मानव-जन ग्रहण नहीं कर सकते।।३।।

He, who has drunk, thinks that the herb which men crush, is the Soma; [but] that which Brāhamaṇas (the priests) know to be Soma is the part of *yāga* (*yajña*: an offering, sacrifice), and only the priests [can] take it and none else, **or** no one takes the Soma unless the priest has given its oblation in the *yajñāgni*. Similarly only the gods can take the digits of the moon, and not any mortal. (3)

आ॒च्छद्वि॑धानैर्गुपि॒तो बार्ह॑तैः सोम रक्षि॒तः।
ग्राव्णा॒मिच्छृ॒ण्वन्ति॑ष्ठसि॒ न ते॑ अश्नाति॒ पार्थि॑वः।।४।।

आ॒च्छत्ऽवि॑धानैः। गु॒पि॒तः। बार्ह॑तैः। सो॒म॒। र॒क्षि॒तः।
ग्राव्णा॑म्। इत्। शृ॒ण्वन्। ति॒ष्ठ॒सि॒। न। ते॒। अ॒श्ना॒ति॒। पार्थि॑वः।।

विशिष्ट-पदानि— आच्छद-विधानम् = आच्छादकम्। गुपितः = सुरक्षितः। बार्हतैः = बृहती-छन्दसि विरचित-ऋग्भिः, यद्वा सप्तभिः सोमपालैः। ग्राव्णाम् = शिला-वटकानाम्। ते = त्वाम्।

हे सोम! त्वं सर्वतः आच्छादनैः पिहितः, बृहती-छन्दसि विरचित-ऋग्भिः यद्वा स्वान-भ्राज-आङ्घार्यादिभिः सप्तभिः सोमपालैः[1] च रक्षितोऽसि। त्वम् अभिषवाय प्रयुक्तानां शिला-वटकानां ध्वनिं शृण्वन् तिष्ठसि। पार्थिवः (मर्त्यलोक-मानवः) त्वां न अश्नाति— न भक्षयितुं समर्थः जायते। त्वं तु देवानां भोज्य एव इत्याशयः। यद्वा चन्द्रमा देवानाम् अन्नम्, यतः देवाः चन्द्रमसं पौर्णमास्याम् अभिषुण्वन्ति।।४।।

हे सोम! तुम सब ओर से आच्छादकों से ढके हुए, बृहती छन्द[2] में विरचित ऋचाओं से, अथवा स्वान-भ्राज-आंघार्य आदि सात सोमपालों से रक्षित रहते हो, तथा सोमरस को पीसकर निकालने-निचोड़ने के लिये प्रयुक्त शिला और बटकों (सिलबट्टों) की ध्वनि सुनते रहते हो। तुम्हारा सेवन पार्थिव जन (मर्त्यलोक के मानव) नहीं कर सकते। तुम तो देवों के ही भोज्य हो। अथवा चन्द्रमा भी देवों का अन्न है, क्योंकि देव चन्द्रमा को पौर्णमासी की रात्रि को निकालते-निचोड़ते तथा उसका सेवन करते हैं।। ४।।

Secured by means of coverings, protected by hymns in Bṛhati metre or by [seven] guardians—Svāna, Bhrāja, Āṅghārya and others, O Soma! you abide listening to the grinding stones; none partakes of you who dwells on earth. (4)

यत्त्वा॑ देव प्र॒पिब॑न्ति॒ तत॒ आ प्या॑यसे॒ पुन॑ः।
वा॒युः सोम॑स्य रक्षि॒ता समा॑नां॒ मास॒ आकृ॑तिः।।५।।

यत्। त्वा॒। देव। प्रऽपिब॑न्ति। तत॑ः। आ। प्या॒य॒से॒। पु॒न॒रिति॑।
वा॒युः। सोम॑स्य। र॒क्षि॒ता। समा॑नां मास॑ः। आऽकृ॑तिः।।

---

१. तै० सं० ६.१.१०.५।

२. बृहती=नौ वर्णों के चरण वाले वृत्त।

विशिष्ट-पदानि— समानाम् = संवत्सराणाम्। आकृतिः = आकर्ता, व्यवच्छेदकः। मासः = परिमीयते इति मासः सोम इत्याशयः। यद्वा मासः (मास्शब्दस्य षष्ठ्येकवचनान्तरूपम्) = मासस्य।

हे देव सोम! यदा [यज्वानः (याज्ञिकाः) त्रिष्वपि सवनेषु] त्वाम् ओषधिरूपेण प्रपिबन्ति, ततो ऽनन्तरमपि त्वं आत्मानं नवीकरोषि। [शोषकोऽपि] वायुः तव रक्षिता भवति— त्वां न शोषयति इत्याशयः। यद्वा वायुः सोमाधार-वनस्पतीनां विकारान् अपकरोति, अतः एष सोमस्य रक्षिता कथितः। हे सोम! त्वं संवत्सराणाम् व्यवछेदकोऽसि, यतो हि त्वं जनैः संवत्सरे वसन्तादि-कालेषु अनुष्ठीयसे— एतेन लोकेभ्यः कालनिर्णयो जायते।।५।।

यद्वा

हे देव चन्द्र! यदा अपरपक्षे त्वां रश्मयः प्रपिबन्ति, ततोऽनन्तरम् पूर्वपक्षेऽपि त्वं पुनः आत्मानं नवीकरोषि। वायुः तव रक्षिता भवति, यतः चन्द्रगतिः वाय्वाधीना मन्यते। किञ्च, त्वं संवत्सराणां मासस्य च कर्ता असि। तव एकैक-कला-क्षय-संवृद्धिभ्यां हि मासः पूर्यते, तैः मासैः च संवत्सरस्य बोधो भवति।।५।।

हे देव सोम! जब याज्ञिक ओषधि-रूप में तुम्हारा सेवन तीनों यज्ञों में करते हैं तो इसके बाद भी तुम अपने आप को नया कर लेते हो। शोषक भी वायु तुम्हारा रक्षक होता है— वह तुम्हें सुखाता नहीं है। अथवा वायु सोम-रस पर आधारित वनस्पतियों के विकारों को दूर कर देता है, अतः इसे सोम का रक्षक कहा गया है। हे सोम! तुम संवत्सर के व्यवच्छेक हो, क्योंकि वसन्तादिक ऋतुओं में तुम्हारा सेवन किया जाता है, इसी से उन्हें काल का बोध हो जाता है।।५।।

अथवा

हे देव चन्द्र! जब अपर पक्ष (कृष्ण पक्ष) में तुम्हें रश्मियां पीती हैं, तो इसके बाद पूर्वपक्ष (शुक्ल पक्ष) में भी तुम अपने आप को नया बना लेते हो। वायु तुम्हारा रक्षक होता है, क्योंकि चन्द्रमा की गति वायु के आधीन मानी गयी है। इसके अतिरिक्त तुम्हारे द्वारा वर्ष भर में मासों का ज्ञान होता रहता है। तुम्हारी एक-एक कला के क्षीण और वृद्धि होने से

क्रमशः कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष मिलाकर पूरा एक मास बन जाता है, और इस प्रकार हमें पूरे वर्ष का ज्ञान होता रहता है।।५।।

O god Soma! when they (the priests) begin to drink you, even then you swell out again. Vāyu is the guardian of you, O Soma! The moon is the maker of years and months. (5)

६-१६ एकादश मन्त्रेषु सूर्या सोमेन (चन्द्रमसा) सह स्व-विवाह-विषयमभिलक्ष्य कथयति —

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्।।६।।

रैभी। आसीत्। अनुऽदेयी। नाराशंसी। निऽओचनी।
सूर्यायाः। भद्रम्। इत्। वासः। गाथया। एति परिऽकृतम्।।

विशिष्ट-पदानि— रैभी-नाराशंसी-गाथा इति त्रयः शब्दाः अवैदिकानां स्तुतिवाचक-गीतानां पर्यायाः। रैभी-शब्देन 'विवाहकाले प्रदत्ता शिक्षा' इत्यपि अर्थो व्यज्यते। अनुदेयी = सखी। अनुदेयं धनम् इत्यपि आशयः। नाराशंसी = मनुष्याणां स्तुतिः। प्राता रत्नं.........(ऋग्० १.१२५.१) इत्यादिका मनुष्याणां स्तुतयो नाराशंस्यः। न्योचनी = दासी। गाथा = गीयते [ब्राह्मणेन] इति गाथा।

रैभी[१] (विवाह-काले प्रदत्ता शिक्षा) विवाहानन्तरं वधू-विनोदनाय दीयमाना सखी अभवत्। नाराशंसी[२] (मनुष्याणां वध्वः स्तुतिः) एतस्याः शुश्रूषायै दीयमाना दासी अभवत्। ब्राह्मणेन उक्ता गाथा[३] एतस्यै दीयमानम् सुखकरम् अलंकृतं च दुकूलादिकं वासः आसीत्।।६।।

६-१६ मन्त्रों में सूर्या सोम (चन्द्रमा) के साथ अपने विवाह के विषय में कहती है—

विवाह के समय दी गयी रैभी नामक शिक्षा ही वधू की सखी थी [जो कि इसके विवाह के अनन्तर इसके विनोदार्थ इसके साथ इसके

१,२,३. रैभी, नाराशंसी और गाथा—ये तीनों स्तुतिवाचक अवैदिक गीतों के प्रकार हैं।

पतिगृह में भेजी जाती है]। [वधू के प्रति की गयी] नाराशंसी नामक स्तुति ही उसकी दासी थी जो उसकी सेवा-शुश्रूषा के लिये दी जाती है। ब्राह्मण द्वारा गायी गयी गाथा ही वधू का सुखकर और अलंकृत वास था।।६।।

The mantras 6-17 deal with the marriage of Sūryā with Soma, that is, the moon:

Raibhī[1] was bridal female friend; Nārāśaṁsī[2] was her slave; Gāthā[3] was the lovely dress by which she was adorned. (6)

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यंजनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम्।।७।।

चित्तिः। आः। उपऽबर्हणं। चक्षुः। आः। अभिऽअंजनम्।
द्यौः। भूमिः। कोशः। आसीत्। यत्। अयात्। सूर्या। पतिम्।।

विशिष्ट-पदानि— चितिः ज्ञानम्, चित्तस्य शुभ-संकल्पो वा। उपबर्हणम्=उपधानम्। चक्षुः=ज्ञानात्मकः प्रकाशः।

यदा वधूः सूर्या पतिं [सोमम्] अगच्छत्, तदा तस्यै प्रदत्तः शुभसंकल्प एव तस्याः उपधानम् आसीत्। ज्ञानात्मकः प्रकाश एव तस्यै नेत्राभ्यञ्जनम् अभवत्। द्यौः भूमिः च तस्यै धनम् अजायत।।७।।

जब वधू सूर्या अपने पति [सोम] के साथ रवाना हुई तो इसके लिए दिया गया शुभ संकल्प ही उसका तकिया था। ज्ञानात्मक प्रकाश ही उसके नेत्रों का काजल था। आकाश और पृथिवी उसके लिए धन था।।७।।

Mind was her pillow, the sight was her collyrium; the earth and heaven were her treasury when Sūryā went to her husband. (7)

1,2,3. Raibhi, Nārāśaṁsī and Gāthā are the three kinds of non-Vedic songs expressing eulogy.

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छंद ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः।।८।।

स्तोमाः। आसन्। प्रतिऽधयः कुरीरं। छंदः। ओपशः।
सूर्यायाः। अश्विना। वरा। अग्निः। आसीत्। पुरःऽगवः।।

विशिष्ट-पदानि— स्तोमः=वेदमन्त्रात्मकाः स्तुतयः। प्रतिधयः [रथस्य] अराः अथवा उपहार-पदार्थाः। कुरीरम्=छन्दोनाम अथवा वेदसूक्तानां पावनपाठः। ओपशः = कशायाः अग्रभागः अथवा शिरोवस्त्रम् उपधानं वा। पुरोगवः=पुरोगन्ता।

सूर्यायाः विवाहे वेदमन्त्रात्मकाः स्तुतयः [रथस्य] अराः आसन्। कुरीरं छन्दः कशायाः अग्रभागः आसीत्। अश्विनीकुमारौ वरस्य सहचरौ आस्ताम्। अग्निदेवो [वरयात्रायाः] पुरोगन्ता आसीत्।।८।।

यद्वा

सूर्यायाः विवाहे वेदमन्त्रात्मकाः स्तुतयः एव तस्यै उपहार-पदार्था आसन्। वेदसूक्तानां पावनपाठ एव तस्यै शिरोवस्त्रम् उपधानं वा आसीत्। अश्विनीकुमारौ वर-सहचरौ आस्ताम्। तस्मिन् काले अग्निः पुरोगन्ता आसीत्— यो जनः पूर्वमेव विवाहस्य प्रस्तावार्थम् अग्रे गच्छति असौ अग्निदेव आसीत्।।८।।

[सूर्या के विवाह में] वेदमन्त्रात्मक स्तुतियाँ ही [रथ के] अरे थे। कुरीर नामक छन्द ही कशा का अग्र भाग था। अश्विनीकुमार वर के सहचर थे। अग्निदेव [वरयात्रा में] आगे-आगे जाने वाला था।।८।।

अथवा

[सूर्या के विवाह में] वेदमन्त्रात्मक स्तुतियाँ ही उपहार थीं। कुरीर अर्थात् वेदसूक्तों का पावन पाठ ही सूर्या के लिए शिरोवस्त्र अथवा तकिया था। अश्विनीकुमार वर के सहचर थे। उस समय अग्निदेव पुरोगन्ता था जो कि विवाह के प्रस्ताव के लिए आगे-आगे जाता है।।८।।

At the marriage-ceremony, the hymns were the cross-bars of the pole; the Kurīra metre was the thong of the whip; the groomsmen were Aśvin-pair; Agni was the leader of the procession.

or

The hymns were the various gifts and presents offered to Sūryā. The holy recitation of the Vedic hymns were the head-dress or pillows for her; the groomsmen were Aśvin-pair; Agni was the leader of the procession. (8)

सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भावरा।
सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंसं॑ती॒ं मन॑सा सवि॒ताद॑दात्।। ९।।

सोम॑ः। व॒धू॒ऽयुः। अ॒भ॒व॒त्। अ॒श्विना॑। आ॒स्ता॒म्। उ॒भा। व॒रा।
सू॒र्याम्। यत्। पत्यै॑। शंसं॑तीम्। मन॑सा। स॒वि॒ता। अद॑दात्।।

विशिष्ट-पदानि— वधूयुः=वधूकामः। उभा (उभौ)=द्वौ। वरा=वरौ। पत्ये शंसन्तीम्=पतिं कामयमानाम्। मनसा=सुविचारपूर्वकम् यद्वा महिताय (सोमाय)। सविता=आदित्यः प्रजापतिरित्याशयः।

सोमः वधूकामः वरः अभवत्। तस्मिन् समये अश्विनीकुमारौ उभौ वरौ (सोमाय वरण-कामिनौ इत्याशयः) आस्ताम्। सविता (सूर्यायाः पिता प्रजापतिः[१]) पतिं कामयमानां (पूर्णयौवन-सम्पन्नां) सूर्यां सोमाय विवाहरूपेण सुविचारपूर्वकं प्रायच्छत, अथवा तां महिताय सोमाय प्रायच्छत्।। ९।।

सोम, वधू की कामना करने वाला, वर था। उस समय अश्विनीकुमार ये दोनों वर (सोम को वर बनाने में कामना करने वाले) थे। सविता (सूर्य के पिता प्रजापति[१]) ने पति की चाह रखने वाली (पूर्ण-यौवन-सम्पन्ना) सूर्या को [विवाह-रूप में] सोम को सुविचारपूर्वक दे दिया, अथवा महिमाशाली सोम को दे दिया।। ९।।

The two Aśvins were the two groomsmen when Savitā (Sūrya's father, i.e., Prajāpati), with all his thoughtfulness, gave away Sūryā, who was ripe for the husband, to Soma who was desirous of a bride. (9)

---

१. प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीं, तस्यै सर्वे देवाः वरा आगच्छन् इत्यादि हि ब्राह्मणम्। (ऐत० ब्रा० ४.७)

मनो अस्या अन आसीद्द्यौरासीदुत च्छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम्।।१०।।

मनः। अस्याः। अनः। आसीत्। द्यौः। आसीत्। उत। छदिः।
शुक्रौ। अनड्वाहौ। आस्तां। यत्। अयात्। सूर्या। गृहम्।।

विशिष्ट-पदानि— अनः=रथम्। द्यौः=नभः। छदिः=उपरि छादनम् ('छत' इति हिन्दी-भाषायाम्)। शुक्रौ=श्वेत-वर्णौ (दीप्तौ), सूर्याचन्द्रमसौ इत्याशयः। अनड्वाहौ=रथस्य वोढारौ, गावौ। यद्=यदा।

यदा सूर्या पति-गृहम् अगच्छत् तदा रथं तस्याः मनः आसीत्। सा मनोरूपरथेन तत्र अगच्छत् इत्याशयः। तस्य रथस्य आच्छादनं नभ आसीत्। श्वेतवर्णौ (दीप्तौ) सूर्याचन्द्रमसौ एतस्य रथस्य वोढारौ बलीवर्दौ आस्ताम्।।१०।।

जब सूर्या पति के घर में गयी तब रथ उसका मन था (वह मन-रूपी रथ से वहाँ पहुँची)। उसके रथ का आच्छादन आकाश था। श्वेतवर्ण (दीप्त) सूर्य और चन्द्रमा इस रथ को खींचने वाले दो बैल थे।।१०।।

Her spirit was her bridal chariot, the covering thereof was heaven. The two shining orbs: the sun and the moon were the oxen [that drew it] when Sūryā went to her husband's home. (10)

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पंथाश्चराचरः।।११।।

ऋक्ऽसामाभ्यां। अभिऽहितौ। गावौ। ते। सामनौ। इतः।
श्रोत्रं। ते। चक्रे इति। आस्ताम्। दिवि। पंथाः। चराचरः।।

विशिष्ट-पदानि— अभिहितौ=सुसंबद्धौ। सामनौ=समानौ। इतः= गच्छतः (अगच्छताम्)।

हे सूर्ये! तव रथस्य [वोढारौ] गावौ ऋक्-सामभ्यां सुसंबद्धौ परस्परं समानौ (सहायकौ सहचरौ च) अगच्छताम्। तव श्रोत्रे एव रथस्य चक्रे आस्ताम्। रथस्य यातायात-संचरणशीलः मार्गश्च द्युलोके आसीत्।।११।।

हे सूर्ये! तेरे [मन रूपी] रथ को [खींचने वाले] दो बैल, जो कि ऋग्वेद और सामवेद से सुसम्बद्ध थे, एक-समान चल रहे थे। तेरे कान इस रथ के दो पहिये थे। द्युलोक में इस रथ का मार्ग था जिस पर बहुसंख्यक रथ आ-जा रहे थे।।११।।

O Sūryā! the two oxen, yoked by the Ṛk and the Sāman, marched equally. Your both the ears were two chariot-wheels. The path for trafic [was] in heaven. (11)

शुचीं ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनों मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम्।।१२।।

शुची इति। ते। चक्रे इति। यात्याः। विऽआनः। अक्षः। आऽहतः।
अनः। मनस्मयम्। सूर्या। आ। अरोहत्। प्रऽयती। पतिम्।।

विशिष्ट-पदानि— यात्याः=गच्छन्त्याः। अक्षः=रथचक्रछिद्रयोः मध्यवर्तिनी काष्ठा यया रथस्य सर्वो भार उह्यते। आहतः=सुदृढं संलग्नः। अनः=रथम्। मनस्मयम्=मनोमयम्। प्रयती= गच्छन्ती।

मनोमयेन रथेन गच्छन्त्या सूर्यायाः रथस्य अतिपवित्रे [श्रोत्ररूपे] चक्रे आस्ताम्। अस्य सुदृढं संलग्नः अक्षः व्यान-नामकः वायु[१] आसीत्। पतिगृहं गमन-समये असौ [सूर्या] एतादृशं चक्रम् आरुरोह।।१२।।

मन-रूपी रथ से जाती हुई सूर्या के अति-पवित्र कर्ण दो पहिए थे। इसका अक्ष (दोनों रथ-चक्रों के छिद्र में से गुज़रती हुई काष्ठा, जिस पर रथ का सारा भार होता है) व्यान नामक वायु[१] था। पति-गृह को जाते समय वह ऐसे रथ पर सवार थी।।१२।।

Your two pure and clean [ears] were the two wheels of the chariot. The Vyāna air[2] was the fastened axle. Sūryā, proceeding to her husband, mounted the chariot as if of her mind. (12)

---

१. पाँच प्रकार का वायु —प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान।
2. One of the following five kinds of the life-wind or vital-air: *prāṇa, apāna, samāna, vyāna* and *udāna*.

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यंते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते।।१३।।

सूर्यायाः। वहतुः। प्र। अगात्। सविता। यं। अवऽअसृजत्।
अघासु। हन्यंते। गावः। अर्जुन्योः। परि। उह्यते।।

विशिष्ट-पदानि— वहतुः = उपहार-रूपं द्रव्यम्। अघासु (मघासु) = यदा चन्द्रमा मघा-नक्षत्रेषु वर्तते। हन्यन्ते = दण्डैः ताड्यन्ते, प्रेरणार्थं प्रणोद्यन्ते। अर्जुनी = फल्गुनी-नक्षत्रे। उह्यते = नीयते।

सूर्यायाः पिताः सविता तस्याः विवाहकाले यं द्रव्यम् उपहार-रूपेण अदात्, तत् तस्याः गमनपूर्वमेव तस्याः पतिगृहं सुरक्षितं प्रेषितम् आसीत्। तस्यै प्रदत्ताः गावः मघा-नक्षत्रेषु (यदा चन्द्रमा मघा-नक्षत्रेषु वर्तते इत्याशयः) तस्याः पतिगृहं प्रणोद्यन्ते। विवाहानन्तरं च फल्गुनी-नक्षत्रयोः (यदा चन्द्रमाः फल्गुनी-नक्षत्रयोः वर्तते इत्याशयः) वधूः पतिगृहं प्रति सुरक्षितं नीयते।।१३।।

सूर्या के पिता ने विवाह के समय जो द्रव्य उपहार-स्वरूप दिये थे, वे सब उसके जाने से पहले ही उसके पति के घर में सुरक्षित भेज दिये थे। उसे दिये गये गौ, बैल आदि उन दिनों में भेजे जाते हैं जब चन्द्रमा मघा-नक्षत्रों में होता है। विवाह के पश्चात् वधू को पतिगृह में तब रवाना किया जाता है जब चन्द्रमा दो फल्गुनी-नक्षत्रों के बीच होता है।।१३।।

The gifts presented by Savitā for Sūryā had already been despatched. During the days of Maghā constillations the oxen [given to her as a present] were whipped along; [and after her marriage,] she is borne to her husband's home when the moon is inbetween the two Phalgunī constellations. (13)

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरावबृणीत पूषा।।१४।।

यत्। अश्विना। पृच्छमानौ। अयातं। त्रिऽचक्रेण। वहतुं। सूर्यायाः।
विश्वे। देवाः। अनु। तत्। वाम्। अजानन्। पुत्रः। पितरौ। अवृणीत पूषा।।

विशिष्ट-पदानि— पृच्छमानौ = आहूतौ इत्याशयः। अयातम् = अगच्छतम्। वहतुम् = विवाहम् (विवाहार्थं प्रार्थयितुम्)। पितरौ (पित्रोः) पुत्रः = अश्विनी-कुमारयोः पुत्रः पूषा। अवृणीत = वररूपेण वृतवान्, अचिनोत्।

हे अश्विनीकुमारौ! यदा आहूतौ युवां चक्र-त्रय-युक्तेन रथेन सूर्यायाः पितरं सवितारं सूर्यायाः विवाह-विषये प्रष्टुम् अगच्छतम्, तदानीं सर्वे [इन्द्रादयः] देवाः एतत्सम्बन्धम् अनुज्ञातवन्तः अनुमोदितवन्तः इत्याशयः। अपि च, [तव] पुत्रः पूषा युवां स्वमातापितरौ अचिनोत्।।१४।।

हे अश्विनीकुमारो! जब तुम दोनों बुलाये जाने के बाद तीन पहिये वाले रथ से सूर्या के पिता सविता के यहाँ सूर्या के विवाह के सम्बन्ध में बातचीत करने गये तो तब [इन्द्र आदि] सभी देवों ने इसका अनुमोदन किया, तथा तुम्हारे पुत्र पूषा[१] ने तुम दोनों को अपने माता-पिता के समान चुना।।१४।।

O you two Aśvin-pair! when you came on your three-wheeled chariot soliciting the marriage of Sūryā, then all the gods agreed to your proposal, and Pūṣan, [your] son, chose [both of you as] his parents. (14)

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः।।१५।।

यत्। अयातम्। शुभः। पती। इति। वरेऽयम्। सूर्याम्। उप।
क्व। एकम्। चक्रम्। वाम्। आसीत्। क्व। देष्ट्राय। तस्थथुः।।

विशिष्ट-पदानि— अयातम् = अगच्छतम्। शुभस्पती = उदकस्य स्वामिनौ। वरेयम् = वरणीयायाः सूर्यायाः संबन्धिनं वरैर्याचितव्यं च सवितारमित्यर्थः। उप = उपगन्तुम्। देष्ट्राय = दानाय।

---

१. पूषा (पूषन्, प्रथमाविभक्ति, एकवचन) सूर्य से संबन्धित वैदिक देवता, अतः इस शब्द से सकल-पदार्थ-द्रष्टा; यात्राओं का प्रवर्तक; परलोक को ले जाने वाला— ये अर्थ भी अभिप्रेत हैं। इसे सोम अथवा चन्द्रमा का सहयोगी तथा जगत् का रक्षक एवं सम्पत्ति लाने वाला माना जाता है। परवर्ती काल में इसे १२ आदित्यों में से एक कहा गया है।

हे उदकस्य स्वामिनौ अश्विनीकुमारौ! यदा युवां सूर्याम् उपगन्तुं सवितारम् अगच्छतम्, तदा युवयोः [साम्प्रतं दृश्यमानम्] रथस्य एकं चक्रं क्व आसीत्, क्व च उपहार-दानाय [प्रवृत्तौ] युवाम् अतिष्ठतम्, कुत्र आसीत् युवयोः निवास-स्थानम् इत्यभिप्रायः।।१५।।

हे जल के स्वामी अश्विनीकुमारो! जब आप दोनों सविता के पास, सूर्या को—सोम के साथ उसका विवाह करने के लिए—माँगने गये थे, तब आप दोनों के रथ का एक चक्र [जो अब दिखायी दे रहा है] कहाँ था, और दानशील (उपहार देने वाले) आप दोनों कहाँ ठहरे थे—आपका निवास- स्थान कहाँ था?।।१५।।

O you two lords of water! when you came to the giver away, that is, Savitā [to get] Sūryā, where was one wheel of your chariot and where did you stay to make the gift? (15)

द्वे तें चुक्रे सूर्ये ब्रह्माणं ऋतुथा विंदुः।
अथैकं चुक्रं यद्गुहा तदंद्धातय इद्विंदुः।। १६।।

द्वे इतिं। ते। चुक्रे इतिं। सूर्ये। ब्रह्माणः। ऋतुऽथा। विदुः।
अर्थ। एकंम्। चुक्रम्। यत्। गुहां। तत्। अद्धातयः। इत्। विदुः।।

विशिष्ट-पदानि— ब्रह्मणः=ब्राह्मणाः, प्राज्ञाः इति यावत्। ऋतुधा=ऋतुषु (यथावसरम्)। अद्धातयः=मेधाविनः।

सूर्या स्वात्मानं वदति— हे सूर्ये! तव सूर्यचन्द्रात्मके द्वे चक्रे ब्राह्मणाः (प्राज्ञाः) ऋतुषु (यथावसरम्) अजानन्। तव यद् एकम् अन्यत् (तृतीयं) चक्रं गुहायां वर्तते (पिहितोऽस्ति), तत् चक्रम् अपि मेधाविनः अजानन्। (सायणानुसारम् तृतीयं चक्रं संवत्सरम् अस्ति, परम् एतत् प्रतीयते यद् एतत् सूर्य-चन्द्रमसोः भिन्नः कश्चिद् अन्यो ग्रहो वर्तते)।। १६।।

सूर्या अपने-आप से कहती है—हे सूर्ये! तेरे सूर्य और चन्द्र रूप दोनों चक्रों को (जिनका उल्लेख ऊपर ११वें मन्त्र में है—'श्रोत्रं ते चक्रे') ब्राह्मणों (विद्वानों) ने ऋतुओं में अर्थात् समय आने पर जान लिया। तेरा जो यह एक [तीसरा] चक्र है वह गुहा (मन) में निहित है। इस चक्र को भी मेधावी जनों ने जान लिया।[1]

---

१. सायण के अनुसार तृतीय चक्र से अभिप्रेत है—संवत्सर अर्थात् वर्ष, पर यह तृतीय चक्र सूर्य तथा चन्द्रमा से इतर किसी ग्रह की ओर संकेत करता है।

विशिष्ट-पदानि— पृच्छमानौ = आहूतौ इत्याशयः। अयातम् = अगच्छतम्। वहतुम् = विवाहम् (विवाहार्थं प्रार्थयितुम्)। पितरौ (पित्रोः) पुत्रः = अश्विनी-कुमारयोः पुत्रः पूषा। अवृणीत = वररूपेण वृतवान्, अचिनोत्।

हे अश्विनीकुमारौ! यदा आहूतौ युवां चक्र-त्रय-युक्तेन रथेन सूर्यायाः पितरं सवितारं सूर्यायाः विवाह-विषये प्रष्टुम् अगच्छतम्, तदानीं सर्वे [इन्द्रादयः] देवाः एतत्सम्बन्धम् अनुज्ञातवन्तः अनुमोदितवन्तः इत्याशयः। अपि च, [तव] पुत्रः पूषा युवां स्वमातापितरौ अचिनोत्।।१४।।

हे अश्विनीकुमारो! जब तुम दोनों बुलाये जाने के बाद तीन पहिये वाले रथ से सूर्या के पिता सविता के यहाँ सूर्या के विवाह के सम्बन्ध में बातचीत करने गये तो तब [इन्द्र आदि] सभी देवों ने इसका अनुमोदन किया, तथा तुम्हारे पुत्र पूषा[१] ने तुम दोनों को अपने माता-पिता के समान चुना।।१४।।

O you two Aśvin-pair! when you came on your three-wheeled chariot soliciting the marriage of Sūryā, then all the gods agreed to your proposal, and Pūṣan, [your] son, chose [both of you as] his parents. (14)

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः।।१५।।

यत्। अयातम्। शुभः। पती। इति। वरेऽयम्। सूर्याम्। उप।
क्व। एकम्। चक्रम्। वाम्। आसीत्। क्व। देष्ट्राय। तस्थथुः।।

विशिष्ट-पदानि— अयातम् = अगच्छतम्। शुभस्पती = उदकस्य स्वामिनौ। वरेयम् = वरणीयायाः सूर्यायाः संबन्धिनं वरैर्याचितव्यं च सवितारमित्यर्थः। उप = उपगन्तुम्। देष्ट्राय = दानाय।

---

१. पूषा (पूषन्, प्रथमाविभक्ति, एकवचन) सूर्य से संबन्धित वैदिक देवता, अतः इस शब्द से सकल-पदार्थ-द्रष्टा; यात्राओं का प्रवर्तक; परलोक को ले जाने वाला— ये अर्थ भी अभिप्रेत हैं। इसे सोम अथवा चन्द्रमा का सहयोगी तथा जगत् का रक्षक एवं सम्पत्ति लाने वाला माना जाता है। परवर्ती काल में इसे १२ आदित्यों में से एक कहा गया है।

हे उदकस्य स्वामिनौ अश्विनीकुमारौ! यदा युवां सूर्याम् उपगन्तुं सवितारम् अगच्छतम्, तदा युवयोः [साम्प्रतं दृश्यमानम्] रथस्य एकं चक्रं क्व आसीत्, क्व च उपहार-दानाय [प्रवृत्तौ] युवाम् अतिष्ठतम्, कुत्र आसीत् युवयोः निवास-स्थानम् इत्यभिप्रायः।।१५।।

हे जल के स्वामी अश्विनीकुमारो! जब आप दोनों सविता के पास, सूर्या को—सोम के साथ उसका विवाह करने के लिए—माँगने गये थे, तब आप दोनों के रथ का एक चक्र [जो अब दिखायी दे रहा है] कहाँ था, और दानशील (उपहार देने वाले) आप दोनों कहाँ ठहरे थे—आपका निवास- स्थान कहाँ था?।।१५।।

O you two lords of water! when you came to the giver away, that is, Savitā [to get] Sūryā, where was one wheel of your chariot and where did you stay to make the gift? (15)

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माणं ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः।। १६।।

द्वे इति। ते। चक्रे इति। सूर्ये। ब्रह्माणः। ऋतुऽथा। विदुः।
अथ। एकम्। चक्रम्। यत्। गुहा। तत्। अद्धातयः। इत्। विदुः।।

विशिष्ट-पदानि— ब्रह्मणः=ब्राह्मणाः, प्राज्ञाः इति यावत्। ऋतुधा=ऋतुषु (यथावसरम्)। अद्धातयः=मेधाविनः।

सूर्या स्वात्मानं वदति— हे सूर्ये! तव सूर्यचन्द्रात्मके द्वे चक्रे ब्राह्मणाः (प्राज्ञाः) ऋतुषु (यथावसरम्) अजानन्। तव यद् एकम् अन्यत् (तृतीयं) चक्रं गुहायां वर्तते (पिहितोऽस्ति), तत् चक्रम् अपि मेधाविनः अजानन्। (सायणानुसारम् तृतीयं चक्रं संवत्सरम् अस्ति, परम् एतत् प्रतीयते यद् एतत् सूर्य-चन्द्रमसोः भिन्नः कश्चिद् अन्यो ग्रहो वर्तते)।। १६।।

सूर्या अपने-आप से कहती है—हे सूर्ये! तेरे सूर्य और चन्द्र रूप दोनों चक्रों को (जिनका उल्लेख ऊपर ११वें मन्त्र में है—'श्रोत्रं ते चक्रे') ब्राह्मणों (विद्वानों) ने ऋतुओं में अर्थात् समय आने पर जान लिया। तेरा जो यह एक [तीसरा] चक्र है वह गुहा (मन) में निहित है। इस चक्र को भी मेधावी जनों ने जान लिया।[१]

१. सायण के अनुसार तृतीय चक्र से अभिप्रेत है—संवत्सर अर्थात् वर्ष, पर यह तृतीय चक्र सूर्य तथा चन्द्रमा से इतर किसी ग्रह की ओर संकेत करता है।

Sūryā says to herself: O Sūryā! the Brāhmaṇas know your two chairot-wheels (the sun and the moon) in their season; the intelligent people also know the single wheel[1] that is concealed. (16)

एतस्य सप्तदशस्य मन्त्रस्य देवता (विषयः) देवाः सन्ति—

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च।
ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः।।१७।।

सूर्यायै। देवेभ्यः। मित्राय। वरुणाय। च।
ये। भूतस्य। प्रऽचेतसः। इदम्। तेभ्यः। अकरम् नमः।।

विशिष्ट-पदानि— सूर्यायै=सूर्य-पत्न्यै। भूतस्य=जातस्य, प्राणिनः (प्राणिनाम्)। प्रचेतसः=सुमतयः (सुमति-प्रदातारः)। अकरम्=करोमि।

सूर्या कथयति यदहं सूर्यपत्न्यै, अग्न्यादि-देवेभ्यः, मित्राय (प्रातः-कालिकादित्याय), ये च प्राणिनां सुमतिप्रदातारः तेभ्यः सर्वेभ्यः अहं नमस्करोमि।।१७।।

इस १७वें मन्त्र का देवता (विषय) देवगण हैं—

सूर्या कहती है कि मैं सूर्यपत्नी को, अग्नि आदि सभी देवों को, मित्र (प्रातःकालीन आदित्य) को, वरुण (सायंकालीन आदित्य) को, तथा जो प्राणियों को सुमति प्रदान करते हैं उन सब को, नमस्कार करती हूँ।। १७।।

This *mantra* deals with the gods:

I, Sūryā, offer adoration to the wife of sun, to the gods, to Mitra and Varuṇa [and also to all those] who give good wisdom to all the creatures. (17)

---

1. Single wheel: according to Sāyaṇa it is the year; but it seems to be any planet other than the sun and the moon.

एतस्य मन्त्रस्य देवता (विषयः) सोमार्कौ (चन्द्र-सूर्यौ) स्तः—

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः।।१८।।

पूर्वऽअपरम्। चरतः। मायया। एतौ। शिशू इति। क्रीळन्तौ। परि। यातः। अध्वरम्।
विश्वानि। अन्यः। भुवना। अभिऽचष्टे। ऋतून्। अन्यः। विऽदधत्। जायते। पुनरिति।।

विशिष्ट-पदानि— मायया = प्रज्ञानेन (विधानानुसारम्)। अभिचष्टे= अभितः पश्यति।

सूर्यः पूर्वं चरति चन्द्रमाश्च तम् अनुचरति— एतौ देवौ स्व-प्रज्ञानेन (विधानानुसारं) चरतः। एतौ आकाशे शिशुवत् क्रीडन्तौ (विहरन्तौ) यज्ञं प्रति गच्छतः। एतयोः एकः (सूर्यः) सर्वाणि भुवनानि अभितः पश्यति। अपरः (चन्द्रमाः) च वसन्तादि-ऋतून् विदधत्, [कलानां ह्रास-वृद्धि-सद्भावात् मासान् अर्धमासान् च कुर्वन्] पुनः पुनः जायते [लीयते च]— चन्द्रमा वै जायते पुनः (तै० ब्रा० ३.९.५.४) इति श्रुतेः।।१८।।

इस मन्त्र का देवता (विषय) सूर्य और चन्द्रमा हैं—

सूर्य पहले चलता है और चन्द्रमा उसके पीछे चलता है। ये दोनों देव अपने-अपने प्रज्ञान से (विधान के अनुसार) विचरण करते हैं। ये दोनों आकाश में शिशुओं के समान खेलते हुए (विहार करते हुए) अपने-अपने मार्ग को चले जाते हैं। इनमें से एक (सूर्य) सभी भुवनों को चारों ओर से देखता जाता है, और दूसरा (चन्द्रमा) वसन्त आदि ऋतुओं का विधान करता हुआ [तथा कलाओं के ह्रास और वृद्धि के आधार पर मास और अर्धमास का विधान करता हुआ] पुनः पुनः उदित [और लीन] होता रहता है— **चन्द्रमा वै जायते पुनः** (तै० ब्रा० ३.९.५.४)।।१८।।

This *mantra* deals with the sun and the moon:

These two (the sun and the moon) wander one after the other according to their own power, that is, regulation. They go on playing like two children and approach the *yajña*. One

of the twain, i.e., the sun, beholds over all the worlds, while the other, i.e., the moon, regulating the seasons, is born again and again. (18)

एतस्य मन्त्रस्य देवता (विषयः) चन्द्रमा अस्ति —

नवोंनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चंद्रमास्तिरते दीर्घमायुः।।१९।।

नवःऽनवः। भवति। जायमानः। अह्नां। केतुः। उषसां। एति। अग्रम्।
भागम्। देवेभ्यः। वि। दधाति। आऽयन्। प्र। चंद्रमाः। तिरते। दीर्घम्। आयुः।।

विशिष्ट-पदानि— अह्नाम् = दिवसानाम्। केतुः = ध्वजः। आयन् = आगच्छन्, अभिगच्छन् वा। तिरते = वर्धयति।

[चन्द्रमा] एकैक-कलायाः वृद्ध्या ह्रासेन व नवो नव उत्पद्यते। अयं [सूर्यः] दिवसानां प्रज्ञापकः (बोधकः) उषसां ध्वज-संजातः [अग्रे अग्रे] एति। सूर्यः देवेभ्यः हविषः भागं [पृथक् पृथक्] करोति, [चन्द्रमा अपि एतत् करोति।] चन्द्रमा [कलानां ह्रास-वृद्ध्या कृष्णपक्षं शुक्लपक्षं च] अभिगच्छन् (निष्पादयन्) दीर्घम् आयुः वर्धयति— नितराम् एतेन क्रमेण सदा संलग्नो भवति इत्याशयः।।१९।।

इस मन्त्र का देवता (विषय) चन्द्रमा है—

[चन्द्रमा] एक-एक कला की वृद्धि और ह्रास से नया और फिर नया उत्पन्न होता रहता है। यह [सूर्य] दिनों का ज्ञापक, उषा के ध्वज के रूप में [आगे-आगे] जाता है अर्थात् ऊँचा और ऊँचा चढ़ता जाता है। सूर्य देवों के लिये हवि का भाग [अलग-अलग] करता है, [चन्द्रमा भी यही करता है।] चन्द्रमा [कलाओं] के ह्रास और वृद्धि के आधार पर कृष्ण-पक्ष और शुक्ल-पक्ष को निष्पन्न करता हुआ दीर्घ (आयुष्मान्) होता है, अर्थात् इसी क्रम में सदा निरत रहता है।।१९।।

This *mantra* deals with the moon:

The moon, born afresh, is new and new for ever, while the sun, the manifester of days, being as if the flag of down,

begins to rise up. And as it goes, it distributes among the gods their portion due to them, while the moon prolongs her existence [by increasing one digit day by day in the bright fortnight.] (19)

२०तः २८पर्यन्तम् आशीर्वादात्मका विवाह-मन्त्राः —

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्यै वहतुं कृणुष्व।।२०।।

सुऽकिंशुकं। शल्मलिं। विश्वऽरूपं। हिरण्यऽवर्णम्। सुऽवृतम्। सुऽचक्रम्।
आ। रोह। सूर्ये। अमृतस्य। लोकम्। स्योनम्। पत्यै। वहतुम्। कृणुष्व।।

विशिष्ट-पदानि— सुकिंशुकः = शोभन-पलाशवृक्षः। शल्मलिः = सेमर-(सेमल-)वृक्षः। स्योनम् = सुखकरम्।

हे सूर्ये! त्वं शोभन-पलाश-वृक्ष-काष्ठ-निर्मितं, शल्मलि-(सेमर-) वृक्ष-काष्ठ-निर्मितं, उत्तमदीप्तियुक्तं हित-रमणीयाकृतिं स्वर्णालंकार-विभूषितं वा सुष्ठुवर्तनं सुन्दरचक्रोपेतं लघु-गतिकं, देवानां सोमरसस्य वा निवास-स्थानं [गमनशीलं] रथम् आरोह, पत्ये (पत्युर्गृहाय) च यात्राम् आरभस्व।।२०।।

हे सूर्ये! तुम पलाश और सेमर वृक्षों की लकड़ी से निर्मित रथ पर सवार हो जाओ, जो कि अनेक रंगों से रंगा हुआ तथा चमक-दमक रहा है, हितकारी और रमणीक आकार से सज्जित और स्वर्णालंकार से विभूषित है, तथा सुन्दर गोलाई में ढला हुआ है, शोभन पहियों वाला अथवा हल्की गति वाला है, तथा देवताओं अथवा सोमरस के सुखकर निवास-स्थान [को गमनशील] है— ऐसे रथ पर सवार हो जाओ, और पति [के गृह को जाने] के लिए यात्रा आरम्भ कर दो।।२०।।

O Sūryā! ascend the chariot made of good *palāśa* and *semara* wood, multi-shaped, gold-hued or decorated with golden ornaments, well-covered, well-wheeled (light-rolling), [bound for] the happy world of immotality or the abode of the Soma-juice, and prepare for your journey to reach your husband's home. (20)

उदी॒र्ष्वात॑ः पति॑वती॒ ह्ये॒३॑षा वि॒श्वाव॑सुं॒ नम॑सा गी॒र्भिरी॑ळे।
अ॒न्यामि॑च्छ पितृ॒षदं॑ व्य॑क्तां॒ स ते॑ भा॒गो ज॒नुषा॒ तस्य॑ विद्धि।।२१।।

उत्। ई॒र्ष्व॒। अत॑ः। पति॑ऽवती। हि। ए॒षा। वि॒श्वऽव॑सुं। नम॑सा। गी॒ऽभिः। ई॒ळे॒।
अ॒न्याम्।इ॒च्छ॒।पि॒तृ॒ऽसद॑म्।विऽअ॑क्ताम्।सः।ते॒।भा॒गः।ज॒नुषा॑।तस्य॑।वि॒द्धि॒।।

विशिष्ट-पदानि— उदीर्ष्व = उत्तिष्ठ। अत: = अस्मात् (स्थानात्)। विश्वावसु: = एतन्नामधेयो गन्धर्व: कन्यानाम् अधिपति: रक्षक: इत्याशय:। गीर्भि: = स्तुतिभि:। इळे = स्तौमि। पितृषदम् = (पितृ-सदम्) = मातापित्रो: गृहे आश्रिताम्, अनूढामित्याशय:। व्यक्ताम् = शोभन-वस्त्रालंकारदिभि: सुसज्जिताम्। जनुषा = जन्मना। विद्धि = जानीहि।

सूर्याया: विवाहानन्तरं तस्या: कश्चित् परिजन: वदति! [हे विश्वावसो (कन्या-रक्षक विश्वावसु-नामक-गन्धर्व)!] अस्मात् स्थानात् (वेदिका-स्थलात्) उत्तिष्ठ। एषा सूर्या-नामवती कन्या [अधुना] पतिवती हि संजाता— एतस्या: विवाह: सोमेन सह सम्पन्न इत्याशय:। विश्वावसुम् अहं नमस्कारेण स्तुतिभिश्च स्तौमि। [अधुना कांश्चिद्] अन्यां मातृ-पितृगृहे स्थिताम् अनूढामित्याशय: व्यक्तां (शोभन-वस्त्रालंकारादिभि: सुसज्जितां) [गृहाण।] स (तादृश) एव तव भाग: कल्पित: — तामेव कन्यां त्वं जन्मना स्वभाग-रूपेण जानीहि।।२१।।

सूर्या के विवाह के अनन्तर उसका कोई परिजन कहता है—हे विश्वावसु (कन्या अथवा कन्यात्व के रक्षक, विश्वावसु नामक गन्धर्व)! इस स्थान से (वेदिका-स्थल से) उठिए। यह सूर्या नाम वाली कन्या पतिवाली हो गयी है—इसका विवाह सोम के साथ सम्पन्न हो गया है। मैं नमस्कार तथा स्तुतियों द्वारा आपसे विनयपूर्वक कहता हूँ कि [अब] आप किसी अन्य कन्या को उसकी रक्षा के निमित्त ग्रहण करें जो पिता के कुल में स्थित (अविवाहित) हो, व्यक्त (शोभन-वस्त्रालंकार आदि से सुसज्जित हो। वह ही (ऐसा ही) तुम्हारा भाग बनाया गया है—अब उसी कन्या को जन्म से अपने भाग के रूप में जानो।।२१।।

After the wedding ceremony some one related to Sūryā says: [O Vishvāvasu, the protector of the virgins!] rise up from this place, that is, from this alter, as this (damsel) has a husband, i.e., she has been married. I worship Vishvāvasu with reverence and eulogy; you [now] seek for another virgin still dwelling in her father's house, well-adorned with ornaments; that is your portion, know this [virgin to be your portion] from your birth she would be under your patronage henceforth. (21)

उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं१ सं जायां पत्या सृज।।२२।।

उत्। ईर्ष्व। अतः। विश्वावसो इति विश्वऽवसो। नमसा। ईळामहे। त्वा।
अन्याम्। इच्छ। प्रऽफर्व्यम्। सं। जायाम्। पत्या। सृज।।

विशिष्ट-पदानि— उदीर्ष्व = उद्गच्छ। ईळामहे = स्तुमः। त्वा = त्वाम्। प्रफर्व्यम् = बृहन्नितम्बाम् (बलिष्ठदेहाम्)।

उपस्थिताः जनाः कथयन्ति— हे विश्वावसो (कन्याधिरक्षक गन्धर्व)! अस्मात् स्थानात् (वेदिका-स्थलात्) उद्गच्छ। त्वां वयं नमस्कारेण स्तुमः। [साम्प्रतं] स त्वम् अन्यां बृहन्नितम्बां (बलिष्ठदेहां) कन्यां कामय। जायाम् इमां पत्या सह संसृज (त्यज)।।२२।।

उपस्थित जन कहते हैं—हे विश्वावसु (कन्याधिरक्षक गन्धर्व)! आप यहां से [इस वेदिका-स्थल से] चले जाएँ। हम आपको नमस्कारपूर्वक सविनय कहते हैं कि [अब] आप किसी अन्य बृहन्नितम्बा (बलिष्ठ-देहा) [कन्या] की कामना करें। इसे, जो कि पत्नी बन चुकी है, पति के साथ छोड़ दें (रहने दें)।।२२।।

A few persons present there say: O Viśvāvasu! rise from this place (altar). With reverence we worship you; seek another virgin, one with large hips, i.e., a healthy one; leave the bride with her husband. (22)

अनृक्षरा ऋजवः संतु पंथा येभिः सखायो यंति नो वरेयम्।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात्सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः।।

अनृक्षराः। ऋजवः। संतु। पंथाः। येभिः। सखायः। यंति। नः। वरेऽयम्।
सम्।अर्यमा।सम्।भगः।नः।निनीयात्।सम्।जाःपत्यं।सुऽयमम्।अस्तु।देवाः।।

विशिष्ट-पदानि— अनृक्षराः (ऋक्षरः कण्टकः)=कण्टक-रहिताः। वरेयम्=वरेण याचितव्यं कन्यायाः पितरम्। अर्यमा=पितरेषु प्रधानः। भगः=द्वादशादित्येषु एकः सुखदायी वा। संनिनीयात्=सम्यक् प्रापयेत्। जास्पत्यम्=जायापत्योर्युगलम्। सुयमम्=सुदृढम्।

हे देवाः! यैः मार्गैः अस्माकं सखायः (मध्यस्थाः जनाः) वरेयं (सूर्यायाः पितरम्) गच्छन्ति, ते मार्गाः कण्टक-रहिताः अकुटिलाः (ऋजवः) च सन्तु। अर्यमा (पितरेषु प्रधानः शत्रु-नियन्ता वा), अपि च भगः (द्वादशसूर्येषु एकः, सुखदायी देवो वा) अस्मान् [सूर्यायाः पितृगृहं] सम्यक् प्रापयेत्। जायापत्योः संगमः च सुदृढो भवेत्।।२३।।

हे देवो! जिन मार्गों से हमारे मित्र सूर्या के पिता के पास जाते हैं, वे मार्ग कण्टक-रहित और ऋजु हों (ऊबड़-खाबड़ न हों)। अर्यमा (पितरों में प्रधान अथवा शत्रु-नियन्ता) और भग (द्वादश आदित्यों में से एक अथवा सुखदायी देव) हमें सुविधापूर्वक वहां पहुँचा दें। पत्नी और पति का संयोग सुदृढ़ रहे।।२३।।

Thornless and straight [in direction] be the paths by which our friends (the members of the marriage-party) have to travel to the father of the girl. May both Aryaman (chief of manes or controllor of enemies) and Bhaga (one of the twelve suns) conduct us to the abode of the sun, Sūryā's father and may the union of the wife and husband remain easily accomplished for ever, O gods! (23)

२४, २५, २६, ३२, ३३-*संख्याकाः मन्त्राः कन्यायाः पतिगृहं प्रस्थानकाले उच्चार्यन्ते*—

प्र त्वा मुंचामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः।

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।।२४।।

प्र। त्वा। मुंचामि। वरुणस्य। पाशात्। येन त्वा। अबध्नात्। सविता। सुऽशेवः। ऋतस्य। योनौ। सुऽकृतस्य। लोके। अरिष्टाम्। त्वा। सह। पत्या। दधामि।।

विशिष्ट-पदानि— वरुणः=बन्धनस्य अभिमानी (प्रतीकात्मकः) देवः। सुशेवः=सुखः (सुखकरः)। ऋतस्य यज्ञस्य। लोके=गृहे इत्याशयः। अरिष्टाम्=हिंसा-रहिताम्, सुखेन=निवसिताम् इत्याशयः।

ऋत्विग् वदति— हे वधू! अहं त्वां वरुणस्य (बन्धन-प्रतीकात्मकस्य देवस्य) [स्नेहमय-] पाशात् प्रमुंचामि। येन पाशेन त्वां सुखकरः [तव हितैषी पिता] सविता [वात्सल्य-बन्धेन] अबध्नात्, तं मोचयित्वा अहं [तव पत्युः] सत्यस्य शुभकर्मणश्च उद्गम-स्थाने लोके (गृहे) तव पत्या सह त्वां अरिष्टां (सुखपूर्वकं वसन्तीं) धारयामि स्थापयामि इत्याशयः।।२४।।

मन्त्र-संख्या २४, २५, २६, ३२ तथा ३३ कन्या के पतिगृह को प्रस्थान करते समय उच्चरित किये जाते हैं—

ऋत्विक् कहता है—हे वधू! मैं तुम्हें [बन्धन के प्रतीक] वरुण के स्नेहमय पाश से मुक्त कराता हूँ। जिस पाश से तुम्हें तुम्हारे सुखदायक (हितैषी) पिता सविता ने वात्सल्य के बन्धन में बाँध रखा था, उसे छुड़ाकर मैं तुम्हें सत्य (शुभकर्म) के उद्गम-स्थान [पति-गृह] में पति के साथ स्थापित करता हूँ।।२४।।

Mantras No. 24, 25, 26, 32 and 33 are spoken just before the bride's departure from her father's house:

The priest says : I set you free from the noose of Varuṇa, i.e., from the bondage (tie) of affection with which your comforting father Savitā has bound you. I establish you with your husband in his house—the source of truth and good deeds, where you would live unharmed, i.e., comfortably. (24)

प्रेतो मुंचामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिंद्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति।। २५।।

प्र। इतः। मुंचामि। न। अमुतः। सुऽबद्धाम्। अमुतः। करम्।
यथा। इयम्। इंद्र। मीढ्वः। सुऽपुत्रा। सुऽभगा। असति।।

विशिष्ट-पदानि— करम्=करोमि। मीढ्वः=हे उदारचेतः। असति=भवतु।

अहं त्वाम् इतः (पितृकुलात्) प्रमुंचामि, न तु उतः (पतिगृहात्)। अपि च, अहं त्वाम् उतः (पतिगृहे) सुबद्धां (स्नेह-बन्धने सष्ठुरूपेण बद्धां) स्थापयामि। हे उदारचेतः इन्द्र! एषा [सद्यः परिणीता कन्या] सुपुत्रवती सौभाग्यवती च भवतु।।२५।।

मैं तुम्हें इधर से (पितृकुल से) छुड़ाता हूँ, न कि उधर से (पतिकुल से)। अपि च, मैं तुम्हें उधर (पतिगृह में) स्नेह-बन्धन में सुष्ठु-रूप से बंधी हुई रखूंगा। हे उदारचेतः इन्द्र! यह [नवविवाहिता कन्या] सुपुत्रवती तथा सौभाग्यवती हो।।२५।।

I set you free from here (your father' house) and not from there (your bridegroom's house). I place you here firmly bound. O bounteous Indra! this [damsel] may live there in good fortune and be blessed sons [in course of time.] (25)

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।।२६।।

पूषा। त्वा। इतः। नयतु। हस्तऽगृह्य। अश्विना। त्वा। प्र। वहतां। रथेन।
गृहान्। गच्छ। गृहऽपत्नी। यथा। असः। वशिनी। त्वं विदथम्। आ। वदासि।।

विशिष्ट-पदानि— पूषा = सूर्यः, अस्मिन् प्रसंगे तु पालयिता, पतिः। हस्तगृह्यः = ग्राह्यहस्तः। प्रवहताम् = प्रगमयताम्। असः = भव। विदथम् = [पत्युः] गृहम्। आ वदासि = सम्यग्-रूपेण वद।

हे कन्ये! त्वाम् इतः (पितृगृहात्) ग्राह्यहस्तः पोषयिता (तव पतिः) [स्वगृहं] नयतु। अश्विनीकुमारौ देवौ रथेन त्वां प्रगमयाम्। पत्युः गृहं गच्छ त्वम्। तत्र त्वं गृह-स्वामिनी भव। वशिनी (पत्युर्वशे वर्तमाना— तस्य निर्देशान् पालयन्ती, अपि च गृहकार्याणि स्वाधीनानि कुर्वती) त्वं पत्युर्गृहं (पतिगृह-वासितैः सर्वैः जनैः सह) मधुरं वदिष्यसि।। २६।।

हे कन्ये! तुम्हें तुम्हारा पोषयिता (पति) इधर से (पितृगृह से) तुम्हारा हाथ थामे [अपने घर को] ले जाए। अश्विनीकुमार-द्वय भी तुम्हें रथ से ले जाएं। तुम पति के घर जाओ। वहां तुम गृह-स्वामिनी बनो। [पति के] वश में रहती हुई— उसके निर्देशों का सम्यक् पालन करती हुई तथा गृहकार्यों को भी अपने वश में करती हुई— तुम पतिगृह से (पतिगृह में रहने वाले सगे-सम्बन्धियों से) मधुर रूप से बोलती (व्यवहार करती) रहोगी।। २६।।

May Pūṣan (the sun god, but in this context: your supporter, i.e., bridegroom), taking you by hand, lead you from here. May the two Aśvins convey you away in their chariot. Go to the dwelling [of your husband] as you are the mistress of the house. And you, acting upon the instructions [of your husband], will speak properly and gently with all the family members living in your husband's house. (26)

इ॒ह प्रि॒यं प्र॒जया॑ ते॒ समृ॑ध्यताम॒स्मिन्गृ॒हे गार्ह॑पत्याय जागृहि।
ए॒ना पत्या॑ त॒न्वं१॒॑ सं सृ॑ज॒स्वाधा॒ जिव्री॒ वि॒दथ॒मा व॑दाथः।।२७।।

इ॒ह। प्रि॒यं। प्र॒ऽजया॑। ते॒। सं। ऋ॒ध्य॒ता॒ं। अ॒स्मिन्। गृ॒हे। गार्ह॑ऽपत्याय। जा॒गृ॒हि॒।
ए॒ना। पत्या॑। त॒न्व॑ं। सम्। सृ॒ज॒स्व॒। अध॑। जिव्री॑ इति॑। वि॒दथ॑म्। आ। व॒दा॒थ॒ः।।

विशिष्ट-पदानि— इह=पतिगृहे इत्याशयः। गार्हपत्याय=गृहपतित्वाय। जागृहि=बुध्यस्व। एना=अनेन। पत्या=पतिना। तन्वम्=तनुम्। अधा=अथ, अपि च। विदधम्=गृहम्। वदासि=वदसि।

हे वधू! इह (पतिगृहे) सन्तत्या सह तव प्रियं (सौख्यं समृद्धिः च) समृद्ध्यताम्। अस्मिन् गृहे (पतिगृहे) त्वं गृहपतित्वाय (गृहस्य स्वामिभावाय) सदा बुध्यस्व (सम्बद्धा भव)। अनेन (पत्या) सह स्वीयं शरीरं संसृजस्व— तेन सह त्वं [सन्तत्यर्थं] संसृष्टा भव। युवां देहेन मनसा च एकीभावं धारयतम् इत्यपि आशयः। अपि च, जीर्णावस्था-पर्यन्तं (वार्धक्य-पर्यप्तं) स्वस्थौ युवां विदथं (गृह-जनान्) प्रति सुष्ठुरूपेण वदताम्— व्यवहारं कुरुतम् इत्यभिप्रायः।।२७।।

हे वधू! पतिगृह में सन्तति के साथ तुम्हारा सुख और समद्धि बढ़ती रहे। यहां तुम घर के प्रति सदा स्वामिभाव के साथ सम्बद्ध रहो। तुम अपने देह को अपने पति के साथ [सन्तति की उत्पत्ति के लिए] जोड़े रखो, अथवा अपने व्यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड़ दो—तन, मन से एक बने रहो। वार्धक्य-पर्यन्त स्वस्थ बने तुम दोनों घर के लोगों के साथ मधुर रूप से बोलते रहो—सुव्यवहार करते रहो।।२७।।

In your husband's family, may your affection increase along with your offsprings. Be watchful over your household affairs in this house. Unite your person with your huaband; and both being together, growing old [and remaining healthy,] speak (behave) with all the members of the house accordingly. (27)

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते।।२८।।

नील॒ऽलो॒हि॒तम्। भ॒व॒ति॒। कृ॒त्या। आ॒स॒क्तिः। वि। अ॒ज्य॒ते॒।
एध॑न्ते। अ॒स्याः॒। ज्ञा॒तयः॑। पति॑ः। ब॒न्धेषु॑। ब॒ध्य॒ते॒।।

विशिष्ट-पदानि— कृत्या=(१) अभिचाराभिमानिनी देवता (अभिचारादिकम् आत्मरूपेण स्वीकरणम्) अभिचारादिक-कृत्यानि कुर्वती देवी इत्याशयः इति सायणः। (२) गृह-कार्याणि, सांसारिक-कार्याणि। नीललोहितम्=(१) नीलं च रक्तं च इति नीललोहितम्। (२) नीलवर्णमिश्रितं रक्तवर्णम् आर्तवम् (ऋतुकाले स्रुतं रक्तम्)। आसक्तिः=अनुरागः। व्यज्यते = प्रतीयते, प्रकटीभवति। एधन्ते वर्धन्ते, मोदन्ते। ज्ञातयः=सम्बन्धिनः। बन्धेषु=गृहस्थधर्मे।

कृत्यायाः (अभिचाराभिमानिन्याः देवतायाः) देहस्य वर्णं नीलं च लोहितं च भवति। अनुराग-रूपा कृत्या एतया कन्यया सम्बद्धा प्रतीयते— एषा (कृत्या) त्याज्या इत्यभिप्रायः। तस्यां कृत्यायामपगतायाम् अस्याः ज्ञातयः मोदन्ते। अस्याः पतिश्च सांसारिक-कृत्येषु गृहकार्येषु च व्यापृतो जायते।।२८।।

यद्वा

कृत्या (उपभोग्या नारी) येषु दिवसेषु ऋतुमती भवति, तस्याः आर्तव-रक्तस्य वर्णो नीलमिश्रितो लोहितः भवति इत्यभिप्रायः। एषु दिवसेषु सा समागमाय त्याज्या। आर्तव-धर्मस्य समाप्तौ तस्याः आसक्तिः (समागमं प्रति अभिरुचिः) विशेषेण जागर्ति। एतेन अस्या सम्बन्धिनः मोदमनुभवन्ति, पतिरपि गृहस्थधर्मे व्यापृतो जायते।।२८।।

[अभिचार-रूप-देह-धारिणी] कृत्या के देह का वर्ण नीला और लाल है। यह कन्या अनुराग-रूपी कृत्या से सम्बद्ध (प्रभावित) प्रतीत होती है—अतः त्याज्य है, यह अभिप्राय है। [कृत्या के दूर हो जाने पर] इसके सगे-सम्बन्धी प्रसन्न होते हैं और इसका पति गृहस्थ-धर्म में व्यापृत हो जाता है।

अथवा

कृत्या (समागम-कर्म में उपभोग्या यह नारी) इन दिनों नील-लोहित है, अर्थात् जिन दिनों नारी ऋतुमती होती है इसके आर्तव रक्त का वर्ण नील-मिश्रित लोहित (सुर्ख़) होता है। वह इन दिनों में समागम के लिए त्याज्य होती है। ऋतुधर्म की समाप्ति पर समागम के प्रति उस की आसक्ति (अभिरुचि) विशेष रूप से जागरित हो जाती है। इससे उसके सम्बन्धी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं तथा पति गृहस्थ-धर्म में व्यापृत हो जाता है।।२८।।

Kṛtyā (the evil spirit personified) is of blue and red hue. (It indecates that this newly wed woman is in her menses. It also indicates that this lady is still *anurāgavatī*, i.e., having still soft corner for the members of her father's family.) But now, the Kṛtyā, attached to this lady, is left behind i.e., is driven off : that is to say that (a) now her menses period is over; (b) her attachment and affection to her paternal relatives is no more. Hence her kinsmen prosper (feel happy) and her husband is bound fast in [domestic] bonds. (28)

२९-३० मन्त्रयोः वध्वः वस्त्राणां स्पर्शस्य निन्दा—

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्व्या जाया विशते पतिम्।। २९।।

परा। देहि। शामुल्यम्। ब्रह्मऽभ्यः। वि। भज। वसु।
कृत्या। एषा। पत्ऽवती। भूत्वी। आ। जाया। विशते। पतिम्।।

विशिष्ट-पदानि— परादेहि = परात्यज। शामुल्यम् = शमलं शारीरं मलम्, शरीरस्य मलेन दूषितं वस्त्रम् इत्याशयः। ब्रह्मभ्यः = ब्राह्मणेभ्यः। विभज = प्रयच्छ। कृत्या करणीया, सम्भोग-कर्मणि समुचिता। भूत्व्या = भूत्वा। जाया = पत्नी। विशते = प्रविशति।

शरीरस्य मलेन दूषितं वस्त्रं परात्यज (आर्तव-रक्त-क्लिन्नं वसनं परित्यज; सूर्या ऋतुधर्म-निवृत्ता जाता इत्याशयः)। [हर्षमनुभूय] ब्राह्मणेभ्यः [दानरूपेण] धनं प्रयच्छ। कृत्या पादवती भूत्वा पत्नी-रूपेण पतिं (पति-हृदयं) प्रविशति— या नारी पूर्वं सम्भोगकर्मणे वर्जिता आसीत्, सा अधुना कृत्या (सम्भोग-कर्मणे समुचिता) भूता रजोनिवृत्त्यनन्तरं पादवती— अस्ति, पतिं प्रति गमनशीला जाता इत्यर्थो लक्ष्यते।।२९।।

२९-३० इन दो मन्त्रों में वधू के वस्त्रों को स्पर्श करने की निन्दा है।

शरीर के मल से दूषित अर्थात् आर्तव रक्त से सने हुए वस्त्र को त्याग दो। [ऋतु-धर्म से निवृत्त होने के अनन्तर] अब यह कृत्या (करणीया अर्थात् सम्भोग के लिए समुचित) हो गयी है। [अतः इस हर्ष के अवसर पर] ब्राह्मणों को [दान-रूप में] धन दो। यह अब पादवती (पति के प्रति गमनशीला होकर) पत्नी पति [के हृदय] में प्रवेश करती है।। २९।।

Put away the garment soiled by the body. (It indicates that the lady is now out of menses period). [Being delighted] give wealth in alm to the Brāhmaṇas. This Kṛtyā—free from evil spirit—now having become endowed with feet, enters her husband's heart as his wife. (In other words: Kṛtyā, i.e., the lady, now being cleared of her menses period, has become endowed with feet—is anxious to go to her husband for copulation.) (29)

अ॒श्री॒रा त॒नूर्भ॑वति॒ रुश॑ती पा॒पया॑मु॒या।
पति॒र्यद्व॒ध्वो३॒॑ वास॑सा॒ स्वमंग॑मभि॒धित्स॑ते।। ३०।।

अ॒श्री॒रा। त॒नूः। भ॒व॒ति॒। रुश॑ती। पा॒पया॑। अ॒मु॒या।
पति॑ः। यत्। व॒ध्वः॑। वास॑सा। स्वं। अंग॑म्। अ॒भि॒ऽधित्स॑ते।।

विशिष्ट-पदानि— तनूः=शरीरम्। अश्रीरा=कान्तिहीना। रुशती (रुशत्या)=दीप्तया। पापया=पापरूपया। अमुया=अनया। अभिधित्सते= परिधातुम् इच्छति।

यदि पतिः ऋतुमत्याः पत्न्याः वस्त्रैः स्वां तनूं परिधातुम् (आच्छादयितुम्) इच्छति— तया सह समागमाय प्रवर्तते इत्याशयः, तदा तस्य तनूः अनया रुशत्या (दीप्तया) पाप-रूपया (ऋतुमत्या जायया) कान्तिहीना जायते।।३०।।

यदि पति ऋतुमती पत्नी के वस्त्रों से अपने शरीर को ढाँपना चाहता है—उसके साथ समागम के लिए प्रवृत्त होता है तो उसका शरीर इस दीप्तिमती पापयुक्ता (ऋतुमती जाया) [के सम्पर्क से] कान्तिहीन हो जाता है।। ३०।।

In case if husband wishes to cover his own limbs with his wife's garments who is in menses, i.e., he wants to cohabit with her, his body, with the contact of this sinful and shining lady [in menses,] would become devoid of luster. (30)

एष मन्त्रः यक्ष्मादि-रोग-विनाशन-विषयकः —

ये वुध्वंश्चंद्रं वंहतुं यक्ष्मा यंति जनादनुं।
पुनस्तान्युज्ञियां देवा नयंतु यत आगंताः।। ३१।।

ये वुध्वः। चंद्रम्। वुहतुं। यक्ष्माः।। यंति जनांत्। अनुं।
पुनरितिं। तान्। युज्ञियाः। देवाः। नयंतु। यतः। आऽगंताः।।

विशिष्ट-पदानि— चन्द्रम्=चन्द्रवत् शोभनम्। वहतु=शरीरम्। यन्ति=गच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति। जनाद्=जनक-जननीभ्याम्। अनु=पश्चात्, क्रमश इत्याशयः।

ये यक्ष्मादयः रोगाः यस्मात् जनाद् (वध्वो जनक-जनन्योः प्रभावात्, कस्यचित् पैत्रिक-परिजनस्य प्रभावाद् वा) वध्वाः चन्द्रवत् शोभनं शरीरं प्राप्नुवन्ति, तान् रोगान् यज्ञियाः (अर्चनीयाः) देवाः पुनः तं जनं नयन्तु येभ्यः ते आगताः। तस्याः सकलाः रोगाः दूरीभवन्तु इत्याशयः।। ३१।।

यह मन्त्र यक्ष्मा आदि रोगों के विनाश से संबन्धित है—

जो यक्ष्मा आदि रोग जिस जन से (वधू के माता-पिता अथवा उनके परिवार के किसी परिजन के प्रभाव से) वधू के चन्द्रमा के समान सुन्दर

शरीर में प्रवेश कर गये हैं, अर्चनीय देव उन्हें फिर उस जन की ओर ले जाएं, अर्थात् उस नारी के सभी रोग दूर हो जाएं।। ३१।।

The diseases, from which people have inflicted the moon-like [beautiful] body of the bride, may the adorable gods drive back those to them from where they came. (31)

३२-४७ षोडश-मन्त्राणां देवता (*विषयः*) सूर्या (*सावित्री*)—

मा विंदन्परिपंथिनो य आसीदंति दंपती।

सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रांत्वरातयः।। ३२।।

मा। विदन्। परिऽपंथिनः। ये। आऽसीदंति। दंपती। इति दंऽपती।

सुऽगेभिः। दुःऽर्गम्। अति। इताम्। अप। द्रांतु। अरातयः।।

विशिष्ट-पदानि— विदन्=प्रापयन् (प्राप्नुवन्तु)। परिपन्थिनः= बाधाकारकाः शत्रवः इत्याशयः। आसीदन्ति=अभिगच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति। सुगेभिः=सुगम-मार्गैः, सुख-साधनैः। दुर्गम्=दुर्गमं, दुःसाध्यं संकटम्। अतीताम् (अति इताम्)=अतिगच्छताम्। अरातयः=शत्रवः। अपद्रान्तु= अपगच्छन्तु।

ये बाधाकारकाः शत्रवः दम्पती प्रति गच्छन्ति, ते मा गच्छन्तु। एतौ सुख-साधनैः दुःसाध्यमपि संकटम् अतिगच्छताम्। एतयोः शत्रवः अपधावन्तु दूरीभवन्तु इत्याशयः।। ३२।।

३२ से ४७ तक १६ मन्त्रों का देवता (विषय) सूर्या (सावित्री) है।

जो बाधाकारक [शत्रु] इस दम्पती की ओर जाते हैं, वे न जाएँ। ये दोनों सुख-साधनों द्वारा दुःसाध्य भी संकट को पार कर जाएँ। इनके शत्रु इनसे दूर रहें।। ३२।।

The following 16 *mantras* from 32 to 47 deal with Sūryā (Savitrī):

Let not the troublesome [enemies], who approach the husband and wife, reach them. May both of them pass the arduous hardships with ease. May their enemies keep aloof from them. (32)

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन।। ३३।।

सुऽमंगलीः। इयं। वधूः। इमाम्। संऽएत। पश्यत।
सौभाग्यं। अस्यै। दत्त्वाय। अथ। अस्तम्। वि। परा इतन।।

विशिष्ट-पदानि— सुमंगली=शोभन-मंगला, शोभन-मंगल-चिह्नैर्युक्ता। समेत (सम् आ इत)=आगच्छत (आगच्छन्तु)। दत्त्वाय=दत्त्वा। अस्तम् गृहम्। विपरेतन=गच्छत (गच्छन्तु)।

इयं वधूः शोभन-मंगल-चिह्नैर्युक्ता वर्तते। [तस्याः समीपम्] आगच्छन्तु सर्वे भवन्तः [निमन्त्रिताः जनाः], पश्यन्तु च एताम्। अस्यै नवोढायै 'सौभाग्यवती भव' इत्यादि-वचनैः आशिषं दत्त्वा सर्वे भवन्तः स्व-स्व-गृहाणि परागच्छन्तु।। ३३।।

यह वधू शोभन मंगल-चिह्नों से युक्त है। इसके समीप आप सब [निमन्त्रित जन] आओ। इसे देखो। इस नवोढा को 'सौभाग्यवती हो' इत्यादि वचनों से आशीष देने के बाद आप सब अपने-अपने घरों को जाएं।। ३३।।

Fortunate is this bride, come all of you and look at her.
Wish her prosperity, and then depart to your homes. (33)

तृष्टमेतत्कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति।। ३४।।

तृष्टं। एतत्। कटुकं। एतत्। अपाष्ठऽवत्। विषऽवत्। न। एतत्। अत्तवे।
सूर्याम्। यः। ब्रह्मा। विद्यात्। सः। इत्। वाधूऽयम्। अर्हति।।

विशिष्ट-पदानि— तृष्टम्=दाहजनकम्। अपाष्ठवत्=अपाष्ठम् बाणस्य ऋजीषम् (वक्रोऽग्रभागः, 'कुण्डी' इति हिन्दी-भाषायाम्), तद्वत् तीक्ष्णम्, हृदय-विदारकम् इत्यभिप्रायः। अत्तवे=उपभोगाय। ब्रह्मा=ब्राह्मणः (प्राज्ञः)। इत=एव। वाधूयम्=वधू-सम्बन्धि, वधू-शरीरम् (सायणाचार्यानुसारं वधू-वस्त्रमित्याशयः)। अर्हति=समर्थो जायते।

वध्वा: एतत् वस्त्रं शरीरम् इत्याशय: दाहजनकम्, कटुकम् असह्यमित्यर्थ:, बाणस्य वक्राग्रभाग इव हृदय-बेधकम्, विषवत् अपकारकम्, अत: न उपभोगाय उचितम्। य: ब्रह्मा (ब्राह्मण:, नारी-देह-मनोनियन्त्रण-कुशलो जन इत्याशय:) वर्तते स एव सूर्याम् [एतां सद्य उढां देवीं] जानाति, तस्या वशीकरणे प्रभवति इति यावत्, अत असावेव वधू-शरीरस्य [उपभोगाय] समर्थो जायते। सायणाचार्यानुसारं 'तुष्टम्' आदीनि चत्वारि विशेषणानि नारी-वस्त्र-विषयकाणि। अत: तानि वस्त्राणि त्याज्यानि। इत्थं नारी अपि त्याज्या लक्ष्यते।। ३४।।

वधू का वस्त्र, [लक्षणा शब्दशक्ति इस वधू से शरीर], दाहजनक, कटुक (असह्य), बाण के नुकीले अग्र भाग (कुण्डी) के समान हृदय-बेधक तथा विषैला है। अत: यह भक्षण (उपभोग) योग्य नहीं है। ब्राह्मण (नारी के देह और मन को नियन्त्रित रखने में कुशल जन) ही इस [नवोढा] सूर्या को [वश में करना] जानता है। वह ही इसके वस्त्र अर्थात् शरीर का उपभोग करने में समर्थ होता है।। ३४।।

This [garment, i.e. the body of the lady] is inflaming, it is bitter, i.e., unpleasant, it is fitted, as it were, with arrow-barks; it is like poison, it is not fit to eat, i.e., to enjoy. [Only] a brāhmaṇa, i.e., who knows the art of controlling the body and the mind of the ladies, can dominate Sūryā and deserves [to enjoy the lovely body of] this bride. (34)

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः। पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुंधति।। ३५।।

आऽशसनम्। विऽशसनम्। अथो इति। अधिऽविकर्तनम्।
सूर्यायाः। पश्य। रूपाणि। तानि। ब्रह्मा। तु। शुंधति।।

विशिष्ट-पदानि— आशसनम्=तुषाधानम्, उपान्तम् ('बार्डर' इति आँग्ल-भाषायाम्)। विशसनम्=शिरसि निधीयमानम्। अधिविकर्तनम्= त्रिधा विभक्तं चण्डान्तकम् ('लहंगा' इति हिन्दी-भाषायाम्)। शुन्धति= अपनयति।

उपान्तम्, शिरोवस्त्रम्, त्रिधा विभक्तं चण्डान्तकञ्च— [सूर्या एतानि अमंगलानि वस्त्राणि धारयति।] एतेषां वसनानां विभिन्नवर्णान् पश्य। सूर्या-विद् ब्राह्मण एव ताम् एतेभ्यः वस्त्रेभ्यः अपनयति।। ३५।।

यद्वा

[नार्याः स्वभावस्य त्रीणि] रूपाणि — आशसनम् (अल्प-धृष्टता), विशसनम् (विशिष्ट-रूपेण धृष्टता), अधिविकर्तनम् (हृदय-विदारि-वचसां बाहुल्येन प्रयोगः)। [हे वर!] सूर्यायाः [तव नवोढायाः पत्न्याः स्वभावस्य अपि एतानि] त्रि-रूपाणि। तानि पश्य, जानाहि इत्याशयः। एतेषां शोधने तु ब्रह्मा (कुशलः जनः) एव समर्थो जायते, असावेव नार्याः एतान् दोषान् अपाकर्तुं समर्थः भवति।। ३५।।

सूर्या के [इन वस्त्रों के] विभिन्न रंगों को तो देखो—[साड़ी का सुसज्जित] उपान्त (बार्डर), शिरोवस्त्र और तीन ओर की काट वाला लहंगा। [सूर्या इन्हीं अमंगल वस्त्रों को धारण करती है, और सूर्या को जानने वाला] ब्राह्मण ही उसे ऐसे वस्त्रों से छुटकारा दिला सकता है।। ३५।।

अथवा

नारी-स्वभाव के तीन रूप हैं— किंचिद् धृष्टता, विशिष्ट रूप से धृष्टता और हृदय-विदारक वचनों का अधिकता से प्रयोग। हे वर! सूर्या के (तेरी नवोढा पत्नी के) स्वभाव के भी यही तीन रूप हैं। इन्हें देख अर्थात् जान। ब्रह्मा (कुशल जन) ही उसके इन दोषों को दूर करने में समर्थ हो सकता है।। ३५।।

Behold the hues of the [following] clothes which Sūryā wears: the fringe or the border-cloth, the head-cloth and triply parted skirt (a short petticoat). A [skilful] Brāhmaṇa can relieve her of these inauspicious clothes.

or

The nature of a woman is of three kinds: (i) obstinacy to some extent; (ii) obstinacy to extremity, (iii) and use of heart-rendering sayings. O bridegroom! Sūryā is also

contaminated by these three kinds of nature. Know about all these. Brahmā (a proficient person) can be able to relieve her from all these three flaws. (35)

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।३६।।

गृभ्णामि। ते। सौभगऽत्वाय। हस्तम्। मया। पत्या। जरत्ऽअष्टिः। यथा असः।
भगः। अर्यमा। सविता। पुरंऽधिः। मह्यम्। त्वा। अदुः। गार्हऽपत्याय। देवाः।।

विशिष्ट-पदानि— गृभ्णामि = गृह्णामि। सौभगत्वाय = सौभाग्याय। जरदष्टिः = प्राप्त-वार्धक्या। यथा = येन। असः = भवसि। भग-अर्यमा-सवितृ-पुरन्धि-शब्दानाम् अर्थाः पाद-टिप्पण्यां निर्दिष्टाः।[१] त्वा = त्वाम्। अदुः = दत्तवन्तः।

वरो वदति— हे वधु! अहं तव हस्तं सौभाग्य-प्रवृद्धये गृह्णामि। त्वं मया पत्या सह वार्धक्य-पर्यन्तं निवत्स्यसि। पूषा भगोऽर्यमा सविता एते देवाः त्वां मह्यं दत्तवन्तः, येन अहं गृहस्वामी भवेयम्।

---

१. भगादयः सर्वे चत्वारः देवाः सूर्यस्य भिन्न-रूपाणि। यथा—

१. भगः —(१) सुख-समृद्धि-प्रदाता आदित्यः; (२) उषसः भ्राता; (३) 'उत्तर-फल्गुनी' इत्याख्य-नक्षत्रस्य प्रतिनिधिः, एतद् द्वादशं नक्षत्रं, यस्मिन् द्वितारकयोः पुंजः भवति।

२. अर्यमा — द्वादशादित्येषु एकः। आकाशगंगा अस्ति अस्य मार्गः।

३. सविता— यदा दिवः अन्धकारो नश्यति, रश्मयश्च चतुर्दिक्षु विस्तीर्णाः जायन्ते सः कालः सवितुः आदित्यस्य— "तस्य (सवितुः) कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति" (निरुक्त १२.१२)।

४. पूषा पुरन्धिर्वा— सायणाचार्यानुसारम् पुरन्धिः देवः पूषा एव। पुरन्धिः— सर्वेषां धारयिता। पूषा अपि सूर्येण सम्बद्धः, अतः एष सर्वपदार्थानां निरीक्षकः, लोकान्तरेषु यात्रा-संचालकश्च मन्यते। पूषा सर्वेषां पोषकः अपि कथ्यते।। ३६।।

वर कहता है— हे वधू! मैं तेरा हाथ सौभाग्य-वृद्धि के लिए पकड़ता (थामता) हूँ। तुम मुझ पति के साथ वृद्धावस्था-पर्यन्त रहोगी। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि (पूषा)— इन चार देवों ने तुम्हें मुझको प्रदान किया है जिससे कि मैं गृहस्वामी बनूँ।[१] ।।३६।।

I take your hand for good fortune that you may attain old age with me as your husband. All these four gods (the different forms of the Sun): Bhaga, Aryaman, Savitā and Pūṣā or Purandhi, have given you to me, so that I may be the master of a household. (36)

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्।।३७।।

तां। पूषन्। शिवऽतमां। आ। ईरयस्व। यस्याम्। बीजं। मनुष्याः। वपन्ति।
या नः। ऊरू इति। उशती। विऽश्रयाते। यस्याम्। उशन्तः। प्रऽहराम। शेपम्।।

विशिष्ट-पदानि— पूषन् = पोषक देव! शिवताम् = मंगलमयीम्। एरयस्व (आ ईरयस्व) = सर्वतः प्रेरय। ऊरू = जानु-परिभागौ। उशती = कामयमाना। विश्रयाते = विवृणोति। उशन्तः = कामयमानाः। शेपम् = पुंस्प्रजननम्, शिश्नम्।

हे पोषक देव! तां [भूमिमिव] अत्यन्त-मंगलभूतां नारीम् [अस्मान् प्रति] सर्वतः (सम्यग्-रूपेण) प्रेरय यस्याम् पुरुषाः बीजं रेतसं वपन्ति (आदधते इत्याशयः) । या अस्मान् कामयमाना स्वौ ऊरू विवृणोति। यस्यां (यस्याः उपस्थे) रतिक्रियां कामयमानाः वयं पुरुषाः स्व-शिश्नं प्रहरामः सुदृढं प्रवेश्य वारं वारम् आघातयामः।। ३७।।

हे पोषक देव! आप उस नारी को जो कि [भूमि के सदृश] मंगलमयी है, [हमारे प्रति] सम्यग् रूप से प्रेरित करें जिसमें कि मनुष्य बीज बोते हैं। जो हमारी कामना करती हुई अपनी जंघाओं को खोल देती है। जिस [की उपस्थ] में रति-कामना करते हुए हम पुरुष [अपने] शिश्न को सुदृढ़ता-पूर्वक डाल कर बार-बार आघात करते हैं।। ३७।।

---

१. भग आदि ये चारों देव सूर्य के भिन्न रूप माने गये हैं, जोकि संस्कृत-भाग की पाद-टिप्पणी में निर्दिष्ट किये गये हैं।

O Pūṣan! inspire her who is most auspicious, [like an earth,] in whom men may sow seed, who having keen desire [to meet menfolk] opens her thighs, and in whom (into her vagina) we, animated by desire, thrust our penis and strike again and again. (37)

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह।। ३८।।

तुभ्यम्। अग्रे। परि। अवहन्। सूर्याम्। वहतुना। सह।
पुनरिति। पतिऽभ्यः। जायाम्। दाः। अग्ने। प्रऽजया। सह।।

विशिष्ट-पदानि— अग्रे=पूर्वस्मिन् काले। पर्यवहन्=प्रायच्छन् इत्यर्थः। वहतुना (वहतुः=वध्वाः वस्त्राभूषणम्, तेन सह)=वस्त्राभूषणेन सह। दा=प्रयच्छ। प्रजया=सन्तत्या (पुत्रेण)।

हे यज्ञाग्ने! पूर्वस्मिन् काले [गन्धर्वाः] तुभ्यं सूर्यां वैवाहिक-वस्त्राभूषणैः सह प्रायच्छन्। [अधुना] त्वं [अस्मभ्यं] पतिभ्यः एतां पत्नीरूपां पुत्रेण सह प्रयच्छ।। ३८।।

हे अग्नि! पूर्वकाल में [गन्धर्वों ने] सूर्या को वैवाहिक वस्त्राभूषणों के साथ तुझे अर्पित किया था। [अब] तुम इसे पत्नी-रूप में पुत्र के साथ [हम] पतियों को अर्पित करो।। ३८।।

O Agni! [The Gandharvas] gave Sūryā to you with her bridal ornaments. [Now] You do give us—the husbands—our wife back again with male offspring. (38)

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्।। ३९।।

पुनरिति। पत्नीम्। अग्निः। अदात्। आयुषा। सह। वर्चसा।
दीर्घऽआयुः। अस्याः यः। पतिः जीवाति। शरदः शतम्।।

विशिष्ट-पदानि— अदाद्=प्रायच्छत्। जीवाति=जीवतु। शरदः=वर्षाणि।

एतदनन्तरं यज्ञाग्निः दीर्घायुषा तेजसा च सह सम्पन्नां [भावि-] पत्नीं [तस्मै पुरुषाय] प्रायच्छत्। [वयं सर्वे प्रार्थयामहे यत्] अस्याः पतिः आयुष्मान् भूत्वा शतं वर्षाणि जीवतु।। ३९।।

इसके अनन्तर यज्ञाग्नि ने दीर्घ आयु तथा तेज से सम्पन्न सूर्या उस पुरुष को अर्पित की। [हम सब] प्रार्थना करते हैं कि इसका पति आयुष्मान् होकर शत वर्ष पर्यन्त जिये।। ३९।।

After this, Agni gave [this man] his wife back with full of life and splendour, May he who is her husband, enjoying long life, live for a hundered years. (39)

सोमः प्रथमो विविदे गंधर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।। ४०।।

सोमः। प्रथमः। विविदे। गंधर्वः। विविदे। उत्ऽतरः।
तृतीयः। अग्निः। ते। पतिः। तुरीयः। ते। मनुष्यऽजाः।।

विशिष्ट-पदानि— विविदे=लब्धवान्। उत्तर=द्वितीयः इत्याशयः। तुरीयः=चतुर्थः।

हे सूर्ये! त्वां सोमः प्रथम-पति-रूपेण लब्धवान्, सोमः तव प्रथमः पतिः अभवत् इति तात्पर्यम्। तदनन्तरं, गन्धर्वः तव उत्तरः (द्वितीयः) पतिः जातः। इत्थं तव तृतीयः पतिः अग्निः अभवत्। चतुर्थश्च तव पतिः एष मनुष्य-सन्ततिः वर्तते।। ४०।।

हे सूर्ये! तुझे सोम ने पहले पति के रूप में प्राप्त किया। इसके बाद गन्धर्व तुम्हारा दूसरा पति बना। इस प्रकार तेरा तीसरा पति अग्नि हुआ और यह तुम्हारा चौथा पति मनुष्य से उत्पन्न है।। ४०।।

Soma first obtained the bride; the Gandharva obtained her next; Agni was your third husband; your fourth [husband] is born of man. (40)

सोमो॑ दददगंधर्वाय॑ गंधर्वो द॑ददग्नये॑।

रयिं च॑ पुत्रांश्चा॑दादग्निर्मह्यमथो॑ इमाम्।। ४१।।

सोम॑ः। ददत्। गंधर्वाय॑। गंधर्व॑ः। ददत्। अग्नये॑।

रयिम्। च। पुत्रान् च। अदात्। अग्निः। मह्य॑म् अथो इति॑। इमाम्।।

विशिष्ट-पदानि— ददत्=अयच्छत्। रयिम्=धनम्, सुख-समृद्धिम्। अदात्=अयच्छत्।

एतां कन्यां सोमः गन्धर्वाय प्रायच्छत्। गन्धर्वः ताम् अग्नये अयच्छत्। अग्निश्च ताम् इमां मह्यम् अदात्, तया सह मह्यं भाविनीं सुख-समृद्धिं सन्ततिमपि अदात्।। ४१।।

इस कन्या को सोम ने गन्धर्व को प्रदान किया, गन्धर्व ने अग्नि को, और अग्नि ने मुझे, और उसके साथ मुझे भावी सुख-समृद्धि और सन्तति भी प्रदान की।। ४१।।

Soma gave her to the Gandharva; the Gandharva gave her to Agni; Agni has given her to me [along with] wealth and sons. (41)

मन्त्र-संख्याकाः ४२-४७ आशीर्वचनात्मकाः। एते मन्त्राः तदा उच्चार्यन्ते यदा वरः वध्वा सह स्वगृहे समासदति —

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्य॑श्नुतम्।

क्रीळंतौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोद॑मानौ स्वे गृहे।। ४२।।

इह। एव। स्तम्। मा। वि। यौष्टम्। विश्व॑म्। आयु॑ः। वि अश्नुतम्।

क्रीळंतौ। पुत्रैः। नप्तृऽभिः। मोद॑मानौ। स्वे। गृहे।।

विशिष्ट-पदानि— इह=अत्र (अस्मिन् लोके)। स्तम्=वसताम्। वियौष्टम्=वियुक्तौ भवतम्। व्यश्नुतम् = प्राप्नुतम्। नप्तृभिः=पौत्रैः।

हे वरवधू-जनौ! युवाम् अस्मिन् लोके [सुखपूर्वक] वसतम्। न कदापि वियुक्तौ भवतम्। पूर्णम् आयुः प्राप्नुतम्। पुत्रैः पौत्रैः सह क्रीडन्तौ युवां स्वस्मिन् गृहे मोदमानौ वसतम्।। ४२।।

मन्त्र-संख्या ४२ से ४७ तक तब बोले जाते हैं जब वर वधू के साथ अपने घर आता है, और अग्नि में आहुति देता है। पहले वर-वधू को संबोधित किया जाता है, और इसके बाद वधू को आशीर्वाद दिया जाता है। ४७वां मन्त्र वर अपने लिये तथा वधू के लिए बोलता है—

हे वर तथा वधू! तुम दोनों इस लोक में सुखपूर्वक रहो, कभी जुदा न होओ। भरपूर आयु जियो। पुत्रों और पौत्रों के संग खेलते हुए अपने घर में सदा आनन्द मनाते रहो।। ४२।।

The following *mantras* 42-47 are recited when the bridegroom has returned with his bride to his home, and offers oblations in fire. The wedded pair is addressed first, and then the bride is exhorted and blessed. The *mantra* 47 is spoken by the bridegroom for his wife and himself:

O ye newly weds! abide here together; may you never be separated; live together all your lives—sporting and playing with sons and grandsons and rejoicing in your own abode.

(42)

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मंगलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।४३।।

आ। नः। प्रऽजां। जनयतु। प्रजाऽपतिः। आऽजरसाय। सम्। अनक्तु। अर्यमा।
अदुःऽमंगलीः।पतिऽलोकम्।आ।विश।शम्।नः।भव।द्विऽपदे।शम्।चतुःऽपदे।।

विशिष्ट-पदानि— आजरसाय = जरापर्यन्तम्। समनक्तु = संगमयतु। अदुर्मंगली = न दुर्मंगली, न अशुभा = शुभा, शुभलक्षणा इत्याशयः। द्विपदे = द्विपदाय। चतुष्पदे = चतुष्पदाय।

प्रजापतिः (सृष्ट्याः अधिष्ठाता देवः) अस्माकं प्रजां सन्ततिमित्यर्थः उत्पादयतु। अर्यमा (सूर्यः) च जरापर्यन्तम् [अस्मान्] समनक्तु संगमयतु। दुर्मंगल-रहिता (मंगलवती, शुभलक्षणा) त्वं पतिगृहं (पत्युः तत्सम्बन्धिनां

च गृहं) प्रविश। त्वं च अस्माकं द्विपदेभ्य: (बन्धु-बान्धव-भृत्यादिभ्य:) चतुष्पदेभ्य: सर्वेभ्य: गो-अश्व-आदिक-पशुभ्य: सदा सुखदायिनी भव।।४३।।

प्रजापति (सृष्टि का अधिष्ठाता देव) हमें सन्तति प्रदान करे। अर्यमा (सूर्य) हमें वृद्धावस्था पर्यन्त परस्पर संयुक्त रखे। दुर्मंगल-रहिता— मंगलवती शुभलक्षणा वधू! तू पति [तथा उसके सम्बन्धियों] के घर में प्रवेश कर। तू हमारे द्विपादों (बन्धु-बान्धवों, भृत्य आदि) के लिए तथा चतुष्पादों (गौ, बैल, अश्व आदि पशुओं) के लिए सदा सुखदायिनी बनी रह।।४३।।

May Prajāpati bring children forth to us. May Aryaman unite us together until old age. O you an auspicious bride! enter your husband's abode, and bring blessing to his bipeds and quadrupeds. (43)

अघो॑रचक्षु॒रप॑तिघ्न्येधि शि॒वा प॒शुभ्यः॑ सु॒मनाः॑ सु॒वर्चाः॑।
वी॒र॒सूर्दे॒वका॑मा स्यो॒ना शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे।। ४४।।

अघो॑रऽचक्षुः। अप॑तिऽघ्नी। ए॒धि॒। शि॒वा। प॒शुऽभ्यः॑। सु॒ऽमनाः॑। सु॒ऽवर्चाः॑। वी॒र॒ऽसूः। दे॒वऽका॑मा। स्यो॒ना। शम्। न॒। भ॒व॒। द्वि॒ऽपदे॑। शम्। चतु॑ःऽपदे।।

विशिष्ट-पदानि— अघोर-चक्षुः = अभयंकर-नेत्रा, सौम्य-नेत्रा। अपतिघ्नी = पत्ये न दुःखदात्री, तस्मै सुखदात्री इत्यर्थः। वीरसूः = वीरसन्ततेः जन्मदात्री। देव-कामा = शुभलक्षणवद्भिः जनैः सह सम्पर्कवती। 'देवृकामा' पाठोऽपि केषुचित् संस्करणेषु प्राप्यते। देवृकामा = देवर-ज्येष्ठादिकान् प्रति सद्-व्यवहार-शीला। स्योना = सुखकरी।

हे वधु! त्वं स्वपत्ये सौम्यनेत्रा अक्रुद्धा इत्याशयः, सुखदात्री च भव। [गृहस्य] पशुभ्य: कल्याणकारिणी भव। त्वं शुभमनस्का, उत्तम-तेजस्विनी, वीर-सन्ततेः प्रसवित्री (उत्पादयित्री) च भव। अपि च, त्वं देवैः (शुभलक्षणवद्भिः जनैः) यद्वा देवृभिः (देवर-ज्येष्ठादिभिः) सह सम्पर्कवती तान् प्रति सद्व्यवहारशीला भव। सर्वेभ्यश्च जनेभ्य: सुखकरी, बन्धु-बान्धवेभ्य: पशुभ्यश्च त्वं सुखदायिनी भव।। ४४।।

हे वधू! तू अपने पति के प्रति सौम्य नेत्र वाली अर्थात् कोपरहिता तथा सुखदात्री बनी रह। [घर के] पशुओं के लिए कल्याणकारी हो। तू शुभ मन वाली, उत्तम तेज से दीप्त तथा वीर सन्तति की उत्पादयित्री हो। तुम देवों (शुभलक्षण-सम्पन्न लोगों) के साथ, अथवा देवर, ज्येष्ठ आदि सगे-सम्बन्धियों के साथ, सम्पर्क रखने वाली (उनके प्रति सद्व्यवहार करने वाली) बनी रहो तथा सब बन्धु-बान्धवों और घर के पशुओं के लिए सुखदायिनी बनी रहो।। ४४।।

[Look upon your husband] with no angry eye, be not hostile to your lord, be tender to animals, be amiable, be very glorious, be the mother of males, be devoted to the gods, or the other people of the house like husband's younger or elder brother, etc., be the bestower of happiness, be the bringer of prosperity to his bipeds and quadrupeds. (44)

इमां त्वमिंद्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।४५।।

इमाम्। त्वम्। इंद्र। मीढ्वः। सुऽपुत्राम्। सुऽभगाम्। कृणु।
दश। अस्याम्। पुत्रान्। आ। धेहि। पतिम्। एकादशम्। कृधि।।

विशिष्ट-पदानि— हे मीढ्वः=हे उदारचेतः! सुभगाम्=सौभाग्यशालिनीम्। कृणु=कुरु। कृधि=कुरु।

हे उदारचेतः इन्द्र! त्वम् इमां वधूम् सपुत्रवतीं सौभाग्यशालिनीम् समृद्धि-सम्पन्नां च कुरु। अस्यां दश पुत्रान् आधेहि (अस्यां दशपुत्राणाम् आधानं कुरु)। इत्थम् अस्याः गृहे पत्युः योगेन एकादश जनाः सुखेन वसन्तु।। ४५।।

हे उदार-हृदय इन्द्र! तू इस वधू को सुपुत्रवती, सौभाग्यशालिनी तथा समृद्धि-सम्पन्न बनाये रखो। इसे दश पुत्र प्रदान करो। इन्हें तथा इसके पति को मिलाकर कुल ग्यारह जन इसके घर में सुखपूर्वक रहें।। ४५।।

O Indra, the showerer! make her the mother of sons, pleasing [to her husband]; give her ten sons. [She may remain] with her husband : the eleventh [member in the family]. (45)

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननांदरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।। ४६।।

संऽराज्ञी। श्वशुरे। भव। संऽराज्ञी। श्वश्र्वां। भव।
ननांदरि। संऽराज्ञी। भव। संऽराज्ञी। अधि। देवृषु।।

विशिष्ट-पदानि— सम्राज्ञी = शोभाशालिनी इत्याशयः। श्वशुरः = पत्युः जनकः। ननांदृ = पत्युः भगिनी। श्वश्रूः = पत्युः जननी।

हे वधु! त्वं श्वशुरस्य अनुज्ञाम् अनुवर्तमाना शोभाशलिनी भव। श्वश्र्वाः अनुज्ञाम् पालयन्ती शोभाशालिनी भव। ननांदुः च अनुज्ञाम् आचरन्ती शोभाशालिनी भव। अपि च देवराणाम् मध्ये शोभाशालिनी भव।। ४६।।

हे वधू! तू श्वशुर, श्वश्रू, ननद तथा देवरों की अनुज्ञा पर आचरण करती हुई सदा सम्राज्ञी (शोभाशालिनी) बनी रह।। ४६।।

O bride! be a queen (ruler) to your father-in-law, be a queen to your mother-in-law, be a queen to your husband's sister, be a queen to your husband's brothers. (46)

समंजंतु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ।। ४७।।

सम्। अंजंतु। विश्वे। देवाः। सम्। आपः। हृदयानि। नौ।
सम्। मातरिश्वा। सम्। धाता। सम्। ऊम् इति। देष्ट्री। दधातु नौ।।

विशिष्ट-पदानि— संमंजन्तु (सम्यग् अंजन्तु) = विशुद्धीकुर्वन्तु, निर्मली कुर्वन्तु इत्याशयः। आपः = जलानि। हृदयानि (हृदये) = मानसानि (मानसे)।

मातरिश्वा=वायुः। धाता=धारयिता (प्रजापतिः)। देष्ट्री= [उपदेश-]दात्री, सरस्वती इत्याशयः। संदधातु=सम्यग् धारयतु।

वरो वधूः च वदतः— सर्वे देवाः जलानि च आवयोः मानसे विशुद्धीकुर्वन्तु, आवां जागतिकव्यवहारैः सुपरिचितौ कुर्वन्तु इत्याशयः। मातरिश्वा (वायुः), धाता (धारयिता, प्रजापतिः), [फलानां] प्रदात्री (सरस्वती) च आवयोः मानसे सम्यग् धारयन्तु, आवयोः बुद्धी परस्परानुकूले कुर्वन्तु इत्याशयः।। ४७।।

वर तथा वधू कहते हैं– सभी देव तथा जल हमारे हृदयों को सम्यग् रूप से दीप्त करें, अर्थात् जगत् के व्यवहारों से हमें सुपरिचित करें। मातरिश्वा (वायु), धाता (धारयिता, प्रजापति) और [फलों की] प्रदात्री (सरस्वती) हमारे हृदयों को सम्यग् रूप से धारण करें, अर्थात् हमारी बुद्धियों को परस्पर अनुकूल बनाएं।। ४७।।

The bridegroom and the bride say together: May the universal gods and the watres make our hearts pure and chaste [to enable us to understand the worldly affairs clearly and properly]. May Mātariśvan (the wind), Dhātā (Prajāpati) and the bountiful (Śarasvatī) hold our hearts firmly, i.e., make our minds agreeable to each other for ever. (47)

विवृति

१. ऋग्वेदीय यह सूक्त (१०.८५), जिसमें ४७ मन्त्र हैं, 'सूर्या सूक्त' भी कहाता है और 'विवाह-सूक्त' भी, क्योंकि इसमें सूर्य की पुत्री सूर्या (उषस्) का सोम अर्थात् चन्द्रमा के साथ कल्पित विवाह वर्णित है।

२. सोम शब्द द्व्यर्थक है। यह शब्द सोम नामक वल्ली का वाचक भी है और चन्द्रमा का भी। इस सूक्त में सूर्या का विवाह यों तो सोम (चन्द्रमा) के साथ वर्णित किया गया है, पर किन्हीं मन्त्रों में 'सोम' का अर्थ सोम नामक वल्ली भी अभिधामूला शाब्दी व्यंजना वृत्ति के माध्यम से व्यंजित होने लगता है। किन्हीं मन्त्रों में सोम (वल्ली) और सोम (चन्द्रमा)

का सादृश्य शब्दश्लेष के माध्यम से दर्शित किया गया है, जैसे मन्त्र-संख्या २,३,४,५ में।

३. यह सूक्त आधुनिक भारत में प्रचलित विवाह-पद्धति का आदिम स्रोत है। इसी सूक्त के अनेक मन्त्र आज भी विवाह-संस्कार के अवसर पर उपयोग में लाये जाते हैं। जैसे— गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं.......... (३६)।

४. यह सूक्त भारतीय समाज एवं संस्कृति की दृष्टि से, विशेषतः विवाह-संस्कार का मूल स्रोत होने के कारण, अति महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ यह स्थल लीजिए—

(१) आदर्श दम्पती ऐसे हों जैसे सूर्य (सूर्य की शक्ति सूर्या) और चन्द्रमा जो कि क्रम से (एक दूसरे के बाद) घूमते रहते हैं। सूर्य अपनी शक्ति (सूर्या) द्वारा यदि जीवित प्राणियों को देखता रहता है तो चन्द्रमा ऋतुओं को व्यवस्थित करता रहता है (१८)। आदर्श गृहस्थ धर्म भी तो ऐसा होता है— पति और पत्नी नियमित रूप से अपने-अपने कर्तव्यों का पालन सदा करते रहते हैं।

(२) विवाहोत्सव में हर्षोल्लास भरे गीत गाये जाते हैं। इस सूक्त में भी स्तुतिपरक गान के तीन प्रकारों का उल्लेख है— रैभी, नाराशंसी और गाथा (मन्त्र-संख्या ६)। यों, इन शब्दों से क्रमशः शिक्षा-प्रद उपदेश, वधू की स्तुति तथा गेय गाथा (आख्यान) अभिप्राय भी ग्रहण कर लिया जाता है।

(३) सूर्या सजी-धजी दुल्हन है। वह भावी पति के शुभ संकल्पों में डूबी बैठी है— मानो यही संकल्प उसका तकिया है जिसके सहारे वह भविष्य की सुनहरी कल्पनाओं में खोयी हुई है। ज्ञानात्मक प्रकाश उसके नेत्रों का काजल है जो उसे गृहस्थ धर्म का स्वच्छ मार्ग दिखाता है। समग्र आकाश और सारी भूमि उसका धन (स्त्रीधन) है।

(४) इस सूक्त में दुल्हन के सुन्दर वस्त्रों की चर्चा है, वरयात्रा का उल्लेख है— अश्विनीकुमार आदि बाराती हैं, अग्निदेव पुरोगन्ता हैं— बारात के आगे-आगे चलने वाले हैं (८)। जिस रथ पर सवार होकर वह धीरे-धीरे चली जा रही है उसकी सुन्दरता के क्या कहने! यह सब वर्णन प्रतीकात्मक और आलंकारिक रूप में है—

सूर्या का मन रथ है, जो कि पलाश और सेमर वृक्षों की लकड़ी से निर्मित है। यह रंग-बिरंगा, चमकता-दमकता स्वर्णालंकारों से विभूषित है, और गहरे सुर्ख़ किंशुक-पुष्पों से सुसज्जित है। सारा आकाश इस रथ का आच्छादन है। सूर्य और चन्द्रमा रूपी दो श्वेतवर्ण बैल इसे खींच रहे हैं। यह रथ द्युलोक के मार्ग पर चला जा रहा है। इस रथ के दो चक्र हैं। इन चक्रों के बीच से गुज़रती एक काष्ठा है (१०-१२)। इस रथ का एक तीसरा चक्र भी है जो गुहा (मन) के भीतर निहित है (१६)।

(५) सूर्या के पिता सूर्य ने उसे जो अनेक द्रव्योपहार दिये हैं, वे पहले ही उस काल इसके पति-गृह में भेज दिये गये हैं, जब चन्द्रमा मघा नक्षत्र में था (१३)।

(६) सूर्य और उसकी पुत्री सूर्या दोनों वात्सल्य के बन्धन में बँधे हैं, और ऋत्विक्-महोदय मानो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए सूर्या को इस मोह-पाश से मुक्त करते हुए उसे उसके पति-गृह में स्थापित करते हैं (२४, २५)।

(७) इस सूक्त के मार्मिक स्थल हैं—

(क) जब वर वधू का हाथ ग्रहण करता है और वृद्धावस्था-पर्यन्त उसे साथ निभाने को कहता है (३६),

(ख) जब उन्हें अभ्यागतों द्वारा आशीर्वाद दिया जाता है कि वे पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए आजीवन आनन्द मनाते रहें (४२),

(ग) जब वधू के लिए शुभ कामनाएं की जाती हैं कि वह अपने श्वसुर के घर में एक सम्राज्ञी की भाँति रहे (४६), आदि आदि।

(घ) इसी प्रसंग में उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद में यह भी निर्दिष्ट है कि वधू अपने पतिगृह में रहती हुई भी अपने माता-पिता, भाई-बन्धुओं के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाये रहे—

> एष तै राजन् कुन्या वुधूर्नि धूंयतां यम!
> सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथौ पितुः।। (अथर्व० १.१४.२)

(८) जब वधू पिता के घर से पति-गृह को रवाना हो रही है तो उसे आशीर्वादों, शुभकामनाओं और सुशिक्षाओं से लाद दिया जाता है कि

वह पतिगृह की स्वामिनी बनी रहे, और पति के साथ वार्धक्य-पर्यन्त स्वस्थ बनी रहे (२६, २७)।

५. निस्सन्देह उपर्युक्त सभी स्थल अति सुन्दर, विवाह-पद्धति के मूल स्रोत एवं विवाहोत्सव तथा सुचारु गृहस्थ-जीवन के लिए शिक्षा प्रद हैं। पर यह सूक्त समग्रतः एक सूत्र में बँधा हुआ नहीं है। बीच-बीच में ऐसे स्थल हैं जो विवाह-प्रसंग के अन्तर्गत व्याघात उत्पन्न करते हैं। यथा— विश्वावसु नामक गन्धर्व को कन्या (संभवतः कन्यात्व) का रक्षक मानते हुए कहा गया है कि अब सूर्या का विवाह हो गया है, अतः वह अब यह कर्तव्य किसी अन्य कन्या के विषय में निभाए (२१, २२)।

६. एक स्थल पर कृत्या (संभवतः ऋतुमती नारी) और उसके आर्तव रक्त से सने दूषित वस्त्रों का भी वर्णन है (२८, २९), जिससे संकेतित किया गया है कि ऐसी नारी से संभोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार यक्ष्मा आदि रोगों से ग्रस्त वधू से भी समागम न करने का संकेत है (३१)। निःसन्देह ये उपदेशात्मक स्थल वैवाहिक जीवन में अत्यन्त उपयोगी एवं उपादेय हैं।

७. विवाह-विधि तथा गृहस्थ-धर्म के माहात्म्य से सम्बन्धित अनेक स्थल चारों वेदों में प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से उपलब्ध हो जाते हैं, पर ऋग्वेद का यह सूक्त वैवाहिक पद्धति का स्रोत तो है ही, काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से भी महनीय है।

८. छह वेदांगों में कल्प नामक वेदांग[1] का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसके अन्तर्गत गृह्यसूत्र में गृह्याग्नि में होने वाले यागों का तथा उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत वर्णन है। चारों वेदों के अपने-अपने गृह्यसूत्र हैं। इनमें से आश्वलायन और कौशीतक नामक ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों में पारस्कर नामक शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र में, गोभिल नामक सामवेदीय गृह्यसूत्र में विवाह-पद्धति का विधिविधान अति अनुपम, भावप्रवण एवं ललित शैली में प्रस्तुत किया गया है। ऐसा अनुष्ठान, सच तो यह है कि, विश्व के किसी वाङ्मय में शायद ही उपलब्ध हो।

---

१. कल्प-वेदांग के चार प्रकार हैं— श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र।

९. विवाह-संस्कार के समय पुरोहित महोदय की वाणी से निकले वचन वर-वधू को एक-दूसरे का जीवन-साथी बने रहने को प्रेरित करते हैं। अनुष्ठान में उपस्थित लोग मानसिक रूप में तथा यथानिर्दिष्ट उच्चरित रूप में वर-वधू की आजीवन मंगल-कामनाएं करते हैं— विशेष रूप जब ये लोग इस सूक्त के इन मन्त्रों को बोलकर आशीर्वाद दे रहे होते हैं तो उनकी आँखों से खुशी के आँसू छलछला उठते हैं—**'इहैव स्तं मा वियौष्टं....'** (४२), **'अघोरचक्षुः....'** (४४), **'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः...'** (४५) **'समञ्जन्तु विश्वे देवाः......'** (४७)। और, **''गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं.....'** (३६) मन्त्र का उच्चारण करते हुए वर जब वधू का हाथ थामता है—'पाणि-ग्रहण' करता है, तो उपस्थित जन-समुदाय का हृदय खुशियों से भर उठता है। इतना ही नहीं, इसी सूक्त से **'प्रत्वा मुञ्चामि....'** तथा **'प्रेतो मुञ्चामि...'** (२४,२५) मन्त्र भी बोले जाते हैं जिससे वधू के तन और मन के रोगों की निवृत्ति हो और उसे सुख-शान्ति प्राप्त हो। इस प्रकार यह सूक्त विवाह-संस्कार-विषयक कर्मकाण्ड का मूल स्रोत है।

१०. अन्ततः उल्लेख्य है कि मनुस्मृति में विवाह-विषयक जो बृहत् सामग्री प्रस्तुत है, उसका मूल आधार ऋग्वेद के इसी प्रकार के सूक्त हैं— और उनमें भी विशेषतः यही सूक्त प्रमुख है। मनुस्मृति के ये प्रकरण ऋग्वेदीय वचनों का ही वस्तुतः विकसित एवं व्यापक रूप प्रस्तुत करते हैं।

८. इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद

(ऋग्वेद १०.८५)

ऋग्वेदस्य दशम-मण्डलस्य षडशीतितमं सूक्तम्

त्रयोविंशत्यृचस्यास्य सूक्तस्य प्रथमाष्टम्येकादशी-द्वादशी-चतुर्दशीनामृचा-मेकोनविंश्यादि-चतसृणाञ्चेन्द्र ऋषिः, द्वितीयादि-पञ्चानां नवमीदशम्योः पञ्चदश्यादि-चतसृणाञ्चेन्द्राणी ऋषिका, सप्तमी-त्रयोदशी-त्रयोविंशीनाञ्चेन्द्रो वृषाकपिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। पङ्क्तिश्छन्दः।।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का यह ८६वाँ सूक्त है। इस सूक्त में २३ मन्त्र हैं। इनमें से संख्या १, ८, ११, १२, १४, १९-२२ मन्त्रों का ऋषि इन्द्र निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु ऋचा-संख्या १ तथा २२ की ऋषिका इन्द्राणी प्रतीत होती है। संख्या २-६, ९, १०, १५-१८ मन्त्रों की ऋषिका इन्द्राणी है तथा संख्या ७, १३, २३ मन्त्रों का ऋषि वृषाकपि है। इस सूक्त का देवता इन्द्र है तथा यह सूक्त पंक्ति छन्द में रचित है।

वि हि सोतो॒रसृ॑क्षत॒ नेन्द्रं॑ दे॒वमं॑मंसत।
यत्राम॑दद् वृ॒षाक॑पिर॒र्यः पु॒ष्टेषु॒ मत्स॑खा॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः।।१।।

वि। हि। सोतोः॑। असृ॑क्षत। न। इंद्रं॑। दे॒वं। अ॒मं॒स॒त॒।
यत्र॑। अम॑दत्। वृ॒षाक॑पिः। अ॒र्यः। पु॒ष्टेषु॑। मत्ऽस॑खा। विश्व॑स्मात्। इंद्रः॑। उत्ऽत॑रः।।

अन्वयः— पुष्टेषु सोतोः हि व्यसृक्षत। इन्द्रं देवं न अमंसत। अर्यः वृषाकपिः यत्र अमदत्, मत्सखा इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— पुष्टेषु=प्रवृद्धेषु। सोतोः=सोमरसस्याभिनवं कर्तुम्। व्यसृक्षत=उपरता जाताः। अमंसत=मन्यते स्म। अर्यः=स्वामी, श्रेष्ठः, उदारः।

[अस्य सूक्तस्य पञ्चमे मन्त्रे निर्दिष्टं यद् इन्द्राण्यै कल्पितं हविः वृषाकपिना दूषितं कृतम्। एतेन तं प्रति क्रुद्धा इन्द्राणी वदति—] यत्र (यस्मिन् देशे) प्रवृद्धेषु [यागेषु], [यद्यपि यजमानाः] सोमरसस्य अभिनवं

कर्तुम् उपरता जाताः, [ते च मम पतिम्] इन्द्रं देवं द्योतमानं न मन्यन्ते (स्तोतारः इन्द्रं न स्तुवन्ति इत्याशयः)। [अतएव] स्वामी, श्रेष्ठो वा उदारो वा वृषाकपिः [सोमपानेन] हृष्टोऽभूत्, [तथापि तत्र] मम सखा (प्रियः पतिर्वा इत्याशयः) इन्द्रः सर्वस्माज्जगतः उत्कृष्टतरो वर्त्तते।। १।।

[जैसा कि आगे मन्त्र-संख्या पांच में कहा गया है कि इन्द्राणी के लिए कल्पित हवि वृषाकपि ने दूषित कर दी, [संभवतः उसे उच्छिष्ट कर दिया,] तो उसके प्रति इन्द्राणी कह उठी—] जहां (जिस देश में) [यद्यपि यजमानों ने] प्रवृद्ध [यागों] में सोमरस का पीसना बन्द कर दिया है [तथा वे मेरे पति] इन्द्र को देव (द्योतमान्) नहीं मानते, अर्थात् स्तुतिकर्ता यजमान इन्द्र की स्तुति नहीं करते, [और इसी कारण] स्वामी अथवा श्रेष्ठ अथवा उदार वृषाकपि [सोमपान से] प्रसन्न हो रहा है, [फिर भी] मेरा सखा (पति) इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। १।।

[As said in the fifth verse when Vṛṣākapi spoils the oblations meant for Indrāṇī she speaks in rage:] Where in the cherished sacrifices they (the Yajamānas; the performers of Yajñas) have abstained from pressing or pouring the soma, and [also] count not Indra as a god, [that is why at which] the noble / the master / the generous Vṛṣākapi is getting rejoiced, [yet] Indra (my husband) is above all [in the world]. (1)

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।२।।

परा। ही। इंद्र। धावसि। वृषाकपेः। अति। व्यथिः।
नो इति। अह। प्र। विंदसि। अन्यत्र। सोमऽपीतये। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः— इन्द्र! अतिव्यथिः वृषाकपेः पराधावसि। सोमपीतये नो अह अन्यत्र प्रविन्दसि। इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— अतिव्यथिः=अत्यन्तं चलितः। वृषाकपेः परा=वृषाकपिं प्रति। सोम-पीतये=सोम-पानाय। अह=एव, च। प्रविन्दसि=प्रगच्छसि।

इन्द्राणी वदति— हे इन्द्र! त्वम् अत्यन्तं चलितः (गतिमान्, वेगवान्) सन् वृषाकपिं प्रति धावसि, सोमपानाय च न अन्यत्र प्रगच्छसि, तथापि इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरोऽस्ति।। २।।

इन्द्राणी कहती है— हे इन्द्र! तुम अत्यन्त गतिमान (वेगवान्) होकर वृषाकपि की ओर दौड़ते चले जाते हो, तथा सोमपान के लिए अन्यत्र नहीं जाते हो, [फिर भी] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। २।।

Indrāṇī says: You, O Indra! swift as you are, hasten towards Vṛṣākapi; and nowhere else you find place wherein to drink Soma, Indra is above all [in the world]. (2)

किमुयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः।
यस्मा इरस्यसीदु न्व१र्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।३।।

किं। अयं। त्वां। वृषाकपिः। चकार। हरितः। मृगः।
यस्मै। इरस्यसि। इत्। ऊं इति। नु। अर्यः। पुष्टिऽमत्। वसु। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः— अयं हरितो मृगः वृषाकपिः किं चकार। यस्मा पुष्टिमद् वसु अर्य वा नु इरस्यसि। इत उ। इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— यस्मा=यस्मै। अर्यः=स्वामी, श्रेष्ठः, उदारः। वा=इव। नु=क्षिप्रम्। इरस्यसि=प्रयच्छसि। इत्=एव। उ=पदपूरणे।

इन्द्राणी वदति— [हे इन्द्र!] अयं हरितवर्णो मृगभूतो वृषाकपिः [तव] किं (प्रियं) चकार, यस्मै त्वं पोषयुक्तं धनम् उदार इव [तस्मै दरिद्राय] क्षिप्रं प्रयच्छसि एव। [सत्यम्,] इन्द्रः सर्वस्माज्जगतः उत्कृष्टतरो वर्तते।। ३।।

इन्द्राणी कहती है— [हे इन्द्र!] इस हरितवर्ण वाले पशु बने हुए वृषाकपि ने तुम्हारा क्या [प्रिय कार्य] किया है कि जिसे तुम भरपूर धन शीघ्र दे देते हो जैसे कोई उदार किसी निर्धन को देता है। [सचमुच,] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। ३।।

Indrāṇī says : [O Indra!] What [favour] has done this dear Vṛṣākapi of greenish colour to you that you like a liberal (benefactor) bestow upon him nourishing wealth; Indra is above all the world. (3)

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।४।।

यं। इमं। त्वं। वृषाकपिं। प्रियं। इंद्र। अभिऽरक्षसि।
श्वा। नु। अस्य। जंभिषत्। अपि। कर्णे। वराहऽयुः। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः —इन्द्र! यम् इमं प्रियम् वृषाकपिं त्वम् अभिरक्षसि, अस्य वराहयुः श्वा नु कर्णे अपि जंभिषद्। इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि — अभिरक्षसि=परिपालयसि। अस्य=एनम्। वराहयुः= वराहम् इच्छन्। नु=क्षिप्रम् । जंभिषद्= भक्षयतु।

इन्द्राणी वदति — हे इन्द्र! त्वम् यम् इमं वृषाकपिं प्रियं (प्रियपुत्रेण, पुत्ररूपेण वा) परिपालयसि, एनं [वृषाकपिं] वराहम् इच्छन् (वराहस्य आखेटम् अभिलषन्) श्वा कर्णे [गृह्णातु], क्षिप्रं च एनं भक्षयतु। इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। ४ ।।

इन्द्राणी कहती है—हे इन्द्र! तुम जो इस वृषाकपि को प्रिय जानकर पालते हो, उसे तो कुत्ता, जो कि शूकरों [का आखेट करने] का शौकीन है, शीघ्र ही उसे कान से [पकड़ ले] तथा शीघ्र ही उसे खा जाए। इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। ४।।

Indrāṇī says : O Indra! this Vṛṣākapi whom you cherish as your dear one (rather son)—may the hound which hunts the boar, [seize] him quickly by the ear [and] devour him. Indra is above all the world. (4)

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्।

शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।५।।

प्रिया। तष्टानि। मे। कपिः। विऽअक्ता। वि। अदूदुषत्।

शिरः।नु। अस्य।राविषं।न।सुऽगं।दुःऽकृते।भुवं।विश्वस्मात्।इंद्रः।उत्ऽतरः।।

अन्वयः— कपिः मे प्रिया व्यक्ता तष्टानि व्यदूदुषत्। अस्य शिरः नु राविषम्। दुष्कृते सुगं न भुवम्। इन्द्रा विश्वस्माद उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— प्रिया = प्रियाणि। तष्टानि = कल्पितानि। व्यक्ता = व्यक्तानि, आज्येन विशेषेण सिक्तानि। व्यदुदूषत् = दूषयामास। राविषम् = लुनीयाम्। सुगम् = सुखम्। भुवम् = भवेयम्

[यजमानैः] मह्यम् (इन्द्राण्यै) कल्पितानि [आज्येन] विशेषेण सिक्तानि प्रियाणि [हवींषि] कपिः (वृषाकपिः) दूषयामास। अतोऽहम् अस्य शिरः लुनीयाम्। दुष्टकर्मणः कर्त्रेऽस्मै अहं सुखं (सुख-प्रदात्री) न भवेयम्। इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। ५।।

[यजमानों द्वारा] मुझ इन्द्राणी के लिए कल्पित आज्यों द्वारा विशेष रूप से प्रकटित प्रिय हवियों को कपि (वृषाकपि) दूषित कर गया। अतः मैं उसके शिर को काटूंगी। दुष्कर्म करने वाले इसे मैं कभी सुख नहीं दूंगी। [मेरा पति] इन्द्र सकल जगत् से उत्कृष्टतर है।। ५।।

Indrāṇī speaks: The Kapi (ape), i.e., Vṛṣākapi, has spoiled the oblations: deftly fashioned, lovable and specially manifested [with clarified butter: *ghī*] for me [by the worshippers.] I shall rend his head in pieces quickly and shall not be the giver of happiness to one who works evil. Indra is above all the world. (5)

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।

नमत्प्रतिच्यवीयसी नसक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। ६।।

न। मत्। स्त्री। सुभसत्ऽतरा। न। सुयाशुऽतरा। भुवत्।

न।मत्।प्रतिऽच्यवीयसी।न।सक्थि।उत्ऽयमीयसी।विश्वस्मात्।इंद्रः।उत्ऽतरः।।

अन्वयः— मत् न स्त्री सुभसत्तरा, न सुयाशुतरा भुवत्। मत् न प्रतिच्यवीयसी, न सक्थि उद्यमीयसी। विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— सुभसत्तरा (सु-भसत्-तरा) = भसत् = (१) सुखम्, (२) कटिप्रदेशः, (३) योनिः। सुयाशुतरा (सु-याशु-तरा) = याशुः = (१) पुत्रः, (२) मैथुनकर्म। भुवत् = भवति। च्यवीयसी = च्यावयित्री (गतिशीला)। सक्थि = जंघा। उद्यमीयसी = उत्क्षेप्त्री (संभोगे इति शेषः)।

इन्द्राणी वदति— मत्तोऽन्या नास्ति काचिन्नारी सुभसत्तरा (अतिशयेन सुखदात्री, शोभन-कटि-प्रदेशा, सुयोनिर्वा), न च काचिदस्ति सुयाशुतरा (सुपुत्रा, सुमैथुनवती वा)। मत्तोऽन्या नास्ति [काचित् नारी पुंमांसं] प्रति स्वशरीरस्य अत्यन्तं च्यावयित्री (गतिशीला), नापि च काचिदस्ति मत्तोऽन्या स्वजंघे उत्क्षेप्त्री संभोगे इति शेषः। इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। ६।।

इन्द्राणी कहती है— मुझ से बढ़कर कोई नारी अतिशय सुख देने वाली, शोभन कटि वाली, सुन्दर योनि वाली नहीं है, और न ही मुझ जैसी कोई सुपुत्रवती और सुमैथुनवती है। मुझ से बढ़कर कोई नारी ऐसी नहीं है जो पुरुष के प्रति अपने शरीर को गतिशील रखनेवाली है, और न ही कोई ऐसी है जो मेरे सदृश [मैथुन-काल] में अपनी जंघाओं को ऊपर उठाती हो। [मेरा पति] इन्द्र सकल जगत् से उत्कृष्टतर है।। ६।।

Indrāṇī speaks: There is no woman having ampler charm (or being more amiable) than I am, nor one who bears fairer sons (or has greater wealth of love's delights) than I; nor any one else more easily handled (or managable specially in the act of love-play), than I, nor any one else who raises her legs more ardently [in the act of copulation] than I. Indra is above all the world. (6)

उवे अंम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।७।।

उवे। अंब। सुलाभिके। यथाऽइव। अंग। भविष्यति।
भसत्। मे। अंब। सक्थि। मे। शिरः। मे। विऽइव। हृष्यति। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः—उवे सुलाभिके अम्ब! यथेव अंग भविष्यति। अम्ब! मे भसत्, मे सक्थि, मे शिरः विहृष्यति इव। इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि—उवे=हे! अंग=क्षिप्रम्। भसत्=बाहुमूलम्। सक्थि= जंघा। हृष्यति=कम्पते।

वृषाकपिर्भीतिवशाद् व्यंग्य-पूर्वकं वा ब्रवीति—हे शोभनलाभे मातः! [त्वया] यथैव [उक्तं, तत्] क्षिप्रं भविष्यति। [एतद् विचार्यैव] मातः! मम बाहुमूलं, मम जंघा, मम शिरश्च—[एतत्सर्वं] कम्पते। [सत्यम्,] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। ७।।

वृषाकपि भयभीत होकर अथवा व्यंग्यपूर्वक कहता है—हे शोभन लाभ वाली मातः। [तूने] जो कहा है वह शीघ्र होगा। [यह सोचकर ही] हे माता! मेरा बाहुमूल, मेरी जंघाएं और मेरा सिर—[ये सभी] कांपते हैं। [सचमुच] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। ७।।

Vṛṣākapi speaks: O mother! you bestow befitting benefits [to everyone.] It will quickly be as [you have said.] O mother! my armpits (shoulder-blades), thighs and head—all these seem quivering. Indra is above all the world.[1] (7)

---

1. H.H. Wilson, astonishingly, translated this verse as follows:

   [Vṛṣākapi speaks:] O mother, who art easy of access, it will quickly be as (you have said); may my [father] and you, mother, be united; may it delight my [father] and your head like a bird: Indra is above all [the world].

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।८।।

किं। सुबाहो इति सुऽबाहो। सुऽअंगुरे। पृथुस्तो इति पृथुऽस्तो। पृथुऽजघने।
किं। शूरऽपत्नि। नः। त्वं। अभि। अमीषि। वृषाकपिं। विश्वस्मात्। इंद्रः।
उत्ऽतरः।।

अन्वयः— सुबाहो, स्वंगुरे, पृथुष्टो, पृथुजाघने, शूरपत्नि त्वं नः वृषाकपिं किम् अभ्यमीषि। इन्द्रो विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— स्वङ्गुरे=शोभनाङ्गुलिके। पृथुष्टो=पृथुकेशसंघाते। नो वृषाकपिम्=अस्मदीयं पुत्रम् (वृषाकपिः इन्द्रस्य पुत्रोऽपि उच्यते)। अभ्यमीषि=अभिक्रुध्यसि।

क्रुद्धाम् इन्द्राणीम् इन्द्र उपशमयति— हे शोभनबाहो! शोभनाङ्गुलिके! पृथुकेशसंघाते! पृथुजघने! शूरपतिके! [इन्द्राणि!] त्वम् अस्मदीयं [पुत्रं] वृषाकपिं किम् अभिक्रुध्यसि? [यस्य पिता, तव पतिर्वा] इन्द्रः सर्वस्माज्जगतः उत्कृष्टतरो वर्तते।। ८।।

क्रुद्ध इन्द्राणी को शान्त करने के लिए इन्द्र कहता है— हे शोभन-बाहुवाली, सुन्दर अंगुलियों वाली, घने केश-पाश वाली, मोटी जंघाओं वाली, शूर पति वाली [इन्द्राणी] तुम हमारे [पुत्र] वृषाकपि के प्रति क्यों क्रुद्ध होती हो? [जिसका पिता, तेरा पति] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।।८।।

Indra speaks to pacify angry Indrāṇī : O you having beautiful arms, beautiful fingers (hands), broad hair-plaits and broad hips; [and also] the wife of a hero! why are you angry with our [son] Vṛṣākapi. Indra is above all the world. (8)

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।

उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।९।।

अवीराऽइव। मां। अयं। शरारुः। अभि। मन्यते।

उत। अहं। अस्मि। वीरिणी। इंद्रऽपत्नी। मरुत्ऽसखा। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः—अयं शरारुः माम् अवीरामिव अभिमन्यते। उत अहं वीरिणी, इन्द्रपत्नी, मरुत्सखा अस्मि। इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि — शरारुः=घातकः, हिंस्रः। उत=च। वीरिणी=वीरवती (वीर-पुत्रवती)।

इन्द्राणी वृषाकपि-विषये इन्द्रं कथयति— अयं घातकः [पशुः वृषाकपिः] माम् [इन्द्राणीम्] अवीराम् — वीर-पुत्र-रहिताम्, यद्वा वीर-पुरुष-प्रदत्त-सुरक्षा-रहिताम् एव अभिमन्यते। परम् अहं तु पुत्रवती (यद्वा वीर-पुरुष-प्रदत्त-सुरक्षावती), इन्द्रस्य पत्नी, मरुद्भिर्युक्ता चास्मि। [मम पतिः] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। ९।।

इन्द्राणी वृषाकपि के सम्बन्ध में इन्द्र से कहती है— यह घातक [पशु वृषाकपि] मुझे वीरपुत्र-रहित अथवा वीर-पुरुष [द्वारा प्रदत्त रक्षा से] रहित मानता है। पर मैं तो पुत्रवती और इन्द्रपत्नी हूं तथा मरुतों से युक्त हूँ। [मेरा पति] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। ९।।

Indrāṇī speaks: This ferocious beast [Vṛṣākapi] looks down upon me as one bereft of the protection from a hero, though I am the mother of male offspring, the wife of Indra, and also I am the friend of Maruts. Indra is above all the world. (9)

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।१०।।

संऽहोत्रं। स्म। पुरा। नारी। समनं। वा। अव। गच्छति।

वेधाः। ऋतस्य। वीरिणी। इंद्रऽपत्नी। महीयते। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः— इन्द्रपत्नी ऋतस्य वेधा वीरिणी नारी पुरा सहोत्रं समनं वा अवगच्छति, महीयते। इन्द्रः विश्वस्माद् जगतः उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि —वेधा=विधात्री। वीरिणी=वीरपुत्रवती। पुरा=पुरातन- कालात्। संहोत्रं=समीचीनं यज्ञम्। वा=च। समनं=संग्रामम्। महीयते=स्तूयते।

इन्द्राणी ब्रवीति— इन्द्रस्य पत्नी [इन्द्राणी] सत्यस्य विधात्री पुत्रवती नारी पुरातन-कालात् समीचीनं यज्ञं प्रति, संग्रामं प्रति च गच्छति। [अतः सा स्तोतृभिः] स्तूयते। [तस्याः पतिः] इन्द्रः सर्वस्मात् जगतः उत्तरः।। १०।।

इन्द्राणी सत्य की विधात्री तथा पुत्रवती नारी है। वह पुरातन काल से सुन्दर रूप से आयोजित यज्ञ में अथवा सुनियोजित संग्राम में जाती है। [इसी कारण स्तोताओं द्वारा] उसकी स्तुति की जाती है। [उसका पति] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। १०।।

Indrāṇī speaks about herself : The matron—wife of Indra, the ordainer of the Truth, i.e., truthful acts like rightful ceremonies, etc., and the mother of heroes—goes to attend the well-performed *Yajñas* (sacrificial rites) and also goes to the battle, and [therefore] she is honoured [by the praisers.] Indra is above all the world. (10)

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।

नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।११।।

इंद्राणीं। आसु। नारिषु। सुऽभगां। अहं। अश्रवं।

नहि। अस्याः। अपरं। चन। जरसा। मरते। पतिः। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः— आसु नारीषु इन्द्राणीम् अहं सुभगाम् अश्रवम्। अस्याः पतिः अपरं चन न हि, जरसा मरते। इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— सुभगाम्=सौभाग्यवतीम्। अपरं चन=अन्यप्राणिनः। जरसा=आयुः-क्षयेण।

इन्द्रो वृषाकपिर्वा ब्रवीति आसु [प्रसिद्धासु] नारीषु मध्ये इन्द्राणीम् अहं सौभाग्यवतीम् अश्रवम्। [अस्याश्च पतिः] अन्यप्राणिन इव आयुःक्षयेण न हि म्रियते। अस्याश्च पतिः इन्द्रः सर्वस्माज्जगतः उत्कृष्टतरो वर्तते।। ११।।

इन्द्र अथवा वृषाकपि[१] कहता है—इन उत्तम नारियों के मध्य मैंने इन्द्राणी को सौभाग्यवती सुना है। इसका पति अन्य प्राणियों के समान आयु-क्षीणता के कारण नहीं मरता है। इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।।

Indra or Vṛṣākapi speaks, "I have heard that Indrāṇī is the most famous among the meritorious dames, for her consort [Indra] does not die of old age like others. Indra is above all the world. (11)

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। १२।।

न। अहं। इंद्राणि। ररण। सख्युः। वृषाकपेः। ऋते।
यस्य। इदं। अप्यं। हविः। प्रियं। देवेषु। गच्छति। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः—इन्द्राणि! अहं सुख्यः वृषाकपेः ऋते न ररण। यस्य इदम् अप्यं प्रियं हविः देवेषु गच्छति। इन्द्रो विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि—ररण=रमे, आह्लादितो भवामि।

इन्द्रो वदति—हे इन्द्राणि! अहं स्वमित्रं वृषाकपिं विना न आह्लादितो हर्षितो भवामि। यस्य इदम् अप्यम् (अप्सु भवम्, अद्भिः सुसंस्कृतं) प्रीतिकरं च हविः देवानां मध्ये [मम इन्द्रस्य सकाशं] गच्छति। [अहं च] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरोऽस्मि।। १२।।

इन्द्र कहता है—हे इन्द्राणि! मैं अपने मित्र वृषाकपि के विना हर्षित नहीं होता। जिसका यह हवि, जो कि जल में उत्पन्न होता है, अथवा जल

१. यास्क के अनुसार इस मन्त्र का ऋषि वृषाकपि है। (निरुक्त १.३८)

से सुसंस्कृत किया जाता है, तथा प्रीतिकर है, देवताओं के मध्य [मुझ इन्द्र के पास] जाता है। [और मैं] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर हूँ।। १२।।

Indra speaks: O Indrāṇī! without my friend Vṛṣākapi, I am not happy; whose pleasing (acceptable) oblation, produced in water or purified with water, proceeds to the gods, i.e., to me among the gods; Indra is above all the world. (12)

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्रं उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। १३।।

वृषाकपायि। रेवति। सुऽपुत्रे। आत्। ऊं इति। सुऽस्नुषे।
घसत्। ते। इंद्रः। उक्षणः। प्रियं। काचित्ऽकरं। हविः। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः—वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे सुस्नुषे इन्द्रः ते उक्षणः आत् घसत्, काचित्करं प्रियं हविः।

विशिष्ट-पदानि —वृषाकपायि=(१) इन्द्रोऽपि वृषाकपिः उच्यते (कामानां वर्षकत्वात्), अतः वृषाकपेः इन्द्रस्य पत्नि इत्यर्थः। (२) इन्द्राणी वृषाकपेः माता प्रसिद्धा, अतः वृषाकपेः सम्बन्धिनि, मातः इत्यपि अर्थः। रेवति=धनवति, सुपुत्रे, शोभन-स्नुषे! उक्षणः=सेचन-समर्थन-पशून् (वृषभान्) सोम-कन्दान् वा। आत्=शीघ्रमेव। घसत्=अश्नातु। काचित्करम् (कं=सुखम्, आचित्=समूहः) सुख-समूह-करम्, यद्वा किञ्चिदपि आश्चर्यजनकम्।

इन्द्रो वृषाकपिर्वा वदति— हे वृषाकपायि! (मम इन्द्रस्य पत्नि! मम वृषाकपेर्मातः! वा), हे धनसम्पन्ने! शोभनपुत्रे! शोभनस्नुषे! [इन्द्राणि!] इन्द्रः तव वृषभान् सोम-कन्दान् वा शीघ्रम् अश्नातु, तव च प्रियं सुखसमूहकरं किंचिदपि आश्चर्य-जनकं वा हविः अश्नातु। [अयं तव पतिः] इन्द्रः सर्वस्माज्जगतः उत्कृष्टतरो वर्तते।। १३।।

इन्द्र अथवा वृषाकपि कहता है—हे वृषाकपायि! (इन्द्र-पक्षे—मुझ वृषाकपि अर्थात् इन्द्र की पत्नी, अथवा वृषाकपि-पक्षे—मुझ वृषाकपि की

माता!), हे धनसम्पन्ने! सुन्दर पुत्रों और सुन्दर बहुओं वाली इन्द्राणी! इन्द्र तुम्हारे बैलों अथवा सोम-डंठलों को खा ले, तथा तेरी हवि को भी, जो सुखसमूह-दात्री अथवा किसी भी आश्चर्य की जनक है—खा ले। यह [तुम्हारा पति] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। १३।।

Indra or Vṛṣākapi speaks: O Vṛṣākapāyī! (mother of Vṛṣākapi or wife of Indra[1]!) wealthy, blessed with excellent sons and excellent daughters-in-law, let Indra eat your bulls or Soma-roots quickly, [and also your] pleasing and most delightful oblation; Indra is above all [the world]. (13)

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। १४।।

उक्ष्णः। हि। मे। पंचऽदश। साकं। पचंति। विंशतिं।
उत। अहं। अद्मि। पीवः। इत्। उभा। कुक्षी इति। पृणंति। मे। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः—मे पञ्चदश साकं विंशतिम् उक्ष्णः पचन्ति। उत। अहम् अद्मि। पीवः इत्। मे उभा कुक्षी पृणंति। इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि—उक्ष्णः=वृषभान् सोम-कन्दान् वा। अद्मि=भक्षयामि। पीवा=स्थूलः। पृणन्ति=पूरयन्ति।

इन्द्रो वदति [मम भार्यया इन्द्राण्या प्रेरिताः यष्टारः] मदर्थं पञ्चदश साकं विंशतिं (पञ्चोत्तरत्रिंशतं, यद्वा पञ्चदश अथवा विंशतिं) वृषभान् यद्वा सोम-कन्दान् पचन्ति। अहमपि [तान्] भक्षयामि। [भक्षयित्वा च] स्थूल एव भवामि। [तदा यष्टारः] मम उभौ कुक्षी [सोमेन] पूरयन्ति। [सोऽहम्] इन्द्रः सर्वस्माज्जगतः उत्कृष्टतरोऽस्मि वर्ते।। १४।।

---

1. The word 'Vṛṣākapi' is an epithet of Indra also, as the showerer of benefits.

इन्द्र कहता है—[यज्ञ करने वाले] मेरे लिए पन्द्रह और बीस मिलाकर (पैंतीस) अथवा पन्द्रह-बीस बैलों अथवा सोम-डंठलों को पकाते हैं। मैं भी [उन्हें] खाता हूं। [और खाकर] मोटा हो जाता हूं। [तब यज्ञ करने वाले] मेरी दोनों कुक्षियों को [सोम से] भरते हैं। [ऐसा] इन्द्र सारे जगत् से उत्कृष्टतर है।। १४।।

Indra speaks: [The worshippers] prepare for me fifteen and twenty, i.e., thirty five bulls or Soma-roots. I eat them and become fat, then they fill both the sides of my belly with Soma. Indra is above all the world. (14)

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। १५।।

वृषभः। न। तिग्मऽश्रृंगः। अंतः। यूथेषु। रोरुवत्।
मंथः। ते। इंद्र। शं। हृदे। यं। ते। सुनोति। भावयुः। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः— तिग्मशृंगः वृषभः न अंतर्यूथेषु रोरुवत्, यं मंथः भावयुः ते सुनोति ते हृदे मंथः शम्। विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— न=इव। रोरुवत्=शब्दं कुर्वन्। भावयुः=भावम् इच्छन्ती। सुनोति=अभिषुणोति। हृदे=हृदयाय। मंथः=मथितः पेयपदार्थः, दधिः मथितो द्रव इति यावत्।

इन्द्राणी इन्द्रं ब्रवीति— हे इन्द्र! यथा तीक्ष्णशृङ्गो वृषभः गोसंघेषु (अन्तर्मध्ये) शब्दं कुर्वन् वर्तते, तद्वत् [मंथन-वेलायां शब्दं कुर्वन्तं] यं [दधि-]मथित-द्रव-पदार्थं [त्वदर्थं स्नेह-]भावम् इच्छन्ती [एषा इन्द्राणी] तुभ्यम् अभिषुणोति, असौ [पदार्थः] तव हृदये शंकरो भवतु। [ईदृशः] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। १५।।

इन्द्राणी इन्द्र से कहती है—जैसे तीक्ष्ण सींगों वाला बैल गौओं के संघ के बीच रहता हुआ रंभाता है (रंभाने का शब्द करता है), उसी प्रकार

[दधि-]मथित द्रव मथन-वेला में शब्द करता है। उसी पदार्थ को [आपके प्रति स्नेह-]भाव को चाहती हुई यह इन्द्राणी आपके लिए तैयार करती है— ढालती है, वह [पदार्थ] आपके हृदय में कल्याणकारी होवे। [ऐसा] इन्द्र सारे जगत् से बढ़कर है।। १५।।

Indrāṇī speaks: O Indra! this Indrāṇī— desiring all the passions for you—prepares and offers you the brew which, while being churned, makes as much noise as a sharp-horned bull bellows loudly amongst the herds [of cows.] May the brew prove to be propitious to you. Such Indra is above all the world. (15)

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। १६।।

न। सः। ईशे यस्य। रंबते। अंतरा। सक्थ्या। कपृत्।
सः।इत्।ईशे।यस्य।रोमशं।निऽसेदुषः।विऽजृम्भते।विश्वस्मात्।इंद्रः।उत्ऽतरः।।

अन्वयः— यस्य कपृत् सक्थ्या अंतरा रंबते स न ईशे। निषेदुषः यस्य रोमशं विजृंभते स इत् इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— कपृत्=शेपः, शिश्नम्। सक्थ्या=जंघे। अन्तरा=अन्तरे, रंबते=लम्बते। निषेदुषः=शयानस्य। विजृंभते=विवृतं भवति, सम्यक् हर्षते।

इन्द्राणी वदति— यस्य शिश्नं जंघयोः अन्तरे लम्बते, स [नपुंसको जनः मैथुन-कर्मणि] न समर्थः, [अपितु] स एव शक्नोति [मैथुनार्थं] शयानस्य यस्य (जनस्य) रोम-पूर्णं शिश्नं सम्यक् हर्षितं भवति। [अस्मिन् कर्मणि] इन्द्रः सर्वस्माद् उत्कृष्टतरो वर्तते।। १६।।

इन्द्राणी कहती है— जिसका शिश्न दोनों जंघाओं के बीच लटकता रहता है, वह [व्यक्ति मैथुन-कर्म में] समर्थ नहीं होता, अपितु मैथुनार्थ सोये हुए जिसका शिश्न तनकर ऐंठता रहता है वही समर्थ होता है । [इस कर्म में] इन्द्र सबसे बढ़कर है।। १६।।

Indrāṇī speaks: The man, whose genital organ lops between his legs, i.e., who is an impotant, does not govern, i.e., cannot beget progeny, but only he does—while on bed—whose organ, surrounded by hair, is fully erect. [In this act] Indra is above all the world. (16)

न सेशे यस्यं रोमशं निषेदुषों विजृम्भंते।
सेदीशे यस्य रम्बंतेऽन्तरा सक्थ्या३ं कपृद्विश्वंस्मादिन्द्र उत्तंरः।। १७।।

न। सः। ईशे। यस्यं। रोमशं। निऽसेदुषंः। विऽजृम्भंते।
सः।इत्।ईशे।यस्यं।रंबंते।अंतरा।सक्थ्यां।कपृंत्।विश्वंस्मात्।इंद्रंः।उत्ऽतंरः।।

अन्वयः— निषेदुषः यस्य रोमेशं विजृम्भते स न ईशे। स इत् ईशे यस्य सक्थ्या अंतरा कपृत् रम्बते। इन्द्रः विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— कपृत्=शेपः, शिश्नम्। सक्थ्या=जंघे। अन्तरा=अन्तरे, रंबते=लम्बते। निषेदुषः=शयानस्य। विजृंभते=विवृतं भवति, सम्यक् हर्षते।

इन्द्रो ब्रवीति— मैथुनार्थं शयानस्य यस्य जनस्य रोमशम् शिश्नं विवृतं (हर्षितं) भवति, स जनः न शक्नोति मैथुनं कर्तुम्, अपितु स एव जनः समर्थो भवति यस्य जङ्घे (जङ्घयोः) अन्तरे शिश्नं लम्बते। इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। १७।।

मैथुन के लिए सोये हुए जिस व्यक्ति का रोम-युक्त शिश्न विवृत (हर्षित) हो जाता है वह व्यक्ति मैथुन करने में समर्थ नहीं होता, अपितु वह ही व्यक्ति समर्थ होता है जिसकी जङ्घाओं के मध्य शिश्न लटकता है। इन्द्र सारे जगत् से श्रेष्ठतर है।। १७।।

Indrāṇī speaks: He, while on bed—whose genital organ, surrounded by hair, is fully erect—does not govern, i.e., cannot beget progreny, but he does whose organ lops between his legs, i.e., who is an impotant. Indra is above all the world. (17)

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। १८।।

अयं। इंद्र। वृषाकपिः। परस्वंतं। हतं। विदत्।
असिं।सूनां।नवं।चरुं।आत्।एधस्य।अनः।आऽचितं।विश्वस्मात्।इंद्रः।उत्ऽतरः।।

अन्वयः— इन्द्र! अयं वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्। असिं सूनां नवं चरुम् आत् एधस्य आचितम् अनः।

विशिष्ट-पदानि— परस्वन्तं[1]=अतिभयंकर-पशुम्। विदत्=प्राप्नुयात्। सूनाम्=उद्घानम्। चरुम्=भाण्डम्। आत्=अनन्तरम्। एधस्य=इन्धनस्य। आचितम्=पूर्णम्। अनः=शकटम्।

इन्द्राणी वदति— हे इन्द्र! अयं वृषाकपिः एकम् अतिभयङ्कर-पशुं हतं प्राप्नुयाद् (हन्याद् इत्याशयः)। [तस्य वधाय सः] असिम्, उदघानञ्च [प्राप्नुयात्, पाकार्थञ्च नवीनं] भाण्डं, तदनन्तरञ्च काष्ठैः पूर्णं शकटं प्राप्नुयात्। [मम पतिः] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।। १८।।

इन्द्राणी कहती है— हे इन्द्र! यह वृषाकपि एक मरे हुए अतिभयंकर पशु को प्राप्त करे, अर्थात् एक अतिभयंकर पशु का वध करे। [उसके वध के लिए वह] तलवार तथा स्थूल हथौड़े को [प्राप्त करे। उसे पकाने के लिए वह] नये पात्र को और इसके बाद लकड़ी से भरे एक बड़े शकट को प्राप्त करे। [मेरा पति] इन्द्र सारे जगत् से श्रेष्ठ है।। १८।।

Indrāṇī speaks: This Vṛṣākapi should have a dead wild beast, i.e., he should hunt and slain it, and then he should take a knife [to cut it up], a hammer, a new saucepan [to cook it] and a wagon loaded with wood. Indra is above all the world. (18)

---

१. आत्मनो विषये वर्तमानम्। (सायणाचार्य)

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।

पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।१९।।

अयं। एमि। विऽचाकशत्। विऽचिन्वन्। दासं। आर्यं।

पिबामि। पाकऽसुत्वनः। अभि। धीरं। अचाकशं। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः— अयम् एमि, विचाकशद्, दासम् आर्यं विचिन्वन्, पाकसुत्वनः पिबामि, अभिधीरम् अचाकशम्। इन्द्रो विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— अयम्=अहम् (इन्द्रः)। विचाकशद्=अवलोकयन्। पाक-सुत्वनः=पक्तुः अभिषोतुश्च यजमानस्य इत्यर्थः। अभिधीरम्=बुद्धिमन्तम्। अभिचाकशम्=पश्यामि स्नेहेन इति शेषः।

इन्द्रो वदति— अहम् [इन्द्रः यागभूमिं प्रति] आगच्छामि। [तत्र च सर्वान् प्रति विवेक-दृष्ट्या] अवलोकयन्, दासान् आर्यान् च पृथक्-कुर्वन्, अनयोः अन्तरं जानन् इत्यभिप्रायः [यज्ञं, यागभूमिं प्रति] गच्छामि। [तदनन्तरञ्च हविषां] पक्तुः [सोमस्य च] अभिषोतुः [यजमानस्य सोमं] पिबामि, तं च बुद्धिमन्तं [यजमानं] पश्यामि स्नेहेन इति शेषः। [योऽहम्] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरोऽस्मि।। १९।।

इन्द्र कहता है— यह [मैं इन्द्र सबके प्रति विवेक-दृष्टि से] देखता हुआ, असुरों (देवताओं) और दासों को अलग करता हुआ अर्थात् इनके अन्तर को जानता हुआ [यज्ञ-यागभूमि की ओर] जाता हूँ। [इसके बाद हवियों के] पकाने वाले [सोम के] छानने वाले [यजमान के सोम को] पीता हूँ, और उस बुद्धिमान् यजमान को [स्नेहपूर्वक] देखता हूँ। यह मैं इन्द्र सारे जगत् से श्रेष्ठ हूँ।। १९।।

Indra: Here I come to the sacrifice, and after distinguishing the Dāsas and the Āryas, I drink the Soma of [the worshipper] who prepares and pours forth it well. I look upon the intelligent [*yajamāna*, i.e., sacrificer with all my affections]. Indra is above all the world. (19)

धन्वं च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना।

नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।२०।।

धन्वं। च। यत्। कृन्तत्रं। च। कति। स्वित्। ता। वि। योजना।

नेदीयसः।वृषाकपे।अस्तं।आ।इहि। गृहान्।उप।विश्वस्मात्।इंद्रः।उत्ऽतरः।।

अन्वयः— धन्व च यत् कृन्तत्रं च कतिस्वित् ता योजना? वृषाकपे! नेदीयसोऽस्तम् वि एहि। गृहान् उप। इन्द्रः विश्वस्माद उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— धन्व=निरुदकोऽरण्यरहितो देशः। कृन्तत्रम्=कर्तनीयम् अरण्यम्। कतिस्वित्=कतिचित्। नेदीयसः=निकटवर्तिनः। अस्तम्=गृहम्। व्येहि=विशेषेण आगच्छ।

इन्द्रो वदति— [यद् अरण्यम्] उदकरहितं भवति (सघनं न भवति) तत् कर्तनीयम् भवति। वृषाकपेः एतादृश-निलयस्य अस्मद्-गृहस्य च मध्ये कतिचित् तानि योजनानि स्थितानि? तद्गृहं नातिदूरे इत्याशयः। हे वृषाकपे! त्वं निकटवर्तिनः [स्वगृहाद् अस्माकं] गृहं विशेष-रूपेण आगच्छ। [आगत्य च यज्ञ-]गृहाणि उपगच्छ। [अहम्] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरोऽस्मि।।२०

इन्द्र कहता है— [जो वन] जलरहित होता है अर्थात् सघन नहीं होता वह काटने योग्य होता है। [वृषाकपि के ऐसे घर और हमारे घर के बीच] कितने ऐसे योजन[१] हैं, अर्थात् उसका घर बहुत दूर नहीं है। हे वृषाकपि! तुम निकटवर्ती [अपने घर से हमारे] घर में चले आया करो। आकर यज्ञ गृहों में पहुंच जाया करो। [मैं] इन्द्र सारे जगत् से श्रेष्ठ हूँ।। २०।।

Indra speaks: [A forest] which is devoid of water, i.e., is not thick, should be cut down. How many Yojanas[2] are there [between his and our house? It is not very far off.] O Vṛṣākapi! come to our house from your house which is so near [to us. Reaching here] go to the houses, i.e., Yajñabhūmis: where Yajñas (sacrifices) are performed. Indra is abov.e all the world. (20)

---

१. एक योजन=लगभग आठ मील।

2. One Yojana=approximately eight miles.

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।२१।।

पुनः। आ। इहि। वृषाकपे। सुविता। कल्पयावहै।
य। एषः। स्वप्नऽनंशनः। अस्तम्। एषि। पथा। पुनः। विश्वस्मात्। इंद्रः। उत्ऽतरः।।

अन्वयः— वृषाकपे! पुनरेहि। सुविता कल्पयावहै। य एष स्वप्न-नंशनः पुनः पथा अस्तम् एषि। इन्द्रो विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— सुविता=सुवितानि, कल्याणानि। कल्पयावहै=करवाव। स्वप्न-नंशनः=स्वप्नानां निद्राया इति यावत् नाशयिता आदित्यः इत्याशयः। अस्तम्=आवासम्, गृहम्।

[इन्द्रस्य पूर्वोक्त-निमन्त्रणाद् वृषाकपिः इन्द्र-गृहमागतः। आगत्य प्रतिगतवन्तं वृषाकपिम् इन्द्रो ब्रवीति-] हे वृषाकपे! त्वं पुनरपि आगच्छ। [आगते च त्वयि, इन्द्राणी अहञ्च— आवाम् उभौ— तव] कल्याणानि [त्वच्चित्त-प्रीति-कराणि कर्माणि, शत्रु-हननादीनि इति यावत्] करवाव। य एष त्वं [सर्वस्य प्राणिनः] स्वप्न-नाशयिता आदित्योऽसि (प्रातःकाले तस्योदयेन सर्वे प्राणिनः निद्रां त्यक्त्वा जाग्रति इत्याशयः), [नियत-] मार्गेण आत्मीयम् आवासं पुनः गच्छसि। अहम् इन्द्रः सर्वस्माज्जगतः उत्कृष्ट-तरोऽस्मि।। २१।।

[इन्द्र के पूर्वोक्त निमन्त्रण से वृषाकपि इन्द्र के घर आ गया। आकर लौटते हुए वृषाकपि को इन्द्र कहता है—] हे वृषाकपे! तुम फिर भी आना। [तुम्हारे आने पर इन्द्राणी और मैं— हम दोनों तुम्हारे लिए] कल्याण-कर्म [तुम्हारे चित्त के प्रीतिकर कार्यों— जैसे याग आदि अथवा शत्रु-हनन आदि] करेंगे। यह जो तुम [सभी प्राणियों के] स्वप्नों के विनाशक [आदित्य] हो (अर्थात् तुम्हारे उदित होने पर सभी प्राणी नींद छोड़कर जाग जाते हैं), [नियत-] मार्ग से अपने आवास को फिर चले जाते हो। मैं इन्द्र सारे जगत् से श्रेष्ठ हूँ।। २१।।

Indra speaks to Vṛṣākapi, who, after coming to the house of Indra, is going back: O Vṛṣākapi! after going from here do turn b... We twain will do what is propitious to

you. You—who are the destroyer of sleep, i.e., the sun—on whose rising the people awake from sleep—go to your house again by the [fixed] path [you came.] Indra is above all the world. (21)

यदुदंञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन।
क्व१स्यपुल्वघोमृगःकमगञ्जनयोपनोविश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। २२।।

यत्। उदंचः। वृषाकपे। गृहं। इंद्र। अजगंतन।
क्व।स्यः।पुल्वघः।मृगः।कम्।अगन्।जनऽयोपनः।विश्वस्मात्।इंद्रः।उत्ऽतरः।।

अन्वयः— इन्द्र! उदञ्च वृषाकपेः गृहम् अजगन्तन। स्यः पुल्वघः मृगः क्व। कं जनयोपनः अगन्।

विशिष्ट-पदानि— उदञ्चः=उद्गामिनः, उद्गामी सन्। अजगन्तन= अगच्छत (त्वम् अगच्छः इत्यभिप्रेतम्)। पुल्वघः (पुलु=पुरु-बहु, अघः= भक्षिता)=बहुभक्षयिता, बह्वादी। जन-योपनः=जनानां बाधकः (सायणस्तु मोदयिता)।

अस्याम् ऋचायां सायण-मतेन गत्वा पुनरागतं वृषाकपिम् इन्द्रः पृच्छति, किन्तु वेंकटमाधवाचार्य-मतेन पुनरागतं वृषाकपिम् इन्द्राणी पृच्छति। परम् इदं प्रतीयते यद् वृषाकपेः गृहं गत्वा पुनरागतम् इन्द्रम् इन्द्राणी ब्रवीति— हे इन्द्र! त्वम् उद्गामी सन् वृषाकपेः गृहम् अगच्छः। स बहु-भक्षयिता पशुः (वृषाकपिरित्याशयः) क्व आसीत्? जन-बाधको मोदयिता वा असौ कं [वा देशं] गच्छन् आसीत्। [भवान्] इन्द्रः सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टतरो वर्तते।।२२।।

[इस ऋचा में, सायण के अनुसार, जाकर लौटे हुए वृषाकपि से इन्द्र पूछता है, और वेंकटमाधवाचार्य के अनुसार, फिर लौटे हुए वृषाकपि से इन्द्राणी पूछती है। परन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वृषाकपि के घर जाकर फिर लौटे हुए इन्द्र को इन्द्राणी कहती है—] हे इन्द्र! ऊपर की ओर जाते हुए तुम वृषाकपि के घर गये। वह अधिकाहारी पशु (वृषाकपि) कहाँ था। लोगों का बाधक अथवा मोदयिता वह किस [देश] को चला गया था। [तुम] इन्द्र सारे जगत् से श्रेष्ठ हो।। २२।।

Indra once went to the house of Vṛṣākapi, and when he came back Indrāṇī asks him: O Indra! you travelling upward had gone to the house of Vṛṣākapi. Where was that glutton beast? [Or] to which [region] that exhilarater of (or trouble-some to) men had gone? Indra is above all the world. (22)

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥२३॥

पर्शुः। ह। नाम। मानवी। साकं। ससूव। विंशतिं।
भद्रं।भल।त्यस्यै।अभूत्।यस्याः।उदरम्।आमयत्।विश्वस्मात्।इंद्रः।उत्ऽतरः॥

अन्वयः— पर्शुः नाम मानवी साकं विंशतिं ससूव। भल! अस्यै भद्रम् अभूत्, यस्याः उदरम् आमयत्। इन्द्र विश्वस्माद् उत्तरः।

विशिष्ट-पदानि— मानवी=मनोः पुत्री। ससूव=अजीजनत्। भल!= भेदक-[शर]! आमयत्=परिपूर्णम् आसीत्।

[को वक्ताऽस्ति अस्या ऋचः इति निश्चेतुं न शक्यते। अपि च, न प्रतीयते कश्चित् सम्बन्धः एतस्याः ऋचायाः पूर्ववर्ति-ऋचाभिः।] पर्शु-नामिका [काचित्] मानवी (मनोः पुत्री) विंशति संख्याकान् पुत्रान् युगपद् अजीजनत् (पशुरिव इत्याशयः)। [इन्द्रेण विसृज्यमान] हे भेदक-शर! अस्यै (उपर्युक्तमानव्यै) कल्याणम् अभूत्, यस्या उदरं [गर्भस्थैर्विंशति-संख्याकैः पुत्रैः] परिपूर्णम् आसीत्। इन्द्रः सर्वस्मात् जगत उत्कृष्टतरो वर्तते॥ २३॥

[इस ऋचा में वक्ता कौन है इसका निर्णय करना कठिन है। इसके अतिरिक्त इस ऋचा का पूर्ववर्ती ऋचाओं के साथ कोई सम्बन्ध भी लक्षित नहीं होता।] पर्शु नाम वाली किसी मानवी (मनु की पुत्री) ने बीस पुत्रों को [,जैसे कि पशु देते हैं,] एक-साथ जन्म दिया। [इन्द्र से छोड़े गये] हे

भेदक [वाण]! इस [उपर्युक्त मानवी] केलिए कल्याणकारी हो, जिसका उदर [गर्भस्थ बीस पुत्रों] से परिपूर्ण था। इन्द्र सारे जगत् से श्रेष्ठ है।। २३।।

[It is very difficult to ascertain as to who speaks this *mantra*, and also it creates no link with the previous *mantras*]. The daughter of Manu, Parśu by name, bore a scrore of childern at once [as the animals give birth to many kids]. O piercing arrow of Indra! may good fortune befall her whose belly was so prolific. Indra is above all [the world]. (23)

विवृति

१. ऋग्वेद के इस सूक्त (१०.८६) के आख्यान का उल्लेख बृहद्देवता में उपलब्ध नहीं है। इस सूक्त में निर्दिष्ट आख्यान के तीन पात्र हैं—इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि। इस आख्यान का सारांश इस प्रकार है—इन्द्राणी के लिए कल्पित हवि वृषाकपि ने दूषित कर दी (संभवतः इसे उच्छिष्ट कर दिया), तो वह वृषाकपि के प्रति रुष्ट तथा क्रुद्ध होकर बोली—'अब यह धूर्त वृषाकपि इस कार्य से अति प्रसन्न हो रहा है, पर आश्चर्य है, हे इन्द्र! कि तुम इसके प्रति क्यों आकृष्ट रहते हो, आखिर इसने तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य किया है। पर इस धूर्त को तो कुत्ता खा जाए। मैं इसका सिर काट डालूँगी। हे इन्द्र! मुझमें क्या कमी है? मैं तुम जैसे सर्वगुण-सम्पन्न देव की पत्नी हूँ। मैं मैथुनकार्य में तुम्हें पूरा सुख देती हूँ। पुरातन काल से आयोजित यज्ञों अथवा संग्रामों में भाग लेती आयी हूँ।'

उधर वृषाकपि भी इन्द्राणी के इस क्रुद्ध रूप से काँप उठता है। इन्द्र इन्द्राणी को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है, 'तेरा पति इन्द्र इस वृषाकपि के बैलों को खा जाए।' साथ ही यह भी कहता है कि वृषाकपि के बिना मैं [इन्द्र] हर्षित नहीं होता, और इन्द्राणी से कहता है कि यह उसके प्रति क्रोध न करे। इन्द्र की बातों से इन्द्राणी किंचित् प्रसन्न हो जाती है, और संभवतः इसी तरंग में कुछ अश्लील और भद्दे मज़ाक भी करती है, किन्तु वृषाकपि को अब भी वह बहुत बुरा-भला कहती है कि यह मृत्यु का ग्रास बन जाए।

इन्द्र और वृषाकपि के आवासों में बहुत दूरी नहीं है। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों वृषाकपि के यहाँ जाते हैं और उसे भी अपने यहाँ आमन्त्रित करते हैं।

इस आख्यान के प्रतीकात्मक अर्थ को सुलझाने का प्रयास विभिन्न विद्वानों के अनुसार निम्नलिखित रूप में किया जा रहा है।

२. (क) इस सूक्त के तीसरे मन्त्र में वृषाकपि को एक मृग (पशु) कहा गया है—इसे न जाने स्पष्टतः 'वानर' क्यों नहीं कहा गया?, पर 'वृषाकपि' शब्द से विद्वानों को सूर्य अर्थ अभिप्रेत है।

(ख) इस सूक्त के २१वें मन्त्र में प्रयुक्त 'य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि' वाक्य से बृहद्देवता में यह अभिप्राय लिया गया है कि 'वृषाकपि सायंकाल में लोगों को सुलाता हुआ अस्त हो जाता है,[1] पर सायणाचार्य ने इसका अभिप्राय दिया है कि 'यह जो तुम स्वप्नों के विनाशक आदित्य हो, नियत मार्ग से सायं अपने आवास को फिर लौट चले जाते हो आदित्य स्वप्नों का विनाशक है अर्थात् इसके उदित होने पर सभी प्राणी जाग जाते हैं।[2] उक्त दोनों वक्तव्यों से प्रतीत होता है कि 'स्वप्न-नंशनः' शब्द से शौनक ने **'डूबता हुआ सूर्य'** आशय लिया है और सायणाचार्य ने **'उदित होता सूर्य जो कि सायंकाल में फिर डूब जाता है'**।

(ग) बृहद्देवता के अनुसार सूर्य के, अर्थात् सूर्यक्षेत्र के, मुख्य दो देवता हैं—अश्विनौ (दो अश्विनी-कुमार)। वृषाकपायी, सूर्या और उषा—ये तीनों सूर्य की पत्नियां है।[3] ये सूर्य से सम्बद्ध रहती हुईं उस [द्युलोक], से

---

१. सायाह्नकाले भूतानि स्वापयन्नस्तमेति। (बृ० दे० २.६८-क)

२. किं च यः स्वप्ननंशनः उदयेन सर्वस्य प्राणिनः स्वप्नानां नाशयिता आदित्यः स एष त्वं पथा मार्गेणास्तमात्मीयमावासं पुनरेषि।
(सायणाचार्य-प्रणीत ऋग्वेदभाष्य १०.८६.२१, तथा यास्क-प्रणीत निरुक्त १२.२८ के आधार पर)

३. यः परस्तु गणः सौर्यो द्युस्थानस्तं निबोधत। (बृ० दे०, २.७-ख)
तस्य मुख्यतयौ देवावश्विनौ सूर्यमाश्रितौ।
वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव च पत्नयः।। (बृ० दे०, २.८)

इधर की ओर उलटे रूप से आती हैं। सूर्य के उदय होने से पूर्व इसे 'उषा' कहते हैं, मध्याह्न होने पर 'सूर्या', और सूर्य के निमज्जित (अस्त) होने पर वृषाकपायी।[1] सूर्य के आश्रय में (सूर्य के क्षेत्र में) सरण्यू, भग, पूषा, वृषाकपि, यम आदि जो देवता निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें वृषाकपि का भी स्थान है।[2]

३. *'वृषाकपि' शब्द की व्युत्पत्तियाँ*

(१) बृहद्देवता के अनुसार—

(क) यह [सूर्य] वृष (साँड) [के रूप में] कपिल (खाकी) रंग वाला होकर स्वर्ग पर आरूढ हो गया तो यह 'वृषाकपि' कहाया।[3].....

(ख) यह सर्वोत्कृष्ट साँड अपनी किरणों से [सबको] कम्पायमान करता है।[4]

(ग) यह वृषाकपि इसलिए कहाता है कि यह सायंकाल में लोगों को सुलाता हुआ अस्त हो जाता है[5] — छिप जाता है। प्रस्तुत सूक्त (१०.८६) के तीन मन्त्रों (संख्या २०, २१, २२) से यह प्रकट होता है कि इसे इन्द्र द्वारा छिपा दिया गया है—

---

१. (क) अमुतोऽर्वाङ् निवर्तन्ते प्रतिलोमास्तदाश्रयाः।
पुरोदयात्तामुषसं सूर्यां मध्यंदिने स्थिते।।
वृषाकपायीं सूर्यस्य तामेवाहुस्तु निम्रुचि।। (बृ० दे०, २.९.१०-क)
(ख) उषाः पुरोदयाद् भूत्वा सूर्या मध्यन्दिने स्थिते।
भूत्वा वृषाकपायी च दिनान्तेष्ववगच्छति।। (बृ० दे० ७.१२१)

२. अन्य देवता हैं–वैश्वानर, विष्णु, वरुण, अज एकपाद्, पृथिवी, समुद्र और सात ऋषि। [इस प्रकार ये कुल १८ देवता हुए।] (बृ० दे० २. १०-ख, ११, १२)

३. वृषैव कपिलो भूत्वा यन्नाकमधिरोहति।
वृषाकपिरसौ ....।। (बृ० दे० २.६७)

४. रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषा वर्षिष्ठ एव सः।। (बृ० दे० २. ६७-ग)

५. 'अस्तमेति' का अर्थ ए. ए. मैक्डॉनल ने किया है 'he goes home' ('वह अपने घर चला जाता है'।)

सायाह्नकाले भूतानि स्वापयन्नस्तमेति यत्।
वृषाकपिरितो वा स्याद् इति मन्त्रेषु दृश्यते।।
त्रिषु धन्वेति हीन्द्रेण प्रयुक्तो वारिषाकपे।

(बृ० दे० २.६८, ६९-क)

(२) यास्क-प्रणीत निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य के शब्दों में—

(क) वृषाकपि से तात्पर्य है — सायंकालीन आदित्य, क्योंकि यह अपनी एकत्रित किरणों से सब प्राणियों को कंपा देता है, अर्थात् लोग सूर्य के अदृश्य हो जाने के भय के मारे काँपने लगते हैं।[1]

(ख) 'वृषा' (प्रातःकाल ओस / कोहरा / पाला बरसाने वाला) तथा 'कपि' सब जीवों को कँपानेवाला) होने के कारण यह 'वृषाकपि' कहाता है।[2]

(ग) दुपहरी के आदित्य को भी वृषाकपि कहते हैं। तब आदित्य अपनी तीक्ष्णतम रश्मियों से पृथ्वी के जल को खींचता है जिससे आगे चलकर वर्षा होती है। इस प्रकार यह वृषा (वर्षिता) है, और कपि इसलिए कि यह अपनी तीक्ष्णता से सब को कंपा देता है।

(३) सायणाचार्य के अनुसार इन्द्र को भी वृषाकपि कहते हैं, क्योंकि यह (क) अभीष्ट कामनाओं की वर्षा करता हैं है, (ख) अभीष्ट देश को जाता है— कामानां वर्षकत्वाद् अभीष्ट-देश-गमनाच्च इन्द्रो वृषाकपिः। (ऋग्वेद १०.८६.१३, सायण-भाष्य)

इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न और सायंकालीन आदित्य वृषाकपि कहाता है।

उल्लेख्य है कि यास्क तथा उनके भाष्यकार दुर्गाचार्य के कथनानुसार वृषाकपायी वृषाकपि (आदित्य) की पत्नी (विभूति) है, क्योंकि उषःकाल में यह ओस-कणों की वर्षा करती है और इन्हें कँपाती भी है। यह ह्

---

१. यदा आदित्यः रश्मिभिः उपसंहृतैः उपसम्पन्नैः भूतानि अभिकम्पयन् एति, तदा वृषाकपिः भवति।

२. वर्षिता च अवश्यायानां कम्पनश्च भूतानाम्। (दुर्गाचार्य)।

'अभिसृष्ट-कालतमा' अर्थात् निश्चित समय पर नियम से आने वाली 'सूर्या' है।[1]

४. ब्रह्मपुराण में वृषाकपि का उल्लेख

ब्रह्मपुराण (अध्याय ७७ तथा ८४) में वृषाकपि तीर्थ का वर्णन है। इसके अनुसार यह तीर्थ मध्यप्रदेश के अकोला के दक्षिण में गोदावरी, अञ्जना तथा फेना नदियों के संगम पर पड़ता है। इस तीर्थ को इन्द्र-तीर्थ भी कहते हैं। इस वर्णन में वृषाकपि को हनुमान् भी बताया गया है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मपुराण (१२९.१०१-११५) में ऋग्वेद के उक्त सूक्त में प्रस्तुत इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि के संवाद की पृष्ठभूमि निर्दिष्ट की गयी है। इन १५ श्लोकों में इन्द्र ने इन्द्राणी से जो वचन कहे हैं, वे वृषाकपि-सूक्त के वचनों से पर्याप्त प्रभावित हैं, पर इस पुराण की इन्द्राणी का रूप वृषाकपि-सूक्त की इन्द्राणी से पर्याप्त भिन्न है। निःसन्देह दोनों इस बात से कुपित हैं कि इन्द्र वृषाकपि की ओर अपेक्षाकृत अधिक स्निग्ध दृष्टि रखता है, पर वृषाकपि-सूक्त की इन्द्राणी ईर्ष्यालु, गर्वीली, क्रोधी और अशालीन है, तथा आत्मप्रशंसा एवं आत्मरति की शिकार है, किन्तु इधर ब्रह्मपुराण की इन्द्राणी स्वयं कुछ नहीं बोलती, केवल इन्द्र ही उसके विषय में बोलते हैं। तथा वे अन्त में वृषाकपि-तीर्थ के माहात्म्य की चर्चा करते हैं।

अब उक्त स्थल का सारांश लीजिए[2]—

प्राचीन काल में दैत्यों का पूर्वज हिरण्य नाम का एक विख्यात असुर था। उसका महाशनि नामक महाबली पुत्र देवताओं के द्वारा सर्वथा दुर्जेय था। एक दिन महाशनि इन्द्र को पराजित कर उसे ऐरावत-सहित बाँधकर अपने पिता हिरण्य के पास ले आया। हिरण्यने अपनी पुत्री के आग्रह पर इन्द्र को भूगर्भ में बंद कर दिया। इधर महाशनि ने इन्द्र को जीतने के

१. **वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा।** (निरुक्त १२.८) (उल्लेख्य है कि प्रस्तुत सूक्त १०.८६ के १३वें मन्त्र में 'वृषाकपायी' से 'इन्द्राणी' अर्थ अभीष्ट है।)

२. यह सारांश कल्याण के 'देवता अंक' से उद्धृत किया गया है।

पश्चात् वरुण पर चढ़ाई कर दी। वरुण ने अपनी कन्या देकर उससे संधि कर ली और अपना श्रेष्ठ दिव्य महल भी उसे दे दिया। परिणाम-स्वरूप वरुण तथा महाशनि में मैत्री हो गयी। वरुणपुत्री वारुणी को पाकर महाशनि अत्यन्त आनन्द के साथ समय व्यतीत करने लगा।

इधर इन्द्र का अपहरण जानकर सभी देवता अत्यन्त दुःखित हो भगवान् विष्णु की शरण में गये। इस पर भगवान् विष्णु वरुण के पास पहुँचे और उन्होंने इन्द्र की दुर्दशा की बात बतायी तथा उसे मुक्त कराने के लिए कहा। वरुण अपने जामाता महाशनि के पास पहुँचे। महाशनि ने इनका बड़ा सम्मान किया और अत्यन्त विनीत भाव से उनके आने का कारण पूछा। वरुण ने उससे कहा– वीरवर! तुमने जो देवेन्द्र को रसातल में बाँधकर रखा है, उन्हें बन्धनमुक्त कर दो तथा यहाँ लाकर हमें समर्पित कर दो। महाशनि ने इन्द्र की अनेक प्रकार से भर्त्सना करते हुए उसे महात्मा वरुण को सौंप दिया। इससे इन्द्र अत्यन्त लज्जित हो गये। उन्होंने देवलोक में आकर दुःखित मन से इन्द्राणी को पूरा समाचार बताते हुए पूछा कि मैं इस कलंक को कैसे दूर करूँ?

इसपर इन्द्राणी ने कहा–'मैं पुलोमा दैत्य की पुत्री हूँ और महाशनि मेरे चाचा हिरण्य का पुत्र है। इसकी उत्पत्ति तथा मृत्यु का मुझे सम्पूर्ण रहस्य ज्ञात है। इसने ब्रह्मा की आराधना से पराक्रम और शक्ति प्राप्त की है। आप गोदावरी के पास की भूमि पर जाकर भगवान् शिव और विष्णु की आराधना करें। वहाँ उनकी स्तुति करने पर वे आप पर प्रसन्न होंगे। मैं भी आपके साथ चलकर वहाँ आपके कार्य में सहयोग करूँगी।' तदनन्तर आचार्य बृहस्पति के साथ शची और इन्द्र गौतमी नदी के पास पहुँचे और वहाँ उन्होंने भगवान् शङ्कर तथा माँ पार्वती की प्रार्थना की। तदनन्तर इन्द्र ने फेना और गोदावरी के संगम पर विविध ऋग्वेदीय मन्त्रों से भगवान् विष्णु को संतुष्ट किया और वर माँगा कि 'आप हमें हमारा सहायक एक ऐसा वीर पुरुष दें जो दैत्य-शत्रुओं का संहार कर सके।'

और उसी समय उन लोगों के सामने ही गोदावरी गङ्गा के पवित्र जल से एक ऐसा दिव्य पुरुष प्रकट हुआ, जो शिव-विष्णु दोनों का

सम्मिलित रूप था। उसके एक हाथ में सुदर्शन-चक्र तथा दूसरे हाथ में पिनाक नामक त्रिशूल था। वह वहाँ से सीधे रसातल पहुँचा और वहाँ पहुँचते ही उसने इन्द्र के शत्रु महाशनि को मार डाला। गोदावरी के जल से उत्पन्न इन्द्र का मित्र वही दिव्य पुरुष 'वृषाकपि' नाम से विख्यात हुआ।[१]

एक बार इन्द्राणी ने इन्द्र को वृषाकपि के पीछे स्निग्ध भाव से अनुगमन करते देखा तो वह प्रणय से कुपित-सी हो गयी। इस पर इन्द्र ने इन्द्राणी को सान्त्वना देते हुए निम्नोक्त रूप में जो कुछ कहा वह ब्रह्मपुराण के अनुसार ऋग्वेद के इस सूक्त की पृष्ठभूमि है—

''हे इन्द्राणी! अपने मित्र वृषाकपि को छोड़कर मुझे हविष्य या जल कुछ भी आनन्ददायक नहीं लगता, किंतु मैं तुम्हें छोड़कर कहीं जा नहीं सकता, इस पर तुम कोई शंका न करो। तुम मेरी पतिव्रता पत्नी हो, धर्म और मन्त्रणा में सहायिका हो, तुम सत्पुत्रवती तथा कुलीना हो, तुमसे अधिक प्रिय मुझे और कौन हो सकता है? तुम्हारे ही परामर्श से मैं यहाँ आकर भगवान् शिव और विष्णु की प्रसन्नता प्राप्त कर सका और इन लोक-विश्रुत जलोद्भव वृषाकपिदेव के प्रसाद से ही शत्रु के भीषण क्लेश से मुक्त हुआ। इसमें तुम ही मुख्य कारण हो। स्त्री ही दोनों लोकों में कल्याण करने वाली पुरुष की सच्ची मित्र है, फिर वह यदि मृदुभाषिणी, कुलीना, पतिव्रता, रूपवती, सद्गुणवती तथा निरन्तर एकचित्त से पति का हित चाहने वाली हो तो उस पुरुष के लिये त्रैलोक्य में कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है। उसके लिये पुरुषार्थत्रय की तो बात ही क्या, मुक्ति भी सुलभ है। इसलिये हे प्रिये! तुम्हारी ही बुद्धि-कौशल से मेरा कल्याण हुआ। तुम्हारी ही बुद्धि के प्रसाद से मेरा इन्द्रत्व स्थिर हुआ और जल से सहसा उत्पन्न मित्र वृषाकपि के कारण मेरे शत्रु का संहार हुआ।

---

१. अम्भसा पुरुषो जातः शिव-विष्णु-स्वरूप-धृक्।
चक्रपाणिः शूलधरः स गत्वा तु रसातलम्।।
निजघान तदा दैत्यमिन्द्रशत्रुं महाशनिम्।
सखाभवत् स चेन्द्रस्य अब्जकः स वृषाकपिः।। (ब्रह्मपुराण, १२९.९८-९९)

× × ×

ब्रह्मपुराण के इस स्थल और ऋग्वेद के वृषाकपि-सूक्त में साम्य की अपेक्षा वैषम्य कहीं अधिक है—

साम्य

एक साम्य तो यह है कि इन्द्र वृषाकपि के प्रति आकृष्ट होकर उसकी ओर दौड़ा चला जाता है। वह वृषाकपि के बिना प्रसन्न नहीं रह सकता (ऋ० वे० १०.८६.२,४,१२)। दूसरा साम्य यह है कि ऋग्वेद में इन्द्र इन्द्राणी की प्रशंसा में जो कुछ कहता है उसके कुछ अंश भिन्न रूप में ब्रह्मपुराण में भी कहे गये हैं।

आइए, अब इन्द्र की वृषाकपि के प्रति आकर्षण की प्रतीकात्मक चर्चा करें। विद्वानों के अनुसार 'वृषाकपि आकाश में वह तारा है जो इन्द्र के आगे-आगे चलता है'। यहां इन्द्र से क्या तात्पर्य है? यों तो इन्द्र से अभिप्राय सामान्यतः वर्षा का देवता लिया जाता है, और इन्द्र-वृत्र-युद्ध के प्रसंग में इसे विद्युत् के रूप में स्वीकार किया जाता है, जो वृत्र अर्थात् वर्षा को रोके हुए बादल को फोड़कर जल बरसाता है, किन्तु इस प्रसंग में इन्द्र से अभिप्रेत 'कोई बड़ा नक्षत्र' तथा सायणाचार्य के अनुसार आदित्य (देखिए मन्त्र-संख्या २१) हो सकता है जो कि वृषाकपि तारे का अनुगमन करता रहता है।

वृषाकपि से तात्पर्य वृष राशि भी ले सकते हैं[१], पर इस स्थिति में भी क्या इन्द्र से तात्पर्य आदित्य ही लें? बृहद्देवता के अनुसार (आगे देखिए) वृषाकपायी इन्द्र अर्थात् सूर्य की वह अवस्था है कि जब वह निमज्जित (अस्त) हो रहा होता है—

वृषाकपायीं सूर्यस्य तामेवाहुस्तु निम्रुचि (बृ०दे० २.१०-क)।

दुर्गाचार्य ने भी 'वृषाकपि' से तात्पर्य सायंकालीन आदित्य लिया है।[२]

---

१. वृष राशि (ज्येष्ठ मास) में सूर्य, उत्तरायण की पूर्णता में होने से, जल का पान करता है।

२. देखिए पृष्ठ २१६, पा० टि० १।

वैषम्य

वैषम्य के तीन रूप हैं—

(१) जो प्रसंग ऋग्वेद के इस सूक्त में हैं, वे ब्रह्मपुराण के उक्त स्थल में नहीं हैं, अथवा

(२) ये प्रसंग ब्रह्मपुराण में किंचित् परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, और

(३) जो प्रसंग ब्रह्मपुराण के उक्त स्थल में हैं, वे ऋग्वेद के उक्त सूक्त में नहीं हैं।

पहला रूप लीजिए। ऋग्वेदीय सूक्त के निम्नोक्त प्रसंग ब्रह्मपुराण में नहीं है—

सोताओं (सोम रस को अभिनव रूप देने वालों) ने यह कृत्य बन्द कर दिया है, और इस प्रकार इन्होंने इन्द्र की अवहेलना की है (१)।

इन्द्र द्वारा सोमपान का उल्लेख है (२)। वृषाकपि का वर्ण हरित है (३)। वृषाकपि को शूकरों [के आखेट करने] में रुचि है (४)।

इन्द्राणी के लिए कल्पित हवि इस कपि (वृषाकपि) ने दूषित कर दी है। इन्द्राणी इसी कारण उसका सिर काटना चाहती है (५)।

इन्द्राणी स्वयं अपने विषय में कहती है कि वह सुपुत्रवती है, मैथुन-कर्म में अपनी सुभग चेष्टाओं द्वारा अतिशय सुख देने वाली है (६)।

वृषाकपि इन्द्राणी के कुपित रूप से भयभीत होकर काँपने लगता है (७)।

इन्द्र इन्द्राणी से कहता है कि वह वृषाकपि के प्रति क्यों क्रुद्ध होती है? (सायणाचार्य के अनुसार वृषाकपि इन्द्र का पुत्र है। (देखिए १०.८६.१) (८)।

इन्द्राणी सुनियोजित यज्ञों अथवा संग्रामों में भाग लेती रही है (१०)।

वृषाकपायी (वृषाकपि की पत्नी) के बैलों को अथवा सोम-डंठलों को तथा उसकी हवि को इन्द्र खा ले।

—किसी के दोष के फल-स्वरूप उसके बैलों को विनष्ट कर देना सम्भवतः उस युग में बहुत बड़ी सजा होती होगी (१३)।

—इन्द्र के लिए बैलों के मांस से पकाया गया आहार। यहाँ 'उक्षन्' (वृषभ, बैल) का प्रतीकात्मक अर्थ किन्हीं विद्वानों के अनुसार 'सोम-डंठल' लिया जाता है, अथवा 'मेघ' लिया जाता है कि विद्युत् मेघों को नष्ट कर देती है। (१४)।

इन्द्राणी इन्द्र के लिए [स्वादिष्ट एवं पुष्टिदायक] पेय पदार्थ बनाती है। (क्या संभवतः वाजीकरण के लिए?) (१५)।

इन्द्र और इन्द्राणी संभवतः हास्य-विनोद में जंघाओं के बीच लटकती हुई जननेन्द्रिय की चर्चा करते हैं। (पर इस चर्चा का औचित्य पाठकों को किसी भी रूप में प्रतीत नहीं होगा।) (१६, १७)

इन्द्राणी वृषाकपि के विषय में कहती है कि वह अति भयंकर पशु का वध करे। (इससे स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता कि इन्द्राणी चाहती है कि वृषकपि अपना शौर्य प्रदर्शित करे, अथवा यह चाहती है कि वह भयंकर पशु का वध करने जाए तो वह इस कृत्य में स्वयं मारा जाए अथवा घायल हो जाए।) (१८)।

इन्द्र सोम-पान का इच्छुक है (१९)।

वृषाकपि का घर सुनसान में है, और यह घर इन्द्र के घर से बहुत दूर नहीं है। (क्या इससे यह तात्पर्य ले सकते हैं कि वृषाकपि तारे और उसके अनुगन्ता नक्षत्र के बीच बहुत अधिक अन्तर नहीं है?) (२०)।

वृषाकपि को 'स्वप्न-नंशनः' कहा गया है। इसका तात्पर्य बृहद्देवताकार के अनुसार डूबता हुआ सूर्य है और सायणाचार्य के अनुसार उदित होता हुआ सूर्य। (देखिए २१वें मन्त्र का अर्थ।) (२१)

वह किसी अन्य देश को चला गया था—(क्या इसका यह आशय ले सकते हैं कि सूर्य लगभग १२ घंटे के लिए पृथ्वी के इस भाग में दिखायी न देकर पृथ्वी के दूसरे भाग में, विपरीत भाग में, दिखायी दे रहा था, और अब फिर इसी भाग में दिखायी दे रहा है (२२)।

मनु की पुत्री पर्शु ने बीस पुत्रों को जन्म दिया और [इन्द्र का] बाण उसे कोई हानि न पहुँचाये। 'बीस पुत्रों' से क्या एक दिन में २० घंटे अर्थ ले सकते हैं?— संभवत: उस युग में एक दिन २० घंटों में विभाजित हो, न कि वर्तमान युग के समान २४ घंटों में। (२३)

अब दूसरा रूप लीजिए। वृषाकपि-सूक्त के वे प्रसंग जो ब्रह्मपुराण में परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं—

१. **वृषाकपि-सूक्त**— इन्द्राणी कहती है, 'हे इन्द्र! तुम त्वरित गति से वृषाकपि की ओर भागे चले जाते हो तथा सोमपान के लिए अन्यत्र कहीं नहीं जाते (२)। इन्द्र कहता है, हे इन्द्राणी! मैं अपने मित्र वृषाकपि के बिना हर्षित नहीं होता हूँ (१२)।

ब्रह्मपुराण— इन्द्र कहते हैं—हे इन्द्राणी! वृषाकपि के सिवाय मुझे हविष्य या जल कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

२. **वृ० सूक्त**— इन्द्राणी कहती है, हे इन्द्र! मैं सुयाशुतरा (अतिशयेन सुपुत्रा) हूँ (६), मैं वीरिणी (पुत्रवती) हूँ (९, १०)।

ब्र० पु०— हे इन्द्राणी! तुम सत्पुत्रवती हो।

३. **वृ० सूक्त**— हे इन्द्र! मुझसे बढ़कर कोई नारी सुख देने वाली नहीं है (६)।

ब्र० पु०— हे इन्द्राणी! स्त्री ही दोनों लोकों में कल्याण करने वाली होती है।

४. **वृ० सूक्त**— हे इन्द्राणी! तुम शोभन बाहु वाली, सुन्दर अंगुलियों वाली......हो (८)।

ब्र० पु०— हे इन्द्राणी! तुम रूपवती हो।

५. **वृ० सूक्त**— हे इन्द्राणी! वृषाकपि का हवि जल में उत्पन्न होता है (१२)।

ब्र० पु०— हे इन्द्राणी! मेरा मित्र वृषाकपि जल से उत्पन्न है।

वैषम्य के तीसरे रूप से तात्पर्य है ब्रह्मपुराण के वे प्रसंग जो नूतन हैं, और वृषाकपि-सूक्त में अप्रत्यक्ष अथवा प्रकारान्तर से भी नहीं हैं। सुधी पाठक दोनों स्थलों का अवलोकन करने के अनन्तर ऐसे प्रसंग स्वयं जान लेंगे।

५. इस सूक्त में निर्दिष्ट इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि नामों से प्रतीकात्मक रूप में क्या अर्थ अभिप्रेत है— कहना कठिन है। इस सम्बन्ध में एच० एच० विल्सन महोदय की टिप्पणी है कि 'इन्द्र' से अभिप्रेत यदि आदित्य है, जैसा कि निरुक्त (१३,३) में निर्दिष्ट है, तो 'वृषाकपि' से भी यहां किन्हीं स्थलों में 'आदित्य' अर्थ प्रतीत होता है। कोषग्रन्थों में, यों तो, 'वृषाकपि' का अर्थ विष्णु, शिव और अग्नि दिया हुआ है, पर यहां इस शब्द से संभवतः 'अग्नि' अभिप्रेत है जो कि 'आदित्य' से सादृश्य रखता है।[१] 'इन्द्राणी' शब्द के प्रतीकात्मक अर्थ पर विल्सन महोदय ने प्रकाश नहीं डाला। 'इन्द्राणी' से संभवतः इन्द्र का इन्द्रत्व (उसकी शक्ति एवं क्षमता) अभीष्ट है।

---

१. This is somewhat unintelligible *Sukta*. Indra of the burthen is according to Yāska (*Nirukta,* VIII.3) the Sun. Vṛṣākapi also seems sometimes to bear the same meaning; in the vocabularies the name is applied to Viṣṇu, Śiva and Agni, perhaps here Agni is intended as identified with Āditya.

९. पुरूरवा-उर्वशी संवाद

(ऋग्वेद १०.९५)

ऋग्वेदस्य दशम-मण्डलस्य पञ्चनवतितमं सूक्तम्

अष्टादशर्चस्यास्य सूक्तस्य प्रथमा-तृतीया-षष्ठीनामृचामष्टम्यादि-तृचस्य द्वादशी-चतुर्दशी-सप्तदशीनाञ्च ऐळः पुरूरवा ऋषिः, द्वितीया-चतुर्थी-पञ्चमी-सप्तम्येकादशी-त्रयोदशी-पञ्चादशी-षोडश्यष्टादशीनाञ्च उर्वशी ऋषिका। प्रथमा-तृतीया-षष्ठीनामृचामष्टम्यादि-तृचस्य द्वादशी-चतुर्दशी-सप्तदशीनाञ्च उर्वशी, द्वितीया-चतुर्थी-पञ्चमी-सप्तम्येकादशी- त्रयोदशी-पञ्चदशी-षोडश्यष्टादशीनाञ्च पुरूरवा देवते। त्रिष्टुप् छन्दः।।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का यह ९५वाँ सूक्त है। इस सूक्त में १८ मन्त्र हैं। इनमें से संख्या १, ३, ६, ८-१०, १२, १४, १७ मन्त्रों का ऋषि पुरूरवा है और संख्या २, ४, ५, ७, ११, १३, १५, १६, १८ मन्त्रों की ऋषिका उर्वशी है।

संख्या १, ३, ६, ८-१०, १२, १४, १७ मन्त्रों का देवता उर्वशी है तथा संख्या २, ४, ५, ७, ११, १३, १५, १६, १८ मन्त्रों का देवता पुरूरवा है। यह सूक्त त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध है।

ह॒ये जाये॒ मन॑सा॒ तिष्ठ॑ घोरे॒ वचां॑सि मि॒श्रा कृ॑णवावहै॒ नु।
न नौ॒ मन्त्रा॒ अनु॑दितास ए॒ते मय॑स्कर॒न्पर॑तरे च॒नाह॑न्।। १।।

ह॒ये। जायै। मन॑सा। तिष्ठ॑। घो॒रे॒। वचां॑सि। मि॒श्रा। कृ॑ण॒वा॒व॒है॒। नु।
न। नौ॒। मन्त्रा॒ः। अनु॑दितासः। ए॒ते। मय॑ः। क॒र॒न्। पर॑ऽतरे। च॒न। अह॑न्।।

अन्वय— हये घोरे जाये! मनसा तिष्ठ। वचांसि मिश्रा न कृणवावहै। नौ एते अनुदितासः मन्त्राः परतरे अहन् मयः चन न करन्।

विशिष्ट-पदानि— हये=हे! घोरे=घोरकारिणि, कष्टदायिनि इति यावत्। अनुदितासः=अनुदिताः, परस्परम् अनुक्ताः, हृदि कल्पिता इति यावत्। अहन्=अहनि, अनेक-दिवसेषु। मयः-सुखम्।

पुरूरवाः जायाम् उर्वशी-नामिकां वदति— हे [वियोग-जन्य-दुःख-जनकत्वाद्] घोरकारिणि जाये! [मदुपरि अनुरागवता] मनसा [युक्ता सती, मम सन्निधौ एव] निवस। येन आवाम् [भविष्य-विषये] मिश्राणि [परस्परम् उक्ति-प्रत्युक्ति-रूपाणि] वचांसि वदावः। आवयोः एते [हृदि कल्पिता अपि] अनुदिताः (परस्परम् असम्भाष्यमाणाः) मन्त्राः (रहस्यार्थाः) आगामि-दिवसेषु सुखं न करिष्यन्ति, दुःखमुत्पादयिष्यन्ति इत्याशयः। अतः मम समीपे उपविश्य मया सार्द्धं मधुरम् आलापं कुरु] ।। १।।

पुरूरवा अपनी उर्वशी नामक पत्नी से कहता है—[मुझे वियोग-जन्य] कष्ट पहुंचाने वाली हे मेरी पत्नी! [मेरे प्रति] अनुरक्त मन से [मेरे पास] रहो। [और हम दोनों] आपस में [भविष्य के विषय में] बातचीत कर लें। हम दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति जो विचार उठते हैं उन्हें यदि नहीं कहा गया तो वे हमें बहुत दिनों तक सुख नहीं देंगे, [दुःख ही देंगे। अतः मेरे समीप बैठकर मेरे साथ मधुर आलाप करो]।। १।।

Purūravas speaks to Urvaśi, "[On account of your separation from me] Oh you indignant wife! stay a while with your mind [relenting towards me, and] let us now interchange our views together. These our unspoken (secret) thoughts shall never bring us comfort in the days to come.(1)

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि।। २।।

किं। एता। वाचा। कृणव। तव। अहम्। प्र। अक्रमिषं। उषसां। अग्रियाऽइव। पुरूरवः। पुनः। अस्तम्। परा। इहि। दुःऽआपना। वातःऽइव। अहं। अस्मि।।

अन्वय— पुरूरवः! एता वाचा किं कृणवा। उषसाम् अग्रियेव अहं तव प्राक्रमिषम्। अहं वात इव दुरापना अस्मि। पुनः अस्तम् परेहि।

विशिष्ट-पदानि— एता=एतया। कृणवा=करवाव। प्राक्रमिषम्= अतिक्रमामि। दुरापना=दुष्प्राया। अस्तम्=गृहम्।

उर्वशी पुरूरवसं प्रत्युवाच— हे पुरूरवः! एतया वाचया किं करवाव? [अहं तु सम्प्रति गमिष्याम्येव। अतः परस्परमालापः केवलं व्यर्थ एव।] यथा बह्वीनाम् उषसाम् मध्ये अग्रया अग्रे भवा पूर्वोषाः प्रक्रमणं करोति तथाऽहमपि

त्वत्सकाशाद् अतिक्रान्तवती अस्मि (यथा गच्छन्ती उषाः प्रत्यावर्तयितुं न शक्यते, तथैव त्वत्तः गच्छन्ती अहमपि त्वया प्रत्यावर्तयितुं न शक्या। अतः वार्तालापो व्यर्थः।) यथा वायुः प्राणिना दुष्प्राप्यो भवति — न खलु कश्चित् प्राणी वायुं धारयितुं समर्थो भवति इत्यर्थः, तथाऽहमपि त्वया दुष्प्राप्याऽस्मि। अतः त्वं मम सकाशत् प्रतिनिवृत्य पुनः स्वगृहं गच्छ।।२।।

उर्वशी ने पुरूरवा को उत्तर दिया-- हे पुरूरवा! अब तुम्हारे साथ नहीं रहूंगी। जैसे अनेक उषाओं में से पर-पर-वर्ती उषाएं पूर्व-पूर्व-वर्ती उषाओं को लांघ जाती हैं, किसी के रोके नहीं रुकतीं, वैसे ही मैं भी तुम्हारे रोके नहीं रुकूंगी। जैसे वायु किसी के हाथ नहीं आती, उसी प्रकार मैं भी अब तुम्हारे हाथ नहीं आऊँगी। अतः तुम वापस घर लौट जाओ।।२।।

Urvaśi speaks, "What can we accomplish through our talk? [Now it is useless.] I have passed away from you like the first of dawns. (As prior dawns never return, similary I, too, when passed away from you, shall never come to you again.) I am hard to be captured like wind. O Pururavas! return to your dwelling. (2)

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः।।३।।

इषुः। न। श्रिये। इषुऽधेः। असना। गोऽसाः। शतऽसाः। न। रंहिः।
अवीरे। क्रतौ। वि। दविद्युतत्। न। उरा। न। मायुम्। चितयंत। धुनयः।।

अन्वयः— इषुधेः इषुः श्रिये असना न। रंहिः गोषाः शतसा न। अवीरे क्रतौ न वि दविद्युतत्। धुनयः उरा मायुं न चितयंत।

विशिष्ट-पदानि— इषुधेः (इषुधिः=निषंगः)=निषंगात्। श्रिये= विजयार्थम्। असना=प्रक्षेप्ता। गोषाः=गवां संभक्ता, बलाद् हर्ता। शतसाः= शतानि धनानि संभक्ता, बलाद् हर्ता। रंहिः=वेगवान्। धुनयः=कम्पयितारः। उरा=उरसि। मायुम्=घोर-शब्दं, सिंह-गर्जनम्।

पुरूरवाः स्वस्य विरहजनितं वैक्लव्यम् उर्वशीं प्रति ब्रूते— अहं श्रिये (विजयार्थं) निषंगात् बाणं प्रक्षेप्तुं न समर्थोऽस्मि। त्वद्-विरहाद् युद्ध-विरतो

जातोऽस्मि इत्याशयः। अहं शत्रूणां गवां, शतानाम् (अपरिमितानां) धनानां च वेगवान् बलाद् हर्ता न भवामि। शत्रूणां गाः धनानि च बलाद् हर्तुं नितान्तम् असमर्थोऽस्मि इति भावः। अपि च। सोऽयं पुरूरवाः अवीरे (शौर्य-कृत्य-विरहिते) क्रतौ (राजकर्मणि) न विद्योतते— अधुना लेशमात्रमपि शोभां न दधाति। अस्माकं धुनयः (शत्रूणां कम्पयितारो योद्धारः) उरसि स्वहृदयेषु मम मायुं (सिंहनादं) यथापूर्वं न अनुभवन्ति, अथवा उरसि (विस्तीर्णे संग्रामे) मम सिंहनादं यथापूर्व न श्रृण्वन्ति।।३।।

विरह-व्याकुल पुरूरवा उर्वशी से कहता है– अब मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए तरकस से तीर निकालने में असमर्थ हो गया हूँ। मैं शत्रुओं की गौओं और उनके प्रभूत धन को बलपूर्वक हर लाने में सक्षम नहीं रहा। अब यह पुरूरवा शौर्य-विहीन राजकर्म में पूर्ववत् शोभावान् नहीं दीखता, और न ही शत्रुओं को कम्पा देने वाले उसके योद्धा अपने हृदय में (अथवा विशाल संग्राम-भूमि में) उसके सिंह-गर्जन को पूर्ववत् सुन पाते हैं।। ३।।

Purūravas speaks, "[Owing to separation from you] I have become incapable of casting arrow from the quiver to gain victory [over my enemies.] I am no longer the vivacious plunderer of their cattle and hundredfold [riches.] This person, i.e., Purūravas does not flash in his [royal] duties as these are [now] devoid of chivalry. [My warriors—] the terrifiers of the foe, now do not hear my heavy shout in the battle-field. (3)

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन।। ४।।

सा। वसु। दधती। श्वशुराय। वयः। उषः। यदि। वष्टि। अन्तिऽगृहात्।
अस्तं। ननक्षे। यस्मिन्। चाकन्। दिवा। नक्तम्। श्नथिता। वैतसेन।।

अन्वयः— उषः! सा श्वशुराय वसु वयः दधती यदि वष्टि, अन्तिगृहात् अस्तं ननक्षे, यस्मिन् चाकन् दिवा नक्तं वैतसेन श्नथिता।

विशिष्ट-पदानि— वसु=वासकं, वस्त्रम्। वयः=अन्नम्। दधती= प्रयच्छन्ती। अन्तिगृहात्=[पतिगृहस्य] अन्तिक-वर्तिगृहात्, श्वशुरस्य गृहात् इत्याशयः। अस्तम्=गृहम्। ननक्षे=व्याप्नोति, आप्नोति। चाकन्=कामयमानः प्रतीक्षा-रत इत्याशयः। वैतसेन=दण्डेन (शिश्नेन इत्यभिप्रायः)। श्नथिता= ताडिता।

अस्याम् ऋचि उर्वशी स्वाशयं उशसम्-न तु पुरूरवसम्-अभिलक्ष्य स्व-रति-क्रीडानन्दं निर्दिशति। एतद्विधिना सा परोक्ष-रूपेण उत्तरति न तु साक्षाद्रूपेण— [हे] उषः! सा [इयम् उर्वशी स्व-]श्वशुराय वासकं अन्नं च प्रयच्छन्ती— तस्य सेवां शुश्रूषां कुर्वती इत्यभिप्रायः यदा [पतिं] कामयते [तदा सा] पतिगृह-निकटवर्ति-श्वशुरगृहात् आत्मीयं गृहम्, (पति-गृहम्) व्याप्नोति (यथाशीघ्रमागच्छति), यस्मिन् गृहे तां कामयमानः (प्रतीक्षा-रतः) पतिः आस्ते। तत्र च सा अहनि रात्रौ च पत्युः वैतसेन दण्डेन (पुंस्प्रजननेन, पुंव्यजनेन शिश्नेन इति भावः) श्नथिता (ताडिता) भवति।। ४।।

इस ऋचा में उर्वशी अपने और पुरूरवा के बीच यौन सम्बन्ध के विषय में पुरूरवा से साक्षात् न कहकर अन्य पुरुष का प्रयोग करते हुए उषा के माध्यम से उसे कहती है, मानो वह उर्वशी की अन्तरंग सखी हो—"हे उषः! यह उर्वशी श्वशुर-गृह में ठहरी हुई श्वशुर की वस्त्र, अन्न आदि द्वारा सेवा करती रहती है, और जब-जब उसने पति को चाहा (उससे अपनी काम-वासना की पूर्ति करनी चाही) तो वह श्वशुर-गृह से निकटवर्ती पति-गृह में आ जाती, जहां उसकी कामना करता [प्रतीक्षा-रत] उसका पति होता। वहां दिन-रात वह उसके दण्ड (शिश्न) से ताडित होती रहती।।४।।

Urvaśī instead of addressing Purūravas does so to the dawn (as if her female friend), and relates her sexual enjoyment with him, "O dawn! this [Urvaśī]—serving her father-in-law with the clothes and food—whenever craves [for her husband], she—from the neighbouring apartment [of her father-in-law—] goes to that [of her husband] where she [enjoys the delights of sexual act] day and night by being hit by the strokes of the staff, that is, penis of her husband, waiting for her eagerly [there.] (4)

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्व१स्तदासीः।। ५।।

त्रिः। स्म। मा। अह्नः श्नथयः। वैतसेन। उत। स्म। मे। अव्यत्यै। पृणासि।
पुरूरवः। अनु। ते। केतम्। आयं। राजा। मे। वीर। तन्वः। तत्। आसीः।।

अन्वयः— पुरूरवा! मा अह्नः त्रिः वैतसेन श्नथयः स्म। उत अव्यत्यै मे पृणासि। ते केतम् अन्वायम्। वीर! तत् तन्वः राजा आसीः।

विशिष्ट-पदानि— अह्नः-अहनि, एकदिवसे। वैतसेन=दण्डेन पुंव्यजनेन। श्नथयः-अताडयः। अव्यत्यै=सपत्नी-रहितायै (सपत्नीभिः सह पर्यायेण पतिमागच्छति सा व्यती, न तादृशी अव्यती=सपत्नी-रहिता, तस्यै)। पृणासि= पूरयसि कामम् इति शेषः। केतम्=गृहम्। अन्वायम्=अन्वागच्छम्। तत्=तदा। तन्वः=शरीरस्य।

अस्मिन् मन्त्रे उर्वशी पुरूरवसं सम्बोध्य कथयति— हे पुरूरवः! त्वं माम् एकस्मिन्नेव दिवसे दण्डेन (पुंव्यजनेन, शिश्नेन इति यावत्) त्रिवारम् अताडयः, मैथुन-कार्यरतोऽभव इत्याशयः। अपि च सपत्नी-रहितायै मह्यं कामं पूरयसि स्म। [आवां द्वावेव सन्तुष्टौ आस्व।] एतत्सन्तुष्टि-प्राप्त्यर्थमेव अहं तव गृहं त्वदनु आगच्छम। हे [मम] वीर! तदा त्वं मम शरीरस्य स्वामी आसीः। [मम शरीरस्य सुखयिता, मम शरीराद् वा सुख-प्राप्ता आसीः किन्तु अधुना तु उपरन्तव्यम् एतत्सुखात्] ।। ५।।

इस मन्त्र में उर्वशी पुरूरवा को सम्बोधित करते हुए रतिकर्म-विषयक चर्चा करती है—हे पुरूरवा! तुम एक [ही] दिन में वैतस (शिश्न) से तीन बार मुझे ताड़ित करते थे—मेरे साथ मैथुन-कर्म में रत रहते थे। [उस घर में] मेरी कोई सपत्नी भी नहीं होती थी [और हम दोनों ही रति-कर्म से सन्तुष्टि का अनुभव करते थे, और इसी] सन्तुष्टि को प्राप्त करने के लिए ही तो मैं तुम्हारे घर चली आयी थी। हे [मेरे] वीर राजा! तुम तो मेरे [शरीर के] स्वामी हो तुमने मुझे शारीरिक सुख दिया, अथवा मेरे शरीर से शारीरिक सुख प्राप्त किया, [किन्तु अब तो इस सुख से विराम करना चाहिए]।।५।।

Urvaśī speaks further, "O Purūravas! thrice a day you hit me hard with [your] staff, *i.e.*, penis. And you satisfied my lust who had no co-wife. I followed you to your dwelling [to gain pleasure.] Hero me! then, you had been, in fact, a sovereign of my person, [but now we must restraint from the sexual pleasure.] (5)

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्रदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त।।६।।

या। सुऽजूर्णिः। श्रेणिः। सुम्नेऽआपिः। ह्रदेऽचक्षुः। न। ग्रंथिनी। चरण्युः।
ताः। अंजयः। अरुणयः। न सस्रुः। श्रिये। गावः। न। धेनवः। अनवंत।।

अन्वयः— या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिः ह्रदेचक्षुः ग्रन्थिनी चरण्युः। ताः अञ्जयः अरुणयः न सस्रुः। धेनवः गावः स्व-वत्सस्य श्रिये न अनवन्त।

विशिष्ट-पदानि— सुजूर्णिः, श्रेणिः, सुम्नआपि, ह्रदेचक्षुः— इत्याख्याः चतस्रः अप्सरसः। सुजूर्णिः=सुजवा वेगवती वा। प्रथमो नकारः समुच्चये। ग्रन्थिनी=इत्याख्या अप्सरसः, ग्रथिता वा। चरण्युः=चरणशीला, आगमन-शीला। अञ्जयः=आभरणोपेताः। सुस्रुः=गच्छन्ति। धेनवः=नव-प्रसूता गावः। श्रिये=आश्रयार्थम्। अनवन्त— शब्दायन्ते।

पुरूरवा वदति — या [त्वं] सुजूर्णि-श्रेणि-सुम्नआपि-ह्रदेचक्षु इति नामधेयाभिः [चतसृभिः अप्सरोभिः] सह ग्रथिता (संलग्ना संयुक्ता वा) सती [अस्मिन् भूलोके] आजगन्थ, यद्वा त्वं सुजूर्णिः (सुजवा वेगवती वा) [उर्वशी]—श्रेणि-सुम्नआपि-ह्रदेचक्षुर्-ग्रन्थिनी इति नामधेयामिः चतसृभिः अप्सरोभिः सह— [अस्मिन् भूलोके] आजगन्थ, ता आभरणोपेताः अरुणवर्णाः [तव सख्यः तु द्युलोकम्] न गच्छन्ति, [परं त्वं तु गन्तुम् आतुराऽसि। एतत्तु एतादृशमेव यथा अन्या गावः तु स्व-स्व-वत्सस्य आश्रयार्थं दूरतः शब्दायन्ते, परं] नवप्रसूताः गावः [स्व-स्व-वत्सस्य] आश्रयार्थं न किञ्चिदपि शब्दं कुर्वन्ति। [परं मम तु परमाभिलाषोऽस्ति यत् त्वमपि त्वत्सख्य इव अस्मिन् भूलोक एव वस, द्युलोकं मा गच्छ]।। ६।।

पुरूरवा कहता है— तू सुजूर्णि, श्रेणि, सुम्नआपि और ह्रदेचक्षु नामक अप्सराओं के साथ संलग्न अथवा संयुक्त होकर [इस भूलोक में] आयी थी, अथवा तू सुजूर्णि अर्थात् वेगवती [उर्वशी]— श्रेणि, सुम्नआपि, ह्रदेचक्षु और ग्रन्थिनी नामक चार अप्सराओं के साथ— इस भूलोक में आयी थी। आभरणों से सज्जित एवं अरुण वर्ण वाली वे तेरी चारों सखियां तो द्युलोक को नहीं जातीं, पर तू जाने को आतुर है। यह तो ऐसे है जैसे अन्य गाएं तो अपने-अपने बछड़ों को आश्रय देने के लिए दूर से रंभाती आती हैं, पर] नवप्रसूता गाएं अपने-अपने बछड़ों को आश्रय देने के लिए कुछ भी शब्द नहीं करतीं। [पर मेरी तो परम अभिलाषा है कि अपनी सखियों के समान तू भी इसी भूलोक में ही रह, द्युलोक को मत जा।। ६।।

Purūravas speaks, "Who, you swift-moving [Urvaśī,] arrived [on this world] along with [other four nymphs, namely:] Śreṇi, Sumnāpi, Hradecakṣu and Granthinī. All these [maids], decorated and ruddy, do not want to go [to heaven back from where all you came, but it is only you who is anxious to do so.] It is just like as the milch kine, [returning to their compound from the grazing field] low loudly to give patronage to their individual calves, [while the other kine do not.] (6)

स॒म॑स्मि॒ञ्जाय॑मान आसत॒ ग्ना उ॒तेम॑वर्धन्न॒द्य१॑ः स्वगू॑र्ताः।
म॒हे यत्त्वा॑ पुरूरवो॒ रणा॒याव॑र्धयन्दस्यु॒हत्या॑य दे॒वाः।। ७।।

सम्। अ॒स्मि॒न्। जाय॑माने। आ॒स॒त॒। ग्नाः। उ॒त। ई॒म्। अ॒व॒र्ध॒न्। न॒द्यः॑। स्वऽगू॑र्ताः। म॒हे। यत्। त्वा॒। पु॒रू॒र॒व॒ः। रणा॑य। अव॑र्धयन्। द॒स्यु॒ऽहत्या॑य। दे॒वाः।।

अन्वय— अस्मिन् जायमाने ग्नाः समासत। उत ईम् स्वगूर्ताः नद्यः अवर्धन्। हे पुरूरवः! यत् महे रणाय दस्यु-हत्याय देवाः त्वा अवर्धयन्।

विशिष्ट-पदानि— ग्नाः=अप्सरसः देव-वेश्या वा, राजपत्न्यश्च। समासत=संगताः, आकृष्टा अभवन्। स्व-गूर्ताः=स्वयं-गामिन्यः। यत्=यदि। महे=महते।

उर्वशी कथयति— अस्मिन् (पुरूरवसि) जायमाने [सति], भूतले ख्यातिं प्राप्ते सति इत्यभिप्रायः, अप्सरसो देववेश्याश्च (उपर्युक्ताः चतस्रः इत्याशयः) [तं प्रति] आकृष्टाः अभवन्। अथवा अस्मिन् (पुरूरवसि) जायमाने (सति), यज्ञार्थं प्रवर्धमाने प्रवृत्ते वा सति, राजपत्न्यः [यज्ञवेदिकायां] संगता अभवन्। अपि च एनं पुरूरवसं स्वयं-गामिन्यो नद्यः अवर्धयन्। हे पुरुरवः! यदा त्वं महते संग्रामाय दस्यु-हननाय वा [अगच्छः तदा] देवाः त्वाम् अवर्धयन्।। ७।।

पुरूरवा ने उपर्युक्त चारों अप्सराओं के साथ संसर्ग किया था— इस आशय को उर्वशी इस मन्त्र में कहती है— इस [पुरूरवा] के उत्पन्न होने अर्थात् भूलोक में ख्याति प्राप्त कर लेने पर, अप्सराएं और देववेश्याएं इसके प्रति आकृष्ट हुईं, अथवा इस [पुरूरवा] के यज्ञादि में प्रवृत्त हो जाने पर राजपत्नियां [यज्ञवेदिका पर] इसके संग आ बैठीं। इसके अतिरिक्त, स्वयंगामिनी नदियों ने इसे [पुरूरवा को] प्रवृद्ध किया। हे पुरूरवा! जब-जब तुमने बड़े भारी संग्राम के लिए अथवा राक्षसों के विनाश के लिए [प्रस्थान किया], देवताओं ने तुम्हारी रक्षा की।। ७।।

Urvaśī speaks, "While he (Purūravas) was born, that is, became famous owing to his noble and brave deeds, the dames (nymphs: specially above-mentioned four ones) surrounded him; the spontaneously flowing rivers gave him nurture; and then, O Purūravas! the gods reared you whenever you started off for a mighty battle for the slaughter of the Dasyus. (7)

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे।
अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन्रथस्पृशो नाश्वाः।।८।।

सचा। यत्। आसु। जहतीषु। अत्कं। अमानुषीषु। मानुषः। निऽसेवे।
अप स्म। मत् तरसंती। न। भुज्युः। ताः। अत्रसन्। रथऽस्पृशः। न। अश्वाः।।

अन्वय— यत् सचा मानुषः अत्कं जहतीषु आसु। अमानुषीषु निषेवे स्म, ता मत् अप अत्रसन्, न भुज्युः तरसन्ती, न रथस्पृशः अश्वाः।

विशिष्ट-पदानि— यत्=यदा। सचा=सहायभूतः। अत्कम्=रूपम्। अत्रसन्=गच्छन्ति स्म (त्रसतिर्गतिकर्मा)। मत्=मत्तः। तरसन्ती (तरसन= मृगः)=मृगी। भुज्युः=भोगसाधनभूता। रथ-स्पृशः=रथे नियुक्ताः।

पुरूरवाः उर्वश्यादिभिः सह रतिकर्मविषयक-सम्बन्धं स्मरन् अन्यपुरुष-माध्यमेन कथयति— यदा यदा [रतिकर्मणि] सहायभूतः [अयं सः] मानुषः पुरूरवाः [स्वकीय-] रूपम् (वास्तविकम् अप्सरोरूपमित्याशयः) परित्यजन्तीषु आसु [मूलरूपेण] देवताभूतासु (उर्वश्यादिकासु) [रतिकर्मणे] अभिमुखं गच्छति स्म, तदा तदा ताः [सर्वा अप्सरसः] मत्तः [पुरूरवसः] अपसृत्य [त्वरितं] गच्छन्ति स्म। यथा [व्याघ्रस्य] भोज्यसाधनभूता मृगी व्याघ्राद् भीता पलायते, अथवा यथा रथे नियुक्ताः अश्वा धावन्ति।। ८।।

इस मन्त्र में पुरूरवा —उर्वशी आदि अप्सराओं के साथ रति-कर्म-विषयक सम्बन्ध को स्मरण करता हुआ —'अन्य पुरुष' के माध्यम से कहता है— जब जब यह पुरूरवा नामक मनुष्य उर्वशी आदि अप्सराओं की ओर, जो कि अपने वास्तविक रूप को छोड़कर मानवी रूप में थीं, [प्रारंभिक दिनों में] रतिकर्म के लिए आगे बढ़ता तो वे सभी मुझ [पुरूरवा] से छिटक कर [शीघ्र ही] दूर भाग जातीं— ऐसे, जैसे [व्याघ्र की] भोज्य-रूप मृगी [व्याघ्र से] डरी हुई भाग जाती है, अथवा जैसे रथ में जुड़े हुए अश्व भाग रहे होते हैं।। ८।।

Purūravas reminding his contact with the nymphs—including Urvaśī says, "Whenever this mortal Purūravas—becoming their companion—associated with these immortal [nymphs], who had abandoned their real bodies, they fled away from me like a hind: a food [for tiger, who does so timidly from the beast], or like the horses when harnessed to a chariot." (8)

यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते।
ता आतयो न तन्वः शुंभत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दंदशानाः।। ९।।

यत्। आसु। मर्तः। अमृतासु। निऽस्पृक्। सम्। क्षोणीभिः। क्रतुऽभिः। न। पृङ्क्ते। ताः। आतयः। न। तन्वः। शुंभत। स्वाः। अश्वासः। न। क्रीळयः। दंदशानाः।।

अन्वयः— यत् मर्तः आसु अमृतासु निस्पृक् क्षोणीभिः क्रतुभिः न संपृंक्ते, ताः आतयः स्वाः तन्वः न शुंभत। न क्रीळयः दंदशानाः अश्वासः।

विशिष्ट-पदानि— मर्तः=मर्त्यः। निस्पृक्=निश्शेषेण (स्नेहपूर्वकं) स्पृशन्। यत्-यदा। क्षोणीभिः=वाग्भिः, वचनैः। क्रतुभिः=कर्मभिः। न=च। आतयः=कारण्डवाः गृहपत्न्यो वा। शुंभत=प्रकाशयन्ति। क्रीळयः=क्रीळन्तः, चापल्येन धावन्तः इत्याशयः। न=इव, यथा। दन्दशानाः=चर्वयन्तः (आत्मीय-जिह्वाभिः सृक्काः भक्षयन्तः)। अश्वासः=अश्वाः।

पूर्वमन्त्रवत् अस्मिन् मन्त्रेऽपि पुरूरवा अप्सरोभिः सह रति-सम्बन्धं स्मरन् अन्यपुरुष-माध्यमेन कथयति— यदा यदा [असौ] मानुषः पुरूरवा आसु अपसरःसु निःशेषेण (स्नेहपूर्वकं) स्पृशन् [मधुरैः] आलापैः [रतिप्रेरक-] कर्मभिश्च सम्पर्कं करोति, ताः [सर्वाः उर्वश्यादिकाः अप्सरसः] कारण्डवाः गृहपत्न्यः वा इव स्वकीयानि शरीराणि न प्रकाशयन्ति स्म यथा चापल्येन धावन्तः अश्वाः चर्वन्तिः [स्वजिह्वाभिः सृक्काः] भक्षयन्त [इव] रथिकाय स्वरूपं (स्वमुखम् इत्याशयः) न दर्शयन्ति।।। ९।।

पिछले मन्त्र के समान इस मन्त्र में भी पुरूरवा अप्सराओं के साथ अपने रति-सम्बन्ध का वर्णन अन्य पुरुष के माध्यम से करता है— जब भी कभी इस मानुष [पुरूरवा] ने इन अप्सराओं को निःशेषभाव (स्नेहभाव) से स्पर्श करते हुए [मधुर] आलापों और [रति-प्रेरक] कृत्यों से सम्पर्क किया, उन सभी [उर्वशी आदि] अप्सराओं ने बतख़ों अथवा गृहपत्नियों के समान अपने-अपने शरीर को उसके सामने इस प्रकार प्रकट नहीं किया, अथवा उसे उनका शरीर इस प्रकार दिखायी न दिया, जिस प्रकार तेज़ी से भागते हुए तथा दाँतों से चबाते हुए (अपनी लगामों को अपनी जिह्वाओं से मानो खाते हुए) से घोड़ों का मुख रथिक को दिखायी नहीं देता।। ९।।

Purūravas speaks on the same theme as in the previous verse: When [this] mortal, that, Purūravas mixes with these immortal nymphs by touching them softly and conversing with them with words and actions, they would not show their bodies to him, like the swans or the house-wives, and also like the fast-running horses— champing [their bridles with their tongues—who do not show their bodies (faces) to their individual charioteers]. (9)

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः।।१०।।

विऽद्युत्। न। या । पतंती। दविद्योत्। भरंती। मे। अप्या। काम्यानि।
जनिष्टो इति। अपः। नर्यः। सुऽजातः। प्र। उर्वशी। तिरत। दीर्घं। आयुः।। १०।।

अन्वयः— या उर्वशी विद्युत् न पतन्ती दविद्योत्, मे अप्या काम्यानि भरन्ती। अपः नर्यः सुजातः जनिष्ठः सा मम आयुः दीर्घं प्रतिरत।

विशिष्ट-पदानि— न इव। पतन्ती=गच्छन्ती। अप्या=अप इति अन्तरिक्ष-नाम, तत्सम्बन्धीनि व्याप्तानि इत्यर्थः। अपः=व्याप्तः कर्मसु इति शेषः। नर्यः=नरेभ्यो हितः। जनिष्ठः=उत्पन्नो भवति। प्रतिरत=प्रवर्धयति।

पुरूरवा उर्वशी-विषये कथयति— या उर्वशी विद्युद् इव गच्छन्ती दीव्यन्ती इत्याशयः [मम गृहे] द्योतते स्म, सा मे व्याप्तानि अभिमतानि [फलानि] सम्पादयन्ती अवर्तत। [यदा यस्याः सकाशाद्, कर्मसु] व्याप्तः सक्षम इत्यभिप्रायः नरेभ्यश्च हितकारी सुपुत्र उत्पद्यते [तदानीं] सा मम आयुः दीर्घं प्रवर्धयति। ['प्रजामनु प्रजायसे तदु मे मर्त्यामृतम्' इति (तै० ब्रा० १.५.५.६) वचनात् सन्तानोत्पति-शृंखलया मानवः अमृतं (दीर्घमायुष्यं, दीर्घकुलपरम्परां वा) प्राप्नोति]।। १०।।

पुरूरवा उर्वशी के सम्बन्ध में कहता है–जो उर्वशी [मेरे घर में] बिजली के समान चमकती-दमकती डोलती फिरती थी, वह मेरे लिए अनेक अभीष्ट [फलों] को सम्पादित करती रहती थी। जब उससे व्याप्त (अनेक कर्म करने वाला) तथा मानवों के लिए हितकारी पुत्र का जन्म हुआ तो मेरी आयु [मानो] बढ़ गयी, [क्योंकि सन्तानोत्पत्ति की शृंखला से ही तो वंश-परम्परा बढ़ती है और यही मानो पिता की आयुष्य-वृद्धि है]।। १०।।

Purūravas now says about Urvaśī herself: Urvaśī shone [in my house] like flashing lightning, bringing me extended and desirable [objects]. When a son—able to act

and friendly to men—has been born, she has prolonged my age. (10)

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः
किमभुग्वदासि।।११।।

जज्ञिषे। इत्था। गोऽपीथ्याय। हि। दधाथ। तत्। पुरूरवः। मे। ओजः। अशासं। त्वा। विदुषी। सस्मिन्। अहन्। न। मे। आ। अशृणोः। किम्। अभुक्। वदासि।।

अन्वयः— पुरूरवः! इत्था गो-पीथ्याय जज्ञिषे। मे ओजः दधाथ। त्वा विदुषी अशासम् सस्मिन्नहन्। मे आशृणोः। अभुक्। किम् वदासि।

विशिष्ट-पदानि— इत्था=इत्थम्। गो-पीथ्याय=भू-पालनाय। जज्ञिषे=जातोऽसि। सस्मिन्नहन्=सर्वस्मिन् अहनि। अभुक्=अभोक्ता। वदासि=वदसि।

उर्वशी पुरूरवसं प्रति कथयति— हे पुरूरवः! इत्थं त्वं भू-रक्षणाय, जातोऽसि [मत्सकाशात् पुत्रं प्राप्येति शेषः। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुति-वचनात् त्वमधुना स्वपुत्र-माध्यमात् खलु भू-रक्षको बभूविथ]। त्वं मे ओजः दधाथ— त्वं ममोदरे स्वापत्यं धारितवान् इत्यभिप्रायः। [अधुना] त्वाम् अहं विदुषी (भावि-कर्तव्याऽकर्तव्यं विजानती) शिक्षितवत्यस्मि [यत् त्वया] सर्वेषु भावि-दिवसेषु [किं कर्तव्यम्। किन्तु] त्वं मां (मत्परामर्शं) न श्रृणोषि। [मां प्रति प्रणयातिरेकात् त्वमधुना] अभोक्ता जातः— प्रजानां पालन-धर्मे विरतोऽभव इत्यभिप्रायः [''हये जाय...'' (१०.९५.१) इत्यादि-पूर्वोक्तं] व्यर्थप्रलापं किमर्थं करोषि।।११।।

उर्वशी पुरूरवा के प्रति कहती है—हे पुरूरवा! इस प्रकार तुम मेरे द्वारा पुत्र-प्राप्ति से भू-रक्षण के लिए समर्थ हो गए हो। तू ने मुझे ओज दिया (मेरे गर्भ में अपने पुत्र की स्थापना की)। [अगले] दिनों में [तुम्हारा क्या कर्तव्य है यह मैं] जानती हूँ और तुम्हें [उसे करने का] परामर्श देती

हूँ, पर तुम मेरी एक नहीं सुनते। तुम [मेरे प्रति प्रणयातिरेक के कारण अब प्रज़ा के भोक्ता (पालन-समर्थ) नहीं रहे— प्रजा-पालन-धर्म से विरत हो गये हो, और यह क्या ["हये जाय..." (१०.९५.१) इत्यादि पूर्वोक्त] व्यर्थ प्रलाप करते हो।।११।।

Urvaśī says,—O Purūravas! you have been born to protect the earth [by virtue of getting a son born of me.] You have deposited this vigour in me [in the form of a son in my womb]. Knowing—what to do and what not—I instructed you every day. [But] you did not listen to me. You [in fact, owing to much infatuation for me,] are no more capable of enjoying [the pleasure of governing your subject], and simply utter *"haye jāye...."* (95.1), etc., in vain. (11)

कुदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रुं वर्तयद्विजानन्।
को दंपती समनसा वि यूयोदध यदुग्निः श्वशुरेषु दीदयत्।।१२।।

कुदा। सूनुः। पितरं। जातः। इच्छात्। चक्रन्। न। अश्रुं। वर्तयत्। विऽजानन्। कः। दंपती इति दंऽपती। सऽमनसा। वि। यूयोत्। अध। यत्। अग्निः। श्वशुरेषु। दीदयत्।।

अन्वय— कदा जातः पितरम् इच्छात्। कदा विजानन् चक्रन् अश्रु वर्तयत्। कः समनसा दम्पती वियूयोत्। अध यद् अग्निः श्वशुरेषु दीदयत्।।१२।।

विंशिष्ट-पदानि— चक्रन्=क्रन्दमानः। वर्तयति (वर्तयिष्यति)। समनसा (समनस्कौ)। वियूयोत्=विश्लेषयेत्। अध=सम्प्रति। श्वशुरेषु=गर्भे इत्यपि आशयः। दीदयत्=दीप्यते।

पुरूरवा वदति— [तवोदरस्थः] पुत्रः कदा उत्पन्नः सन् [माम्] पितरम् (पितृरूपेण इत्याशयः) अभिलषति? [कदा वा पुत्रः मां पितृ-रूपेण] विजानन् क्रन्दमानः अश्रु [-पूर्णनेत्रः मम क्रोडे] वर्तयिष्यति। [त्वं मां त्यक्त्वा दूरं गच्छन्ती असि, परम् अस्यां स्थित्यां] कः [पुत्रो वर्ततेऽस्मिन् लोके यः आवामिव] समनस्कौ (सुहृदौ) दम्पती विश्लेषयेत्— आवयोः विश्लेष-कारणं भवेत् इत्यभिप्रायः। सम्प्रति [तु यः] अग्निः (तेजोरूप-भ्रूणः) वर्तते [सोऽपि

तव] श्वशुर-गृहे — मम मातृ-पितृगृहे, यद्वा तव गर्भे इत्यपि अभिप्रेतः — देदीप्यते [एतत्कालपर्यन्तं नासौ अग्निः पुत्ररूपेण जातः। त्वं चापि मां त्यक्त्वा मद्दूरमेव गतासि। अहं तु वञ्चितोऽस्मि सर्वथा]।। १२।।

पुरूरवा कहता है—[तुम्हारा उदरस्थ] पुत्र कब उत्पन्न होकर पिता की, अर्थात् पितृ-रूप में, [मेरी] इच्छा करेगा। [मेरा पुत्र] कब मुझे [पितृ-रूप में] जानता हुआ रोता हुआ, अश्रु [-पूर्ण नेत्रों के साथ मेरी गोद में] आकर बैठेगा। [तुम मुझे छोड़कर चली जा रही हो, पर इस लोक में ऐसा] कौन [पुत्र] होगा जो हम जैसे समनस्क (हमजोली) दम्पती को पृथक्-पृथक् [रहने को विवश] कर दे। अब जो यह अग्नि (तेजोरूप भ्रूण) है, वह तेरे श्वशुर-गृह में, अर्थात् मेरे माता-पिता के घर में, अथवा तेरे गर्भ में दीप्त हो रहा है। [पुत्रोत्पत्ति तो अभी तक हुई नहीं और तुम भी मुझे छोड़े दूर चली जा रही हो, मैं तो हर रूप में वंचित हो गया हूँ]।। १२।।

Purūravas speaks, —[O Urvaśī!] when shall a son [born of you] claim me as a father, and crying shed a tear on recognising [me and] stay in my lap. While you are leaving me what son on earth shall be the cause of separation of wife and husband—who are of one mind like both of us, specially when the fire [in the form of an embro] is shining in the [house of your] in-laws, that is, my parents; or in your womb. (12)

प्रति॑ ब्रवाणि व॒र्तय॑ते॒ अश्रु॑ च॒क्रन्न क्रन्द॑दा॒ध्ये॑ शि॒वायै॑।

प्र तत्ते॑ हिनवा॒ यत्ते॑ अ॒स्मे परे॒ह्यस्तं॑ न॒हि मू॑र॒ माप॑:।। १३।।

प्रति॑। ब्र॒वा॒णि॒। व॒र्तय॑ते। अश्रु॑। च॒क्रन्। न। क्रं॒द॑त्। आ॒ऽध्ये॑। शि॒वायै॑।

प्र।तत्।ते॒।हि॒न॒व॒।यत्।ते॒।अ॒स्मेइति॑।परा॑।इ॒हि॒।अस्त॑म्।न॒हि।मू॒र॒।मा॒।आप॑:।।

अन्वय— प्रति ब्रवाणि। अश्रु चक्रन्, शिवायै आध्ये न क्रन्दत्। यत् ते अस्मे तत् ते प्रहिनव। अस्तं परेहि। मूर! न हि मा आपः।

विशिष्ट-पदानि— शिवायै=शिवे (कल्याणे)। आध्ये=समुपस्थिते सति। प्रहिनव:=प्रहिणोमि, दास्यामि। अस्मे=मयि (मम गर्भे)। अस्तं=गृहम्। मूर=मूढ, मुग्ध।

उर्वश्या उत्तरम्— [अहं त्वां] प्रति वदामि, [पुत्रो जातः सन्] अश्रुपूर्णनेत्रः रुदन् [तव क्रोडे वर्तिष्यत्येव, किन्तु तव सम्पर्के] कल्याणे समुपस्थिते सति (सुखी भूत्वा) नासौ क्रन्दिष्यति। यः तव [पुरूरवसोऽपत्यं भ्रूण-रूपेण] मयि (मम गर्भे अस्ति) तं तुभ्यमेव दास्यामि। [अधुना] स्वगृहं गच्छ। मुग्ध [पुरुष! अधुना तु] न मां प्राप्तुं समर्थोऽसि।। १३।।

उर्वशी का उत्तर—मैं तुझे कहती हूं कि [पुत्र उत्पन्न होकर], अश्रुपूर्ण नेत्रों से रोता हुआ [तेरी गोद में] आ बैठेगा, और [तेरे सम्पर्क में आने पर] उसे सुख मिलेगा और वह क्रन्दन नहीं करेगा। जो [अपत्य भ्रूण-रूप में] मेरे [गर्भ] में है उसे मैं तुझे दूँगी। [अब] अपने घर चले जाओ। मुग्ध [पुरुष! अब तुम] मुझे पाने में समर्थ नहीं हो।। १३।।

Urvaśī says, —Let me reply. Your son shedding tears shall be, in course of time, in your lap, And when in your contact he receives your auspicious cares he shall stop crying. I will send that [child] to you, which is yours in me (my womb). Now depart to your house, O simpleton! you cannot attain me. (13)

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः।।१४।।

सुऽदेवः। अद्य। प्रऽपतेत्। अनावृत्। पराऽवतं। परमां। गंतवै। ऊं इति।
अध। शयीत। निःऽऋतेः। उपऽस्थे। अध। एनम्। वृकाः। रभसासः। अद्युः।।

अन्वय— सुदेवः अद्य प्रपतेत्। उ अनावृत् परमां परावतं गन्तवा। अध निर्ऋतेः उपस्थे शयीत। अधा एनं रभसासो वृकाः अद्युः।।

विशिष्ट-पदानि— सुदेवः (दिव्-क्रीडायाम्, ज्वलने वा)=सुक्रीडः, दीप्यमानो वा। प्रपतेत्=धावेत्, पतेत्। परावतं-दूरां दिशम्, दूरदेशं वा।

अधा=अध, अथवा। निर्ऋतेः पृथिव्याः[१] उपस्थे-तले। अधा=अथवा। रभसासः=वेगवन्तः। अद्युः=भक्षयन्तु।

अत्यन्तं परिदूनः खिन्नश्च पुरूरवा वदति— सुदेवः (त्वया सह सुक्रीडः, रत्युत्सव-मुदितः इत्याशयः, सर्वतो दीप्यमानो वा) [तव पतिः] अद्य धावेत् यद्वा [नरके] पतेत्। अथवा अनावृतः (नग्नः, बहुविध-वैभव-जन्य-शोभा-विरहितः इत्याशयः) सन् काञ्चित् सुदूरं दिशं, दूरादपि दूरदेशं वा गन्तुं महाप्रस्थानं कुर्यात्। अथवा (यत्र-कुत्रापि) पृथिव्याः तले शयनं कुर्यात्, [तत्र च शयानम् एनं] वेगवन्तः (भयानकाः इत्यभिप्रायः) वृकाः [आगत्य] भक्षयन्तु।। १४ ।।

अत्यन्त दुःखी और खिन्नचित्त पुरूरवा कहता है—तुम्हारा पति [अर्थात् मैं], जिसने [तेरे साथ रत्युत्सवों में] आमोद प्राप्त किया है तथा जो हर रूप में दीप्यमान है, आज [नरक में] गिर जाए, अथवा अनावृत्त नग्न अर्थात् बहुविध-वैभव-जन्य-शोभा से रहित होकर किसी सुदूर दिशा की ओर प्रस्थान कर जाए। अथवा [जहां-कहीं भी] पृथ्वी-तल पर सो जाए और [सोते हुए उसे] वेगवान् (भयानक) भेड़िये आकर खा जाएं।।१४।।

Purūravas, in a fit of dejection, speaks, "Your husband who sported with you the love-plays, may flee forth or fall into the hell this day. Being naked, *i.e.*, devoid of all sorts of comforts, he may proceed to farthest distance. Either he may sleep in the lap of the *Nirṛti*[2] (the earth), *i.e.*, may die, or the swift moving (dreadful) wolves may devour him. (14)

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।।१५।।

पुरूरवः। मा। मृथाः। मा। प्र। पप्तः। मा।
त्वा। वृकासः। अशिवासः। ऊं इति। क्षन्।
न। वै। स्त्रैणानि। सख्यानि। संति।
सालावृकाणां। हृदयानि। एता।।

---

१. निर्ऋति=पृथ्वी, पापदेवता (सायण)।
2. *Nirṛti*=the earth; also means the goddess of ill.

अन्वयः— पुरूरवः। मा मृथाः। मा प्रपप्तः। मा त्वा अशिवासः वृकासः उ क्षन्। वै स्त्रैणानि सख्यानि न सन्ति। एता सालावृकाणाम् हृदयानि।

विशिष्ट-पदानि — मृथाः=मरणम् आप्नुहि। प्रपप्तः=धाव, प्रविश। उ = एव। क्षन् (अक्षन्) = खादन्तु, अभ्यवहरन्तु। सालावृकाणाम् (शालावृकः='लकड़बग्घा' इति हिन्दी-भाषायाम्) = वृकजातिपशूनाम्। एता = एतानि।

क्षुब्ध-पुरूरवसः उपर्युक्त-खिन्न-वचनात् नितराम् अप्रभाविता उर्वशी तं कथयति— हे पुरूरवः! मा मृत्युं प्राप्नुहि। मा च धाव [इतः], यद्वा मा [नरके] प्रविश। मा च त्वाम् अशुभाः (भयंकराः) वृका एव भक्षयन्तु। नारी-विषयक- मैत्र्यः न [कदापि चिरस्थायिन्यः] भवन्ति— नार्यो न [कदापि चिरकाल-पर्यन्तं कस्यचित्] मित्राणि भवितुम् अर्हन्ति इत्यभिप्रायः, [यतः] एतासां हृदयानि तु 'शाला-वृक' ('लकड़बग्घा' इति हिन्दी-भाषायाम्) इत्याख्य-भयंकर-जन्तूनां हृदयानि इव क्रूराणि कठोराणि च सन्ति।। १५।।

क्षुब्ध पुरूरवा के उपर्युक्त खिन्न वचन से नितान्त अप्रभावित उर्वशी उसे कहती है–हे पुरूरवा! मृत्यु को मत प्राप्त करो, न [यहाँ से]. भागो अथवा न [नरक में] गिरो और न ही तुझे भयंकर भेड़िये ही खाएं। नारियां कभी किसी की मित्र नहीं होतीं, [क्योंकि] इनके हृदय तो लकड़बग्घे [जैसे भयंकर जन्तुओं] के हृदय के समान [क्रूर और कठोर] होते हैं।। १५।।

Urvaśī, quite untouched by the pathetic feelings of Purūravas expressed in the previous verse, says, "Die not Purūravas, flee forth not to any farthest distance or fall not into the hell. Let not evil-omened, *i.e.,* hideous wolves devour you. Female friendships do not exist, *i.e.,* with women there can be no ever-lasting friendship, their hearts are as cruel and merciless as those of hyenas. (15)

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि।।१६।।

यत्। विऽरूपा। अचरं। मर्त्येषु। अवसं। रात्रीः। शरदः। चतस्रः।
घृतस्य। स्तोकं। सकृत्। अह्नः। आश्नां। तात्। एव। इदम्। ततृपाणा। चरामि।।

अन्वय— विरूपा मर्त्येषु अचरम्। चतस्रः शरदः रात्रीः अवसम्। अह्नः सकृद् घृतस्य स्तोकम् आश्नाम् ताद् एव इदं तातृपाणा चरामि।

विशिष्ट-पदानि— विरूपा=विगत-सहज-रूपा। शरदः=वर्षाणि। अह्नः=अहनि, एकस्मिन् दिवसे। आश्नाम्=अभक्षयम्। तादेव=तेनैव। इदम्=सम्प्रति। तातृपाणा=तृप्ता सती।

उर्वशी कथयति— विरूपा (मनुष्य-सम्पर्काद् विगत-सहज-देव-रूपा) अहं मनुष्येषु अचरम्। [अस्मिन् मर्त्यलोकेऽहं] चतुर्वर्ष-पर्यन्तम् अवसम्। प्रतिदिनं च एकवारम् एव स्तोकमात्रं घृतम् अभक्षयम् [न स्वर्ग-तुल्यान् भोज्य-पदार्थान् उपभोक्तुम् अहम् अशक्नवम् अत्र इत्याशयः।] तेनैव (अस्य लोकस्य सामान्य-पदार्थेन एव) सन्तुष्टा सती सम्प्रति अहं [इहलोकात् स्वलोकं] गच्छामि।।१६।।

मैं विरूप (अर्थात् मनुष्यों के सम्पर्क में आने के कारण अपने सहज देव-रूप से रहित) होकर मनुष्यों में विचरण करती रही। [इस मर्त्यलोक में मैं] चार बरस तक रही। प्रतिदिन केवल एक बार थोड़ा-सा घी खाती रही, अर्थात् मुझे स्वर्ग-तुल्य ऐश्वर्य की साधन-सामग्री यहां उपलब्ध न हो सकी, फिर भी उसी से सन्तुष्ट होती रही, किन्तु अब मैं [इस लोक से स्वर्गलोक को] जाती हूँ।। १६।।

Urvaśī says, "While changed in form [from nymph to a mortal being] I wandered amongst mortals. I dwelt with them for four autumns (years). I ate once a day a small quantity of *ghee* (butter-oil), *i.e.*, could not enjoy the celestial food upon the earth. Satisfied with all that, I now depart to the heaven.
(16)

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे।।१७।।

अंतरिक्षऽप्रां। रजसः। विऽमानीं। उप। शिक्षामि। उर्वशीं। वसिष्ठः।
उप। त्वा। रातिः। सुऽकृतस्य। तिष्ठात्। नि। वर्तस्व। हृदयं। तप्यते। मे।।

अन्वय— वसिष्ठः सुकृतस्य रातिः अन्तरिक्ष-प्रां, रजसो विमानीम् उर्वशीम् उपशिक्षामि, उप त्वा तिष्ठात, मे हृदयं तप्यते, निवर्तस्व।

विशिष्ट-पदानि— वसिष्ठः=समानानां (मर्त्यानां) मध्येऽतिशयेन वासयिता, मर्त्येषु श्रेष्ठ इत्यर्थः। रातिः=दाता। अन्तरिक्ष-प्रां=अन्तरिक्षस्य पूरयित्रीं स्वतेजसा इति शेषः। रजसः=रंजकस्य (उदकस्य)। विमानीम्=निर्मात्रीम्। निवर्तस्व-प्रत्यागच्छ।

पुरूरवा वदति— वसिष्ठः (मर्त्येषु श्रेष्ठः) [स्वस्य] शोभनकर्मणश्च [फलानां प्रजायै] दाता, यद्वा [उर्वश्यै] शोभन-कर्म-रूप-प्रणयातिरेकस्य प्रदाता [अहं पुरूरवाः] तां [स्व-तेजसा] अन्तरिक्षं पूरयन्तीम् (गर्भवतीम् इत्याशयः), उदकस्य च निर्मात्रीम् उपशिक्षामि परामर्शं ददामि इति यावत्, यत् त्वम् मम पार्श्वे तिष्ठ, मे हृदयं तप्यते— दग्धम् अस्ति। [त्वम् अधुना गृहं] प्रत्यागच्छ।। १७।।

पुरूरवा कहता है— मैं वसिष्ठ (मनुष्यों में श्रेष्ठ) तथा [अपने] शोभन कर्मों [के फलों] को [प्रजाओं के लिए] देने वाला, अथवा [उर्वशी के लिए] शोभन-कर्म-रूप प्रणयातिरेक का प्रदाता [पुरूरवा] तुझ उर्वशी को— जिसने [अपने तेज से] अन्तरिक्ष को भर रखा है, अर्थात् जो गर्भवती है, तथा जो उदक की निर्मात्री है (मुझे ठण्डक देनेवाली है)— यह परामर्श देता हूँ, कि तुम मेरे पास रहो, मेरा हृदय दग्ध हो रहा है। [अब तुम] घर लौट चलो।। १७।।

Purūravas speaks, "I—Vaśiṣṭha (a superior one among the mortals), and also the bestower of the fruits of my noble deeds to my people, or the bestower of noble deed [like, love for my beloved]—advise you, rather beseech you, Urvaśī, to stay with me; come back to my house—my heart is burning. (17)

इति॑ त्वा दे॒वा इ॒म आ॑हुरैळ॒ यथे॑मे॒तद्भव॑सि मृ॒त्युब॑न्धुः।
प्रजा ते॑ दे॒वान्ह॒विषा॑ यजाति स्व॒र्ग उ॒ त्वमपि॑ मादयासे।।१८।।

इति॑। त्वा॒। दे॒वाः इ॒मे। आ॒हु॒ः। ऐ॒ळ॒। यथा॑। ई॒म्। ए॒तत्। भव॑सि। मृ॒त्युऽब॑न्धुः।
प्र॒ऽजा। ते॒। दे॒वान्। ह॒विषा॑। य॒जा॒ति॒। स्व॒ःऽर्गे। ऊ॒ं इति॑। त्वं। अपि॑। मा॒द॒या॒से॒।।

अन्वय—इमे देवाः त्वा इति आहुः ऐळ! यथेम् एतद् मृत्युबन्धुः भवसि ते प्रजा देवान् हविषा यजाति। त्वमपि स्वर्ग उ मादयासे।

विशिष्ट-पदानि— ऐळ=(इळा=मनु-पुत्री, तस्याः पुत्रः= ऐळः, सम्बोधने) इळा-पुत्र! यद्वा (इळा=भूः, तत्सम्बन्धी, ऐळः, सम्बोधने=) भू-स्वामिन्! मृत्युबन्धुः=मरणधर्मा। यथेम्=यथा ईम्=यद्वत्। उ-एव।

उर्वशी प्रस्थानात् पूर्वं पुरूरवसं सान्त्वयन्ती कथयति— इमे देवाः त्वाम् एतत् कथयन्ति, हे ऐळ! (इळा-पुत्र! यद्वा भू-स्वामिन्!) यतः त्वं मृत्यु-बन्धुः (मरणधर्मा[1])ऽसि, यथाकालं म्रियसे इति भावः, अतः तव प्रजा (पुत्राः इत्यभिप्रायः) [तव मृत्योरनन्तरं यष्टव्यान्] देवान् हविषा यक्ष्यन्ति। त्वमपि च स्वर्गे एव [मया सह] बहुविधामोदान् प्राप्स्यसि।। १८।।

उर्वशी प्रस्थान करने से पूर्व पुरूरवा को सान्त्वना देती हुई कहती है— ये देवगण तुम्हें यह कहते हैं, हे ऐळ! (इडा-पुत्र! अथवा भू-स्वामिन्!) क्योंकि तुम मृत्यु-बन्धु[2] (मरणधर्मा) हो, अर्थात् यथासमय तुम्हारी मृत्यु होनी है, अतः तुम्हारी प्रजा अर्थात् तुम्हारे पुत्र [तुम्हारी मृत्यु के अनन्तर यष्टव्य] देवों के लिए हवि देते हुए यज्ञ करेंगे, और तुम भी [मरणोपरि मेरे साथ] स्वर्ग में नानाविध आमोदों को प्राप्त करोगे।। १८।।

Urvaśī expresses her good wishes for Purūravas before her departure to heaven, "These gods speak to you—O Aiḷa

---

१. मृत्यु-बन्धुः='मृत्योर्बन्धकः मृत्योर्वशीकारको वा' इत्यर्थोऽभिप्रेतः सायणस्य।
२. 'मृत्यु-बन्धु' से सायणाचार्य को यह अर्थ अभीष्ट है—'मृत्यु का बन्धक' अथवा 'मृत्यु का वशीकारक'।

(Son of Iḷā or the master of the earth)[1]! since you are indeed subject to death, that is, one day you have to die, your progany (sons), therefore, shall serve the gods with their oblation. And, moreover, you shall rejoice with me in heaven. (18)

विवृति

१. ऋग्वेद में वर्णित इस आख्यान का सार—

पुरूरवा की पत्नी उर्वशी, जोकि एक अप्सरा थी, उसे छोड़कर चली जा रही है। इससे दुःखी पुरूरवा उसे कहता है कि ''मत जाओ। आओ, भविष्य के बारे में बातें करें। अब मैं तुम्हारे विरह के कारण पूर्ववत् न तो शत्रुओं से युद्ध कर सकता हूँ और न राजधर्म का पालन कर सकता हूँ। तुमने हर प्रकार से मेरी पूर्ण सेवा की, रति-सुख दिया।'' उर्वशी भी उसे बताती है कि पुरूरवा ने भी इसे भरपूर रति-सुख दिया। जिस घर में उसे यह सुख मिला था, वहां उसकी कोई सौत नहीं थी।

इस पर पुरूरवा उसे याद दिलाता है कि जब उसने, [स्वर्गलोक से] उर्वशी के साथ आयी उसकी चार सखियों को, कभी अनायास छू भी लिया था तो वे तुरन्त इससे मानो अदृश्य हो गयी थीं। और उसने उसे अपना यह कथन भी याद दिलाया कि जब उर्वशी से उसका पुत्र उत्पन्न होगा तो इससे तो उसकी (पुरूरवा की) आयु ही बढ़ जाएगी।

पर उर्वशी ने अपनी स्तुति सुनकर भी अपना इरादा नहीं छोड़ा। बोली, ''तुम मेरे प्रति आसक्ति के कारण अपनी प्रजा का कार्य भुला बैठे थे। मैंने तुम्हें कितनी बार समझाया था कि प्रजा-कार्य में संलग्न रहो, और अब तो मेरे गर्भ में तुम्हारा बेटा भी है, जो उत्पन्न होकर राजकार्य संभालेगा।''

पुरूरवा बोला, ''समय आएगा जब मेरा पुत्र मुझे अपना पिता जानकर, आँसू बहाते हुए, मेरी गोदी में आ बैठेगा। पर तुम तो चली जा

---

1. Aiḷa—son of Iḷā—the daughter of Manu, or Iḷā means earth. Aiḷa thus also means pertaining to the earth, *i.e.*, the master of the earth.

रही हो।'' उर्वशी बोली, ''हाँ, हाँ, ऐसा समय अवश्य आएगा कि तुम्हारा बेटा रोता-रोता तुम्हारी गोद में आ बैठे, और जब उसे तुम्हारा लाड-प्यार मिलेगा तब वह रोना बन्द कर देगा। उसके पैदा होते ही मैं उसे तुम्हारे पास भेज दूँगी। बस, अब मैं तुम्हारे यहाँ से चलूँ।''

यह सुनते ही पुरूरवा चीख़ उठा—''मैं पति-रूप में तुम्हारे साथ रमण करता रहा, पर अब तुम जा रही हो तो क्या यह मानव अर्थात् पुरूरवा नरक में गिर जाए। इसका सब-कुछ लुट-जाए और यह नग्न अवस्था में ही दूर-दूर तक जंगलों में भटकता और ख़ाक छानता फिरे, पृथ्वी इसे अपनी गोदी में समा ले, इसे भेड़िये हड़प कर जाएं?''

पर उर्वशी टस-से-मस न हुई। बोली, ''मेरे चले जाने पर ऐसा कुछ नहीं होगा। सच पूछो तो नारी के साथ मैत्री निभती नहीं है। उसका हृदय तो लकड़बग्घे के समान कठोर होता है। मैं तुम्हारे साथ चार बरस तक रही। प्रतिदिन केवल एक बार थोड़ा-थोड़ा घी खाती रही, (अर्थात् स्वर्ग जैसी ऐश्वर्य-साधन-सामग्री तो मुझे उपलब्ध नहीं रही), पर फिर भी सन्तुष्ट रही। पर अब तो मैं स्वर्गलोक जाती हूँ।''

पुरूरवा बोला, ''मेरे प्रणय-व्यवहार को स्मरण करो और अब तो तुम गर्भवती हो। बेहतरी इसी में है कि घर लौट चलो।'' उर्वशी बोली, ''तुम मरणधर्मा हो, तुम्हारी मृत्यु के अनन्तर तुम्हारे पुत्र देवों के लिए हवि देते रहेंगे और तुम स्वर्ग में आकर नानाविध आमोद-प्रमोद प्राप्त करोगे,'' यह कहकर वह प्रस्थान कर गयी।

[इसके अनन्तर इन दोनों का मिलन हुआ अथवा नहीं, इस विषय पर इस सूक्त से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। शतपथ ब्राह्मण से (आगे देखिए) अवश्य ज्ञात होता है कि उनका पुनर्मिलन हुआ और इनका 'सहित' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ]

२. ऋग्वेद में प्रस्तुत पुरूरवा और उर्वशी की कथा **काठक ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण, बौधायन श्रौतसूत्र, सर्वानुक्रमणी (कात्यायन), बृहद्देवता (शौनक), वाल्मीकि-रामायण (उत्तरकांड ७.५५,५६); महाभारत (आदिपर्व ७५.१५-२५); हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण,**

पद्मपुराण, देवीभागवत पुराण, वायुपुराण, स्कन्दपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भागवतपुराण (एकादश स्कन्ध) आदि के अतिरिक्त कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशीय तथा कथासरित्सागर (सन् १०६३-१०८१ के बीच) में मिलती है। इनमें से यहां कुछ स्थलों का हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे ऋग्वेदीय सूक्त के विकास का बोध होगा।

(१) सर्वप्रथम शतपथ-ब्राह्मण (११.५.१) से इस सम्बन्ध में प्रस्तुत १७ स्थलों में से आरम्भिक ६ स्थलों का अनुवाद लीजिए—

उर्वशी नामक अप्सरा ऐळ अर्थात् इडा[१] के पुत्र पुरूरवा से प्रेम करती थी। पुरूरवा भी इससे प्रेम करता था और उसने जब उर्वशी से विवाह करने की इच्छा प्रकट की तो विवाह से पूर्व इसने तीन शर्ते रखीं—

(१) आप मेरे साथ दिन में तीन बार रति-क्रिया करेंगे।

(२) जब मुझ में रतिक्रिया की इच्छा नहीं होगी तो आप मेरे साथ यह क्रिया नहीं करेंगे।

(३) आप मुझे अपना नग्न रूप नहीं दिखाएंगे। यह हम नारियों के साथ सद्व्यवहार करने का आचार है। (१)

वह इनके साथ पर्याप्त समय तक रही—इतने समय तक कि वह गर्भवती हो गयी। [उधर स्वर्गलोक में उर्वशी के विरह में व्याकुल] गन्धर्व एक-दूसरे से कहने लगे कि उर्वशी को [मनुष्यलोक में] रहते बहुत समय बीत गया। अब ऐसा उपाय किया जाए कि वह यहां वापस आ जाए। [पुरूरवा के घर में] उर्वशी की खाट के साथ एक भेड़ अपने दो बच्चों के साथ बँधी रहती थी। गन्धर्व उनमें से एक उठाकर ले गये। (२)

उर्वशी [चीख़ पड़ी,] बोली, वे मेरे पुत्र को ले गये, मानो कि मैं वहां हूं जहां कोई वीर नहीं है, कोई मानव तक नहीं है।" तभी दूसरा

---

१. इडा वैवस्वत मनु की पुत्री थी। इडा के पति का नाम बुध था जो कि चन्द्रमा का पुत्र था। बुध और इडा का पुत्र पुरूरवा था। पुरूरवा चन्द्रवंशी राजकुल के प्रवर्तक कहे जाते हैं। पुरूरवा को पुरु, दुष्यन्त, भरत, कुरु, धृतराष्ट्र और पाण्डु का पूर्वज माना जाता है। (महाभारत, आदि० ७५.१६, १८-१९, २४-२५; अनुशासन० १४७.२६,२७)

बच्चा भी वे उठाकर ले गए, और वह यही शब्द कहती और चीख़ती-चिल्लाती रह गयी। (३)

[पुरूरवा ने यह सुना तो] उसने मन में कहा कि "यह स्थान भला कैसे वीर-मनुष्य-शून्य और विजन हो सकता है?" और यह सोचते हुए कि वस्त्र पहनने से देर हो जाएगी, वह निर्वस्त्र ही, [जैसा कि सोया हुआ था] इनके पीछे तुरन्त भागा। उधर गन्धर्वों ने [उर्वशी को लुप्त करने के लिए] बिजली चमका दी और उर्वशी ने ज्यों ही उसे निर्वस्त्र अवस्था में देखा तो यह कहते हुए कि "मैं वापस जा रही हूँ" वह लुप्त हो गयी। शोकाभिभूत पुरूरवा कुरुक्षेत्र के सारे भूभाग में [उसे ढूँढते हुए] भटकता रह गया, तभी वह कमलों से शोभित 'अन्यतःप्लक्षा' नामक झील के तट पर पहुँचा और उसने देखा कि उर्वशी आदि अप्सराएं उसमें हंसी-पक्षियों के रूप में तैर रही हैं। (४)

और उधर उर्वशी ने उसे पहचान लिया और बोली, "[हे सखियो!] यही वह पुरुष है जिसके साथ मैं रही थी।" वे सब बोलीं, "तो चलो, हम उसके आगे प्रकट हो जाएं", और वे [अपने-अपने वास्तविक रूप में] उसके आगे प्रकट हो गयीं। (५)

पुरूरवा ने उर्वशी को पहचान लिया और बोला, "ओ मेरी निर्दयी पत्नी! ठहरो, आओ परस्पर आलाप करें। यदि हम आपस-की रहस्यमयी बातों को प्रकट नहीं करेंगे तो भविष्य में सुखी नहीं रहेंगे।" (६)

और इसके अनन्तर उर्वशी पुरूरवा की बहुविध प्रार्थनाओं के उत्तर में एक वर्ष बीत जाने के बाद एक बार फिर उसे मिलने को राज़ी हो जाती है। यथासमय इनका मिलन गन्धर्वों के माध्यम से हिरण्यनिर्मित भवन में होता है। उनके इस मिलन से 'सहित' नामक पुत्र की उत्पत्ति होती है।

साथ ही, शतपथ ब्राह्मण (३.४.१.२२) में ही उर्वशी से 'अधरारणि' (अधर+अरणि[१]=नीचे की लकड़ी) अभिप्राय लिया गया है, पुरूरवा से

---

१. अरणि=शमी की लकड़ी का टुकड़ा, जिसके घर्षण से यज्ञ के अवसर पर अग्नि जलायी जाती है।

उत्तरारणि (उत्तर+अरणि=ऊपर की लकड़ी), और आयु से अभिप्राय अग्नि लिया गया है, क्योंकि अग्नि दो अरणियों के घर्षण से उत्पन्न होती है।

(२) बृहद्देवता (७.१४७-१५३)

पुरातन काल में अप्सरा उर्वशी राजर्षि पुरूरवा के साथ उनकी पत्नी के रूप में रहा करती थी, [पर उसने उनके साथ] एक अनुबन्ध किया हुआ था (१४७)। पर पाकशासन[१] इन्द्र, उर्वशी के साथ पुरूरवा और ब्रह्मा के संवास (मैथुन कार्य) के प्रति ईर्ष्यालु था, तथा पुरूरवा की उर्वशी के प्रति आसक्ति को वह उतना ही तीव्र समझता था जैसी कि स्वयं उसकी आसक्ति उर्वशी के प्रति थी (१४८)। उसने पुरूरवा और उर्वशी को एक-दूसरे से जुदा करने के लिए पास रखे हुए अपने वज्र से कहा कि यदि तुम मेरी भलाई करना चाहते हो तो इन दोनों के प्रणय-व्यवहार को विनष्ट कर डालो (१४९)। "हाँ, ऐसा ही होगा", यह कहकर वज्र ने अपनी माया से इन दोनों का प्रणय-सम्बन्ध समाप्त कर दिया। इसके अनन्तर उर्वशी से वियुक्त राजा उन्मत्त व्यक्ति की भांति विचरण करने लगा (१५०)।

एक दिन उसने एक सरोवर में सुन्दरी उर्वशी को स्नान करते देखा, जिसे उसकी पाँच सुन्दर सखियां घेरे हुए थीं (१५१)। इसने उसे कहा कि मेरे पास वापस आ जाओ, पर उसने दुःखी मन से उत्तर दिया, आप मुझे आज यहां प्राप्त नहीं कर सकते, स्वर्ग में आकर मुझे पुनः प्राप्त करेंगे (१५२)। आह्वान (बुलाने) से सम्बन्धित इस आख्यान (एक-दूसरे के प्रति विवरण) को यास्क 'संवाद' मानते हैं, पर शौनक इसे इतिहास (बीती कथा) मानते हैं (१५३)।

(३) विष्णुधर्मोत्तरपुराण

बदरी आश्रम में तपस्या-लीन नर और नारायण नामक ऋषियों को प्रलोभित करने स्वर्ग से दस अप्सराएं आ पहुँचीं। इन सुन्दरियों का गर्व

---

१. पाक नामक असुर का वधकर्ता।

चूर्ण करने के लिए नारायण ने अपनी ऊरू (जाँघों) से एक कन्या का निर्माण किया। इस कारण इसका नाम 'उर्वशी' पड़ गया। इस अनुपम सुन्दरी को देख दसों अप्सराएं लज्जित हो स्वर्गलोक को वापस चली गयीं। इन्द्र ने यह समाचार सुना तो वह इसे देखने बदरी आश्रम आ पहुँचा। नारायण की अनुमति से इन्द्र इसे स्वर्गलोक ले आए और वह तुम्बुरु नामक गन्धर्व से नृत्यविद्या की शिक्षा ग्रहण करने लगी। एक बार इन्द्र के आगे नृत्य करते हुए इसने जानबूझकर तुम्बुरु के आदेश की अवहेलना कर दी। तभी तुम्बुरु के शाप से वह स्वर्गलोक छोड़कर भूलोक जाने को तैयार थी कि तभी एक रोचक घटना घटी। (अध्याय १२९)

यह वैवस्वत मनु का द्वापर-युग था। देवासुर-संग्राम के अवसर पर भूलोक से स्वर्गलोक में आए हुए एक नरेन्द्र को उर्वशी ने देखा तो वह उस पर मोहित हो गयी और उसी के चिन्तन में दिवारात्रि लीन रहने लगी—

न सा भुङ्क्ते, न स्वपिति श्रान्ता स्वपिति वा यदा।
तदा पश्यति तं स्वप्ने नीर-नीरज-लोचना।। (१३०.७)

इसने उस नरपुंगव का चित्र एक पट पर अंकित किया, और उसे निहारती रहती। एक दिन इसने रम्भा नामक अप्सरा को यह रहस्य बताया तो उसने इसे बताया कि यह नरेन्द्र चन्द्रमा का पौत्र, बुध का पुत्र, असुरों का निहन्ता पुरूरवा है। और बोली— क्यों न हम दोनों आज ही उनके भवन में पहुँच जाएं। (अध्याय १३०)

वे दोनों सिद्धमार्ग से मर्त्यलोक की ओर चल पड़ीं । मार्ग में उन्हें नारद जी मिले। उन्होंने इनसे सारा वृत्तान्त जानकर कहा कि तुम्बरु गन्धर्व के शाप से विरत होने के लिए उर्वशी को पुरूरवा के राजभवन में रहते हुए (१) इसे दो मेषों को पुत्र-रूप में सदा अपने साथ शय्या पर सुलाना चाहिए, (२) आहार-रूप में केवल घृत का ही सेवन करना चाहिए, (३) राजा को नग्नावस्था में नहीं देखना चाहिए, और (४) यदि वह स्वयं काम-व्यग्रा न हो तो मैथुन नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि इन में से कोई एक भी नियम भंग हो गया तो यह शिला बन जाएगी।

इसके बाद नारद जी कुबेर के भवन की ओर प्रस्थान कर गये और ये दोनों मर्त्यलोक में प्रतिष्ठानपुर की ओर चल पड़ीं। यहां इन्होंने पुरूरवा का सर्व प्रकार से भव्य, सम्पन्न और समृद्ध राजभवन देखा, जिसके मध्य में एक विशाल क्रीडाभवन भी था। रम्भा बोली— सखी, ऐसा करते हैं कि मायाच्छन्न रूप में हम दोनों यहां रात बिताते हैं। कल प्रातः राजा के पास जाकर मैं उनसे तुम्हारे विषय में वार्ता करके तुम्हें उनके पास ले जाऊंगी। (अ० १३१)

इसके बाद वे सूर्यास्त से पूर्व समय तक मायाछन्न रूप में बहुविध पादपों, फूलों और फलों से मण्डित उस उद्यान में भ्रमण करते हुए उसकी शोभा निहारती रहीं, और सूर्यास्त के पश्चात् चन्द्रोदय होने पर उजली चाँदनी की शीतलता और भव्यता से अत्यन्त आह्लाद का अनुभव करती रहीं। तभी अनायास राजा ने उपवन में प्रवेश किया। ऐसे भव्य एवं मनोरम पुरुष को देख उर्वशी रोमांचित हो उठी। (अ० १३२)

उन दोनों ने मायाच्छन्न वेष में ही राजा और विदूषक का वार्तालाप सुना तो इन्हें ज्ञात हुआ कि राजा ने इन्द्रलोक में उर्वशी नामक अप्सरा को देखा था और वे उस पर अतीव मुग्ध और आसक्त हो गए थे और अब ये उससे मिलने के लिए बेताब और बेचैन हैं। विगत रात्रि को स्वप्न में उनका इससे मिलन हुआ था। विदूषक ने उन्हें ढाढस बंधाया कि इनसे शीघ्र ही उसका मिलन होगा।

यह सुनकर दोनों अप्सराएं अति प्रसन्न हुईं। रम्भा अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हुए राजा के समक्ष प्रस्तुत हो गयी। राजा ने उसका स्वागत करते हुए उसके आगमन का कारण पूछा तो उसने उर्वशी की उनके प्रति आसक्ति की सूचना देते हुए नारद मुनि द्वारा निर्दिष्ट उक्त चारों शर्तों का भी निर्देश कर दिया। यह सब सुनकर राजा अति प्रसन्न हुए। उन्होंने सभी शर्तें स्वीकार करते हुए उर्वशी से मिलने की इच्छा प्रकट की, और तभी रम्भा उसे लाकर उपस्थित हो गयी। दोनों मेष भी उनके साथ थे। रम्भा ने मेषों को राजा के हवाले करते हुए कहा कि मैं अब लंका-नगरी में नलकूबर नामक अपने प्राणेश्वर (पति) को मिलने जा रही

हूँ। राजा ने उसे आभूषण आदि देकर सम्मानपूर्वक विदा किया, और उर्वशी के साथ प्रेमालाप में संलग्न हो गया (१३३)। उन दोनों के दिन आनन्द में बीतते चले गये, और उर्वशी से पुरूरवा के पाँच पुत्र उत्पन्न हुए—आयु, धीमान्, अनामय, अयुतायु और शतायु (१३४)।

उधर गन्धर्वों में चर्चा चली कि उर्वशी को इन्द्रलोक में वापस बुला लिया जाए। उनमें से उग्रसेन नामक गन्धर्व को पुरूरवा और उर्वशी के बीच चार शर्तों की बात ज्ञात थी। अतः उन्होंने यह कार्य अपने ज़िम्मे लिया। भूलोक पर आते ही उन्होंने रात्रि के समय ही उर्वशी के दोनों मेष चुरा लिये। राजा उन्हें ढूँढने के लिए तुरन्त नग्न रूप में ही दौड़ पड़े। उर्वशी ने उन्हें इस रूप में देखा तो वह तिरोहित हो गयी और स्वर्गलोक में गन्धर्वों के पास जा पहुँची और राजा के विरह में तड़पती रही। उधर राजा मेषों को ढूँढ न सकने के कारण ख़ाली हाथ घर लौटा तो उर्वशी वहाँ नहीं थी। उसे शर्त की याद हो आयी और समझ गया कि वह तिरोहित हो गयी है। विलाप करते राजा ने उसकी तलाश करना शुरू किया—

क्व गतासि विशालाक्षि विहाय विजनेऽत्र माम्। (१३५.१४)

उन्होंने पूरा कानन छान मारा। विक्षिप्त अवस्था में उन्होंने हाथी, सिंह आदि पशुओं; मयूर आदि पक्षियों से उसके विषय में पूछा, पर किसी ने उसे उत्तर तक न दिया। रात्रि में चन्द्रोदय होने पर वे बोल उठे—हे चन्द्रमा! तुम अपने पौत्र पर (मुझ पर) दया करो, मुझे मेरी प्रिया से मिला दो—

"चन्द्र, पौत्रे कुरु दयां दर्शयस्व मम प्रियाम्।" (१३५.५२),

"कदाऽधर-रसं तस्याः पास्याम्यमृत-सन्निभम्।
कदा द्रष्टास्मि तां भूयः कमलोदयसन्निभाम्।।" (१३६.५५)

इस प्रकार विलाप करते-करते उसे ढूंढते हुए वे बारहवें दिन कुरुक्षेत्र जा पहुँचे और पुष्करिणी नदी पर स्थित वट-वृक्ष के तले बैठ गये। (१३५)

उधर विरहाकुला उर्वशी ने नारद जी को अपनी वेदना सुनायी तो उन्होंने इसे बताया कि पुरूरवा की भी यही स्थिति है। तुम भूलोक चली

जाओ, और बस एक दिन केलिए उसके पास रहकर वापस स्वर्गलोक को आ जाओ। उर्वशी अपनी सखियों के साथ भूलोक में आकर पुष्करिणी नदी में स्नान करने गयी और वहां उसने पुरूरवा का विलाप सुना। उसके साथ एक रात व्यतीत कर दूसरे दिन स्वर्ग को रवाना होने से पूर्व राजा से बोली, ''आप मुझे पाने के लिए गन्धर्वों से प्रार्थना कीजिए।'' यह सुनकर राजा स्वर्गलोक को चले गये और एक वर्ष-पर्यन्त घोर तपस्या की। प्रसन्न होकर गन्धर्वों ने उसे वर मांगने को कहा। इन्होंने उनसे उर्वशी को मांगा तो उन्होंने इसे यज्ञ द्वारा त्रेताग्नि (आवहनीयाग्नि, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्याग्नि) की उत्पत्ति करने को कहा (१३६)।

पुरूरवा ने अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि अनेक यज्ञ सम्पन्न किये तथा पृथ्वी पर एक-राष्ट्र की स्थापना की; प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए अनेक आयोजन किये, तथा अन्ततः वे स्वर्ग सिधार गये (१३७)।.

(४) भागवत-पुराण (एकादश स्कन्ध)

ऐसा प्रतीत होता है कि 'पुरूरवा-उर्वशी-प्रकरण' इतना लोकप्रिय हो गया होगा कि श्रीमद्भागवत-पुराण के एकादश स्कन्ध के अन्तर्गत श्रीकृष्ण जी महाराज ने उद्धव जी के साथ संवाद करते हुए विषयों के सेवन और उदरपोषण की अवमानना के प्रसंग में उक्त प्रकरण को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया—

पुरूरवा उर्वशी के प्रति इतने आसक्त थे कि इन्हें वर्षों की रात्रियाँ न जाती मालूम पड़ती थीं और न आती। वह जब इन्हें छोड़ चली तो यह अति विह्वल हो, नग्नावस्था में ही, उसके पीछे दौड़ पड़े। पर जब उन्हें अनायास वैराग्य हुआ तो वे बोल उठे—'मेरे मोहित मन ने तो मुझ जैसे चक्रवर्ती को नारी का खिलौना बना दिया था (२६.९)।

'मैं तो सचमुच अपना तेज और स्वामित्व ही खो बैठा था कि गधे की भाँति [गधी की] दुलत्तियां खाकर भी उसका अनुकारी बना रहा (२६.११)। अनेक वर्ष-पर्यन्त मैं उर्वशी के अधरोष्ठ की मादक मदिरा का सेवन करता रहा, पर मेरी काम-वासना तृप्त न हुई —क्या कभी

आहुतियों से भी अग्नि की तृप्ति हुई है (२६.१४)। यह ठीक है कि उर्वशी मुझे वैदिक सूक्तों के वचनों द्वारा समझाया करती थी, पर मेरी बुद्धि पर ऐसा परदा पड़ा रहता था कि मैं अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सका था (२६.१६)। और यह नारी का शरीर— जिसके प्रति मैं विमोहित रहा था, भला क्या है— मलमूत्र से भरा हुआ और अति अपवित्र (२६.२०)। अतः विवेक इसी में है कि मनुष्य नारियों और नारी के प्रति आकृष्ट पुरुषों का संग न करे।[१] (२६.२२)

(५) विक्रमोर्वशीय

उपर्युक्त लगभग सभी सामग्री के आधार पर महाकवि कालिदास ने अपने नाटक (त्रोटक) विक्रमोर्वशीय में इस कथा को नवीन रूप में उद्भासित कर दिया। इस नाटक (त्रोटक) में ५ अंक हैं—

पहले अंक में पुरूरवा उर्वशी नामक अप्सरा को हेमकूट पर्वत के निकट कैशी नामक दैत्य से छुड़ाते हैं। उर्वशी के साथ रंभा, सहकन्या, मेनका आदि अन्य अप्सराएं भी हैं। उर्वशी पुरूरवा के शौर्य एवं सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है और इधर पुरूरवा उर्वशी के लावण्य पर आसक्त हो जाते हैं। उर्वशी अपनी सखियों के साथ इन्द्रलोक को वापस चली जाती है।

दूसरे अंक में पुरूरवा का सखा मायावक राजमहल में आकर भूल से यह रहस्य खोल देता है कि राजा उर्वशी पर आसक्त है। इससे महारानी औशनरी बहुत क्षुब्ध होती है। इधर पुरूरवा के वियोग में व्याकुल उर्वशी अपनी सखी चित्रलेखा के साथ विमान द्वारा हेमकूट पर्वत पर आती है, और 'तिरस्करिणी विद्या' द्वारा छिपे हुए रूप में विरह-व्यथित राजा को देखकर उसके आगे अपना प्रेमपत्र गिराती है। इसके बाद उनका कुछ समय के लिए मिलाप होता है कि तभी देवदूत द्वारा उर्वशी को सन्देश मिलता है कि वह शीघ्र इन्द्रलोक पहुँचे जहाँ भरत द्वारा निर्देशित नाटक

१. इसी प्रकार यह कथा परस्पर थोड़े-बहुत अन्तर के साथ विष्णुपुराण और मत्स्यपुराण में भी वर्णित की गयी है।

'लक्ष्मी-स्वयंवर' में उर्वशी ने लक्ष्मी का अभिनय करना है। विवश होकर इसे वापस इन्द्रलोक जाना पड़ता है। इधर उक्त पत्र महारानी के हाथ लग जाता है। पुरूरवा रुष्ट महारानी से अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना करता है।

तीसरे अंक में 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नाटक में उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय करते समय विष्णु के स्थान पर पुरूरवा का नाम लेकर कहती है कि उसका मन इस व्यक्ति पर स्थिर हो गया है। इस पर क्रुद्ध भरत उर्वशी को शाप देते हैं कि अब तेरा, वास स्वर्गलोक में नहीं होगा। पर इन्द्र ने क्षमादान करते हुए उर्वशी से कहा कि 'तुम मर्त्यलोक में जाकर अपने प्रियतम पुरूरवा के पास तब तक रहोगी जब तक वह तुझसे उत्पन्न पुत्र का मुँह नहीं देख लेता।' उर्वशी चित्रलेखा के साथ पुरूरवा के राजमहल में जा पहुँचती है।

चौथे अंक में राजा और उर्वशी कैलास-शिखर के पास गंधमादन पर्वत में भ्रमण कर रहे हैं कि राजा ने वहाँ घूमती हुई एक विद्याधर-कन्या उदयवती को टकटकी लगा कर देखा। इससे उर्वशी ईर्ष्या और क्रोध से भर उठी और समीपवर्ती कुमार-वन[१] में चली गयी, जहाँ नारियों के लिए जाना निषिद्ध था। उसमें प्रवेश करते ही वह लता के रूप में परिवर्तित हो गयी। विरह-व्याकुल पुरूरवा उसे ढूंढने निकल पड़े। विक्षिप्त अवस्था में वह मोर, कोयल, चकवा आदि विभिन्न पक्षियों; गज आदि पशुओं और यहां तक कि पर्वत-शिखरों से भी उसके बारे में पूछते हैं, और फिर कह उठते हैं कि वह तो नदी की धारा के रूप में परिणत हो गयी है—

नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता। (वि० उ० ४.५२घ)।

तभी आकाशवाणी द्वारा इन्हें संकेत मिलता है कि संगमनीय मणि को लेकर लता-रूपी उर्वशी का आलिंगन करने पर वह पूर्वरूप को प्राप्त हो जाएगी। ऐसा करने पर राजा पुनः उर्वशी को प्राप्त कर लेते हैं।

पाँचवें अंक में एक गिद्ध उस मणि को मांस का टुकड़ा समझकर झपट कर ले जाता है। गिद्ध को ढूंढने का प्रयास होता है। इसके बाद

---

१. कुमार = युद्ध का देवता स्वामी कार्तिकेय, उसका वन।

कंचुकी एक बाण-सहित वह मणि राजा को देता है। बाण पर लिखा था— यह बाण शत्रु-घातक कुमार आयु का है जो कि पुरूरवा और उर्वशी का पुत्र है। राजा आश्चर्य में पड़ गये कि इस बालक की उत्पत्ति कब हुई। वस्तुत: उर्वशी ने इसका जन्म होते ही इसे च्यवन ऋषि के यहाँ गुप्त रूप में रख छोड़ा था [ताकि राजा इसे न देख सकें और जिससे कि वह बहुकाल-पर्यन्त पुरूरवा के संग रह सके।] इतने में च्यवन ऋषि के यहां से एक तापसी एक बालक को लिये हुए वहां आ पहुँची। उसने बताया कि "इस बालक ने एक गिद्ध को बाण से मार गिराया है। ऐसा करना आश्रम के नियमों के विरुद्ध है। अत: मैं ऋषि के आदेश से इसे उर्वशी को सौंपने आयी हूँ।"

मिलन और हर्षोल्लास के ये क्षण! पर उर्वशी है कि रोये चली जा रही है। कारण पूछने पर उसने भरत द्वारा दिये गये अभिशाप की चर्चा की और कहा कि उसे तो अब वापस स्वर्गलोक में जाना होगा। राजा बहुत उदास हो गये। उन्होंने पुत्र आयु को राजकाज सौंपकर वन में जाने का निश्चय कर लिया कि तभी नारद मुनि ने आकर बताया कि अब उर्वशी मर्त्यलोक में ही रहेगी, पुरूरवा शस्त्र-त्याग न करें, वन में न जाएं, क्योंकि इन्होंने देवताओं और राक्षसों के बीच होने वाले घोर संग्राम में इन्द्र की सहायता करनी है। नारद द्वारा आयु का राज्याभिषेक, हर्षोल्लास का वातावरण, पुष्प-वर्षा! आयु अपनी विमाता महारानी औशनरी को प्रणाम करने और उससे आशीर्वाद लेने चला गया।

तो यह है ऋग्वेद का वह आख्यान जो कि महान् कवि कालिदास की कल्पना द्वारा चिर-नूतन रूप धारण कर गया।

३. आइए, अब **पुरूरवस्** और **उर्वशी** शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार करें। इससे इन दोनों शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थ ज्ञात होने की भी संभावना हो सकती है—

(१) पुरूरवस् शब्द

(क) निरुक्तकार यास्क के अनुसार '**पुरूरवस्**' शब्द से तात्पर्य है—**मेघ**। इस शब्द की निरुक्ति है—'**पुरूरवा बहुधा रोरूयते**' (दैवत काण्ड २.४६)। **रोरूयते स्तनयति**, अर्थात् जो बहुत शोर करता है, गरजता है, गड़गड़ाहट करता है, वह पुरूरवा (पुरु+रवस्) है।

(ख) 'पुरूरवस्' को 'ऐळ'[१] अर्थात् 'इळा का पुत्र' कहा गया है। इळा शब्द यास्क के अनुसार पृथ्वी, वाणी, अन्न तथा गो का वाची है। संभवत: गो-वाची होने के कारण इळा को 'घृतहस्ता' (ऋग्० ७.१६.८), 'घृतपदी' (ऋग्० १०.७०.८) कहा गया है। इस प्रकार 'इळा' घृत एवं दुग्ध रूपी हविष् का प्रतीक है, और यज्ञ के धूम से मेघ के बनने के कारण पुरूरवस् (मेघ) को 'ऐळ' (इळा-पुत्र) कहा गया है। यास्क ने अन्तरिक्ष-स्थानीय देवियों में इळा को भी स्थान दिया है। इस आधार पर भी पुरूरवस् को 'ऐळ' (इळा-पुत्र) कहा जा सकता है।

कौन थी इला (इळा)? भागवतपुराण (९.१) के अनुसार इळा वैवस्वत मनु और श्रद्धा की पुत्री थी। गर्भवती श्रद्धा ने वसिष्ठ मुनि से अपनी उत्कट अभिलाषा प्रकट की कि उसकी पुत्री उत्पन्न हो। होता रूप में यज्ञ करते हुए वसिष्ठ मुनि ने श्रद्धा की इस अभिलाषा को मन में रखा और पुत्री उत्पन्न हुई। पर मनु इससे बहुत खिन्न हुए। अत: वसिष्ठ जी ने विष्णु भगवान् से प्रार्थना की। इस पर उन्होंने अपने तेज से इसे पुंल्लिग रूप में परिवर्तित कर दिया और इसका नाम सुद्युम्न रखा गया। एक बार सुद्युम्न अश्व पर सवार होकर मेरु पर्वत पर ऐसे स्थल पर जा पहुँचे जहाँ रुद्र उमा के साथ रमण कर रहे थे, पर वह स्थल अन्य पुरुषों के लिए निषिद्ध था। उसमें प्रवेश करते ही [रुद्र के शाप से] सुद्युम्न और उसके साथी नारी रूप में परिवर्तित हो गये— यहाँ तक कि उनका अश्व भी अश्वा बन गया। चन्द्रमा के पुत्र बुध (मर्करी) ने इस कन्या को देखा तो ये दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो गये। उल्लेख्य है कि इन से पुरूरवा की उत्पत्ति हुई।[२] इस सम्बन्ध में सायणचार्य ने ऋग्वेद के इस सूक्त (१०.९५) के भाष्य के प्रारम्भिक स्थल के अन्तर्गत एक लोक-कथा १५ श्लोकों में दी है, जो लगभग इसी घटना को प्रस्तुत करती है।

---

१. पुरूरवसैळं चकमे (श०ब्रा० ११.५)।

२. द्रष्टव्य— (क) ब्रह्मपुराण (गौतमी-माहात्म्य) ३८.२-१२७, (ख) मत्स्यपुराण ११.४० से आगे।

(२) उर्वशी शब्द

(क) ऋग्वेद में वसिष्ठ को उर्वशी के मन से उत्पन्न बताया गया है, तथा अन्यत्र (७.३३.११) इन्हें अप्सरस् से उत्पन्न कहा गया है—**अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः**[१] (७.३३.१२)। इस प्रकार ऋग्वेद के अनुसार 'उर्वशी' स्पष्ट रूप से तो नहीं, पर प्रकारान्तर से अप्सरा मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूक्त (१०.९५) के १७वें मन्त्र में उर्वशी को 'अन्तरिक्ष को भरने वाली' और 'रजस् (उदक) की निर्मात्री' कहा गया है, तथा १०वें मन्त्र में इसे 'अप्या' (जल में उत्पन्न या जल में रहने वाली) कहा गया है। इन वचनों से भी प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के अनुसार उर्वशी एक अप्सरा (जलपरी) का नाम है।

(ख) यास्क के शब्दों में—**"उर्वश्यप्सरा—(१) उर्वभ्यश्नुते, (२) ऊरुभ्याम् अश्नुते, (३) उरूर्वा वशोऽस्याः"** (निरुक्त ५.१३)। दुर्गाचार्य के अनुसार इसका अर्थ है—उर्वशी एक अप्सरा है। (१) वह महद् यश प्राप्त करती है, (२) मैथुन-कर्म में पुरुष को अपने दोनों ऊरुओं से घेर लेती है, (३) इसका वश (काम का आवेग) उरु (महान्) है।

(ग) यास्क के अनुसार अप्सरस् शब्द की व्युत्पत्ति है—**"अप्सराः (१) अप्सारिणी। (२) अपि वा अप्स इति रूपनाम। ....तद् रा भवति=रूपवती, (३) तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा।"** (निरुक्त ५.१३)। दुर्गाचार्य के अनुसार इसका अर्थ है—

(१) अप्सरा को इस नाम से इसलिए अभिहित करते हैं कि वह अपः (जलों) के प्रति सदा सरणशील (गतिशील) रहती है।

(२) यह अप्स (रूप) + 'रा' (युक्त) होती है, अर्थात् यह रूपवती होती है।

(३) अथवा यह इस (रूप) से दी हुई होती है अर्थात् इसे अतिरिक्त रूप दिया होता है। इस प्रकार यास्क के अनुसार उर्वशी एक रूपवती अप्सरा है, जो कि प्रगाढ-कामवती है तथा रतिकर्म में पुरुष को खुशियों से भर देती है।

---

१. वसिष्ठ=अत्यधिक वसुधामान अथवा अत्यधिक कान्तिमान्।

(घ) तो यह हुआ उर्वशी का मानवीय रूप कि यह पुरूरवा की प्रेयसी है। पर यदि 'पुरूरवा' (बहुत शब्द वाला) का प्रतीकात्मक अर्थ उपर्युक्त रूप में बादल किया जाता है तो 'उर्वशी' का प्रतीकात्मक अर्थ क्या होगा। इसी सम्बन्ध में वररुचि का कथन है कि उर्वशी विद्युत् है, क्योंकि यह आकाश में अत्यधिक चमकती है— **उर्वशी विद्युत्, उरु विस्तीणमन्तरिक्षमश्नुते दीव्यत इति उर्वशी** (निरुक्त ५.१३, वररुचि)। और, पं० शिवनारायण शास्त्री कहते हैं— उर्वशी=उरु+वशी। उरु=अधिक, वशी (शब्दार्थक √वाश्) शब्द करने वाली। इस प्रकार पुरूरवा और उर्वशी— ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। अन्तर लिंगभेद का है— इनमें कान्त-कान्ता-सम्बन्ध है। पुरूरवा यदि गरजता बादल है तो उर्वशी कड़कती-कौंधती-चमकती विद्युत् है।

उक्त आख्यान में पुरूरवा को विलाप करता बताया गया है। इस सम्बन्ध में दुर्गाचार्य का कहना है कि वर्षाकाल में जब विद्युत् विनष्ट हो जाती है तो उससे वियुक्त मेघ ज़ोर ज़ोर से शोर करने लगता है— **वर्षाकाले विद्युति विनष्टायां तया विमुक्तः स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वन् विलपति** (निरुक्त ५.१३ दुर्गाचार्य)

(ङ) पीछे लिख आए हैं कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में है कि नारायण ने एक कन्या का निर्माण अपने ऊरु (जांघों) से किया था, अतः उसका नाम (ऊर्वशी=) 'उर्वशी' पड़ गया। (देखिये पृष्ठ २५१)

इधर आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द को 'पुरूरवा' शब्द से अभिप्रेत है ऐसा व्यक्ति जो अपने 'यज्ञ-रूप अध्ययन-अध्यापन द्वारा [अपने शिष्यों को] अधिक शास्त्रों का उपदेश देता है— **"पुरूणि बहूनि शास्त्राण्युपदिशति येनाध्ययनाध्यापनयज्ञेन स पुरूरवाः।"** 'उर्वशी' शब्द से स्वामी जी को अभिप्रेत है 'यज्ञक्रिया जिसके द्वारा बहुत सुख भोगे जाते हैं— **"यज्ञोरूपि-बहूनि सुखान्यश्नुवते सा यज्ञक्रिया।"** इस प्रकार उनके अनुसार पुरूरवा यज्ञ है और उर्वशी यज्ञक्रिया— निःसन्देह ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं।

पं० रघुनन्दन शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'वैदिकसम्पत्ति' (पृष्ठ ४६-४८) में पुरूरवा और उर्वशी तथा उनके पुत्र आयु, इन तीनों, को यजुर्वेद के निम्न कथन के आधार पर अग्नि का पर्याय माना है—

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थऽउर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवाऽअसि।.........

(यजुर्वेद ५.२-क)

(अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति होती है, पुरूरवा और उर्वशी इन दोनों अग्नियों का पुत्र आयु भी अग्नि है।) इसी प्रसङ्ग में पण्डित जी ने पुरूरवा को सूर्य कहा है और उर्वशी को उसकी किरण कहा है। इस कथन में उन्होंने यजुर्वेद का मन्त्रांश उद्धृत किया है कि अग्नि अथवा सूर्य गन्धर्व[१] है, और मरीचियां (किरणें) उसकी अप्सराएं हैं—

संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम।

(यजुर्वेद १८.३९)

इस प्रसंग में उन्होंने ग्रिफिथ महोदय का निम्नोक्त कथन भी उद्धृत किया है, जिसमें मैक्समूलर और गोल्डस्टकर की यह धारणा प्रस्तुत की गयी है कि पुरूरवा सूर्य है और उर्वशी उषःकाल अथवा प्रातःकालीन धुँधलका है:

> Max Muller considers the story to be one of the Vedas which express the correlation of the dawn and the sun. According to Dr. Goldstrucker, Urvaśī is the morning mist which vanishes away as soon as Purūravas, the sun, displays himself.

(वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ ४८)

यों इसी सूक्त (ऋग्० १०.९५) के मन्त्र-संख्या १७ में उर्वशी को 'अन्तरिक्ष-प्रा' (अन्तरिक्ष को घूम-फिर कर भरने वाली) कहा गया है जिसे पुरूरवा अपने वश में रखना चाहता है— **अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः** अर्थात् मैं वसिष्ठ (सूर्य) अन्तरिक्ष में घूमने वाली उर्वशी को अपने वश में रक्खूं।

इस सब विवेचन से हमारा अभिप्राय है कि यास्क से लेकर आधुनिक युग तक प्रायः सभी वैदिक विद्वान् पुरूरवा और उर्वशी दोनों को आलंकारिक रूप में या तो अग्नि और उसकी ऊष्मा मानते हैं, अथवा इन्हें

---

१. गन्धर्व (गो+धर्व)=गो (किरणों को) धारण करने वाला।

क्रमशः सूर्य और उसकी किरण अथवा सूर्य और उषःकाल (प्रातःकालीन धुँधलका) मानते हैं।

किन्तु जो विद्वान् इन्हें क्रमशः बादल और कड़कती-कौंधती बिजली मानते हैं, तो इस प्रसंग में यजुर्वेद (वाजसनेयी)-संहिता का मन्त्र (१५.१९) उल्लेख्य है। इसमें उर्वशी के साथ पूर्वचित्ति नामक अप्सरा की भी चर्चा है। उव्वट और महीधर दोनों ने इस मन्त्र के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण के आधार पर उर्वशी और पूर्वचित्ति दोनों का सम्बन्ध पर्जन्य (प्रजा को जीवित रखने वाले बादल) से जोड़ा है। निरुक्त के अनुसार, जैसा कि पहले कह आए हैं, 'पुरुरवा' से अभिप्रेत है— गरजता हुआ बादल और 'उर्वशी' से अभिप्रेत है— कड़कती-कौंधती बिजली। ऋग्वेद के मन्त्र (संख्या २३.१२) में पूर्वचित्ति को द्यौ कहा गया है— द्यौरासीत् पूर्वचित्तिः......। शतपथ ब्राह्मण (१३.२.६.१४) में द्यौ (पूर्वचित्ति) से अभिप्रेत है— वृष्टि। इस प्रकार पुरूरवा और पर्जन्य तथा उर्वशी और पूर्वचित्ति ये चारों शब्द परस्पर सम्बद्ध हैं और वर्षाकालीन स्थिति के द्योतक हैं।

जो हो, पुरूरवा और उर्वशी को ऐतिहासिक पात्र, अपितु प्रस्तुत आख्यान के पात्र, मानें अथवा इनके केवल उक्त प्रतीकात्मक अर्थ मानें— यह प्रश्न विचारणीय है। वैदिक मन्त्रों का वैभव तो इसी में है कि इनका प्रतीकात्मक अर्थ लिया जाए, पर कात्यायन ने अपनी 'सर्वानुक्रमणी' के अन्तर्गत ऋग्० १०.९५ की अनुक्रमणी में इन दोनों को ऐतिहासिक मानव माना है। वे इन्हें किन्हीं भौतिक तत्त्वों का प्रतीक नहीं मानते। उधर इस आख्यान के सम्बन्ध में शौनक भी स्पष्टतः यही मान्यता प्रकट करते हैं।[1]

किन्तु ज्वलन्त प्रश्न है कि पुरूरवा और उर्वशी से सम्बन्धित मन्त्रों के द्रष्टा (रचयिता) ऋषियों ने भी क्या अपने अभीष्ट मन्तव्यों को इस प्रकार की प्रतीकात्मक भाषा में जानबूझकर प्रस्तुत किया होगा? कौन जाने!

---

१. आह्वानं प्रति चाख्यानमितरेतरयोरिदम्।
संवादं मन्यते यास्क इतिहासं तु शौनकः।। (बृहद्देवता ७.१५३)

१०. पणि-सरमा-संवाद

(ऋग्वेद १०.१०८)

ऋग्वेदस्य दशम-मण्डलस्य अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्

एकादशर्चस्यास्य सूक्तस्य प्रथमा-तृतीया- पञ्चमी-सप्तमी-नवमीनामृचां पणयोऽसुरा ऋषयः, द्वितीया-चतुर्थी-षष्ठ्यष्टमी-दशम्येकादशीनाञ्च सरमा ऋषिका। प्रथमा-तृतीया-पञ्चमी-सप्तमी-नवमीनामृचां सरमा, द्वितीया-चतुर्थी-षष्ठ्यष्टमी-दशम्येकादशीनाञ्च पणयो देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः।।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का यह १०८वाँ सूक्त है। इस सूक्त में ११ मन्त्र हैं। संख्या १, ३, ५, ७, ९ मन्त्रों के ऋषि पणि असुर हैं तथा संख्या २, ४, ६, ८, १०, ११ मन्त्रों की ऋषिका सरमा है। संख्या १, ३, ५, ७, ९ मन्त्रों की देवता सरमा है, तथा संख्या २, ४, ६, ८, १०, ११ मन्त्रों के देवता पणि हैं।

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि।।१।।

किम्। इच्छंती। सरमा। प्र। इदं। आनट्। दूरे। हि। अध्वा। जगुरिः। पराचैः।
का।अस्मेऽहितिः।का।परिऽतक्म्या।आसीत्।कथम्।रसायाः।अतरः।पयांसि।।

अन्वयः— सरमा किम् इच्छन्ती इदं प्रानट्? अध्वा दूरे हि, पराचैः जगुरिः। का अस्मे-हितिः, का परितक्म्या आसीत्। रसायाः। पयांसि कथम् अतरः।

विशिष्ट-पदानि— सरमा=(सरणशीला) एतन्नाम्नी देवशुनी। प्रानट्= प्राप्नोत्। अध्वा=मार्गः। पराचैः=पराङ्मुखो वर्जितो वा। जगुरिः=उद्गूर्णः, दुर्गम इत्यर्थः। अस्मे-हितिः=अस्मासु निहितिः, अस्मासु स्वार्थः, प्रयोजनम् इति यावत्। परितम्या=रात्रिः, परितः तकनं गमनं भ्रमणं वा। रसायाः= अन्तरिक्ष-नद्याः। अतरः=तीर्णवती आसीः।

आगच्छन्तीं सरमां दृष्ट्वा पणयो वदन्ति— सरमा [एतन्नामिका देवशुनी] केनाभिप्रायेण एतत्स्थानं प्राप्नोत्? यस्मान्मार्गात् त्वमागता स मार्गस्तु सुदूरवर्ती, गमनाय (गमनागमनाय इत्यर्थः) वर्जितो दुर्लंघ्यो वाऽस्ति। अस्मासु कस्तव [अपेक्षितोऽर्थो] निहितो वर्तते? किञ्च तव गन्तव्यमभीष्ट-स्थानं वाऽस्ति? अथवा कीदृशमासीत् तव परिभ्रमणं, सुखपूर्वकं खलु? अथवा आगच्छन्त्यास्तव कीदृशी रात्रिरासीत्, मार्गे रात्रिः सुखेन तु व्यतीता ननु? कथञ्च त्वया अन्तरिक्ष-नद्याः उदकानि तीर्णानि आसन्?।। १।।

आती हुई सरमा (वाच्यार्थ—सरणशीला) को देखकर पणि कहते –सरमा नाम वाली देवशुनी किस प्रयोजन से इस स्थान पर आयी है। जिस मार्ग से तुम आयी हो, वह मार्ग तो बहुत दूर है, जाने के लिए (आवागमन के लिए) वर्जित है अथवा दुर्लंघ्य है। तुम्हें हम से क्या अभीष्ट है? तुम्हारा गन्तव्य स्थान कौन सा है? अथवा तुम्हारा यह घूमना-फिरना कैसा रहा, तुम सुखपूर्वक तो हो ना? अथवा आते समय रात तो सुख से बीती ? [भला बताओ तो, रास्ते में] अन्तरिक्ष-नदी का जल तुम ने कैसे तैर कर पार किया?।। १।।

The Paṇis speak, "With what intention has Sarmā—the Celestial Bitch—come to this place? The path is long indeed, [and also] is inhibited for coming and going, or impassable. What is the motive of your coming to us? What is your destination? Or what sort of wandering is yours? How have you crossed the waters of the Rasā—the river of the firmament." (1)

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि।।२।।

इंद्रस्य। दूतीः। इषिता। चरामि। महः। इच्छंती। पणयः। निऽधीन्। वः। अतिऽस्कदः। भियसा। तत्। नः। आवत्। तथा। रसायाः। अतरं। पयांसि।।

अन्वयः— सरमे! यस्य दूती पराकात् इदम् असरः, इन्द्रः कीदृक्? का दृशीका? आगच्छात्, मित्रं च एनं दधाम। अथ नो गवां गोपतिः भवाति।

विशिष्ट-पदानि— पराकात्=अतिदूरात्। असरः (सृ गतौ)=आगच्छः। दृशीका=दृष्टिः। आगच्छात्=आगच्छतु। एन=अनया अनेन वा। भवाति= भवतु।

पणयो वदन्ति— हे सरमे! यस्य इन्द्रस्य दूतीभूता त्वम् अतिदूराद् इदम् (अस्मत्स्थानम्) आगच्छः असौ तव स्वामी इन्द्रः कीदृक् (कियत् पराक्रमवान्)? [विविध-कार्येषु तस्य] दर्शनं कीदृशम्? [ताम् एतदुक्त्वा इदानीं पणयः परस्परमाहुः— एषा सरमा] आगच्छतु, अनया सह वयं मैत्रीं कुर्मः। [अथवा इन्द्रोऽत्र आगच्छतु, अनेन सह वयं मैत्रीं करिष्यामः।] अत्रागमनाद् अनन्तरञ्च सरमा, इन्द्रो वाऽस्माकं बह्वीनां गवां स्वामिनी स्वामी वा भवतु।। ३।।

पणि कहते हैं— हे सरमे! जिस इन्द्र की दूती बनकर तू बहुत दूर से यहां आ पहुंची है वह तेरा स्वामी इन्द्र कैसा है (कितना पराक्रमी है)? [विविध कार्यों में] उसकी दृष्टि कैसी है? [उसे यह कहकर पणि आपस में कहने लगे—] यह सरमा आए, इसके साथ-साथ हम मैत्री करें। [अथवा इन्द्र यहाँ आएँ, हम इसके साथ मैत्री करेंगे।] यहां आने के बाद सरमा [अथवा इन्द्र] हमारी बहुत सी गायों का स्वामी होवे।। ३।।

The paṇis speak, "O Sarmā! What is Indra like ?— meaning by how gallent he is. What is appearance of him ? Or what sort of philosophy is his ?—in his deeds ?—as whose envoy you have come to this place from afar. [The Paṇis then say to one another:] Let her approach, we will show her friendship. After she comes over here she shall be the herdsperson of our cattle." (3)

अन्वयः— पणयः! इन्द्रस्य दूती इषिता, वः महौ निधीन् इच्छन्ती चरामि। तद् अतिष्कदो भियसा नः आवत्। तथा रसायाः पयांसि अतरम्।

विशिष्ट-पदानि— इषिता = प्रेषिता। महः = महतः। अतिष्कदः भियसा = अतिष्कन्दात् अतिक्रमणात् जातेन भयेन। नः (पूजायां बहुवचनम्) = माम्। आवत् = अरक्षत्। रसायाः = अन्तरिक्ष-नद्याः।

सरमा पणीन् प्रत्युवाच— हे पणयः (एतन्नामका असुराः)! अहम् इन्द्रस्य दूती [तेनैव च] प्रेषिता युष्मदीयान् महतो निधीन् च कामयमाना सती [युष्मदीयं स्थानम्) आगच्छामि। सैव कामना मां नद्याः अतिक्रमण--भयात् अरक्षत्। [नद्याः पारं गन्तुमशक्ताऽस्मि इति भयेन युष्मदीय-निधि-प्राप्ति-कामना-वशाद् अहम् उत्साहिता जाता नदी-पारं कर्तुम् इत्यभिप्रायः।] एतस्मात् कारणाद् अन्तरिक्ष-नद्याः उदकानि अहं तीर्णवती अस्मि।।२।।

सरमा पणियों से बोली— हे पणियो (पणि-नामक असुरो!) मैं इन्द्र की दूती हूँ, उसी ने मुझे भेजा है, मैं आप लोगों की महान् सम्पत्ति की अभिलाषा रखती हुई [आप लोगों के स्थान को] आ गयी हूँ। इसी अभिलाषा ने नदी के आक्रमण-भय से मेरी रक्षा की है, अर्थात् मैं भयंकर नदी के भय से विमुक्त होकर यहाँ आ सकी हूँ। इस कारण से [अन्तरिक्ष-नदी का] जल मैं पार कर पायी हूँ।। २।।

Sarmā speaks, "O Paṇis! I come the appointed messenger of Indra, desiring your ample stores of wealth. This [desire has] preserved me from the fear of crossing the river. [Thus] I have passed over the waters of Rasā." (2)

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति।।३।।

कीदृङ्। इंद्रः। सरमे। का। दृशीका। यस्य। इदम्। दूतीः। असरः। पराकात्। आ। च। गच्छात्। मित्रं। एन। दधाम। अथ। गवाम्। गोऽपतिः। नः। भवाति।।

नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे।।४।।

न। अहम्। तम्। वेद। दभ्यम्। दभत्। सः। यस्य। इदं। दूतीः। असरं। पराकात्।
न। तम् गूहंति। स्रवतः। गभीराः। हताः। इंद्रेण। पणयः। शयध्वे।।

अन्वयः— यस्य दूती पराकात् इदम् असरम् तम् अहं दभ्यं न वेद। स दभत्। तं स्रवतः गभीराः न गूहन्ति। हे पणयः! इन्द्रेण हताः शयध्वे।

विशिष्ट-पदानि— दभ्यं=दम्भनीयं हन्तव्यं वा। वेद=जानामि। दभत्= दभ्नोति, हिनस्ति। स्रवतः=स्रवणशीलाः। गूहन्ति-आच्छादयन्ति, निमज्जयन्ति। शयध्वे=शयनं करिष्यथ, भूमौ पतिष्यथ।

सरमा इन्द्र-विषये कथयति— यस्य इन्द्रस्य दूती-रूपेण अति-दूर-प्रदेशाद् अहमत्रागच्छम् तम् इन्द्रम् अहं दम्भनीयं हन्तव्यं न जानामि, [न हि कश्चित् तं हन्तुं वशीकर्तुं वा समर्थ इत्यर्थः, अपितु] असौ तु सर्वान् जनान् हिनस्ति स्व-वशान् वा करोति। नापि च तम [अत्रागमने पथि] स्रवणशीला गम्भीराश्च नद्यः आच्छादयितुं मज्जयितुं वा शक्ताः। [यदि यूयम् इन्द्रम् आक्रामत तदा यूयं सर्वे] इन्द्रेण हताः सन्तः भूमौ पतिष्यथ।।४।।

सरमा इन्द्र के विषय में कहती है—जिस इन्द्र की मैं दूती बनकर बहुत दूरवर्ती प्रदेश से यहां आयी हूँ उस इन्द्र का कोई हनन नहीं कर सकता, अथवा कोई उसे वश में नहीं कर सकता, अपितु वह सभी लोगों को वश में करता है। और न ही [यहां आते हुए उसे मार्ग में] बहती हुई गंभीर नदियाँ डुबो सकती हैं। [यदि आप लोग इन्द्र पर आक्रमण करेंगे तो आप सभी] इन्द्र से मारे गये (पराजित होकर) पृथ्वी पर जा गिरेंगे।। ४।।

Sarmā speaks, "I do not believe that he (Indra) can be subdued. In fact he—as whose envoy I have come to this place from afar—can subdue [his enemies. In case he comes over here] the rivers flowing with deep waters cannot conceal (drown) him. [If you attack on him,] you Paṇis, slain by Indra, will sleep [in death]." (4)

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा।।५।।

इमाः। गावः। सरमे। याः। ऐच्छः। परि। दिवः। अंतान्। सुऽभगे। पतंती।
कः। ते। एनाः। अव। सृजात्। अयुध्वी। उत। अस्माकम्। आयुधा। संति। तिग्मा।।

अन्वयः— सुभगे सरमे। इमाः गावः याः दिवः पर्यन्तान् पतन्ती ऐच्छः, एना कः ते अयुध्वी अवसृजात्। अस्माकम् आयुधा तिग्मा सन्ति।

विशिष्ट-पदानि— पतन्ती=वेगेन गच्छन्ती। अयुध्वी=अयुध्वा, युद्धमकृत्वा। एना=एताः। आयुधा=आयुधनि। तिग्मानि=तीक्ष्णानि।

हे शोभने सौभाग्यवति वा सरमे! द्युलोकस्य अन्तभागपर्यन्तं वेगेन गच्छन्ती त्वं या इमा गाः [नेतुम्] इच्छसि, परं कः एताः त्वदर्थं युद्धमकृत्वा बाधां विना विनिर्गमयेद् इत्यर्थः? अपि च, अस्माकं शस्त्राणि तीक्ष्णानि सन्ति।। ५।।

हे सुन्दरि अथवा सौभाग्यवति सरमे! ये जो गौएं तुम द्युलोक के अंतिम भाग तक वेगपूर्वक [हांक ले जाना] चाहती हो, पर इन्हें किसने, तेरे लिए युद्ध किये बिना (बाधा उपस्थित किये बिना) छोड़ दिया है? किन्तु [यह जान लो] कि हमारे शस्त्र [भी] तीक्ष्ण हैं।। ५।।

The Paṇis speak, "O blessed Sarmā! these are the kine, which you—coming fast to the extremities of the sky—wish [to drive with you. But] who will loose these for you without a combat? Also, know this that our warlike weapons are sharp-pointed. (5)

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्।।६।।

असेन्या। वः। पणयः। वचांसि। अनिषव्याः। तन्वः। संतु। पापीः।
अधृष्टः। वः। एतवै। अस्तु। पंथाः। बृहस्पतिः। वः। उभया। न। मृळात्।।

अन्वय: — पणय:! व: वचांसि असेन्या, तन्व: अनिषव्या: पापी: सन्तु। व: पन्था: एतवै अधृष्ट: अस्तु। बृहस्पति: व: उभया न मृळात्।

विशिष्ट-पदानि — अनिषव्यानि = न इषव्यानि, इषु-प्रभाव-रहितानि, यद्वा इषु-प्रहार-सहनायोग्यानि दुर्बलानि इत्यर्थ:। एतवै = गमनाय। अधृष्ट: = कठिन:, दुर्लंघ्य: इत्यर्थ:। उभया = उभयानि। मृळात् = मृळयतु, सुखयतु।

सरमा आक्रोश-पूर्वकम् उत्तरति — हे पणय:! युष्माकं वचनानि सेनार्हाणि न सन्तु, युष्माकं शरीराणि च सन्तु अनिषव्यानि — इषु-प्रभाव-रहितानि, यद्वा इषु-प्रहार-सहनाऽयोग्यानि, [पराक्रम-राहित्यात्] दुर्बलानि वा सन्तु। [अत एव वचनानि, शरीराणि च] पापयुक्तानि (गर्हितानि) सन्ति। [एष: युष्मत्पुर-प्रवेश-] मार्ग: [कामम्] अस्तु गमनाय कठिन: दुर्लंघ्यो वा [युष्मदुपरि आक्रमण-कर्त्रे इन्द्राय इति शेष:।] [इन्द्र-प्रेरितो] बृहस्पति: उपर्युक्तोभय-कारणाद् [यद् युष्माकं वचांसि असेन्यानि, शरीराणि च अनिषव्यानि इति] युष्मान् न सुखयतु, बाधतामेव इत्यभिप्राय:।। ६।।

सरमा आक्रोश-पूर्वक उत्तर देती है— हे पणियो! तुम लोगों के वचन असेन्य हैं— सेनाओं के तुल्य नहीं हैं, अर्थात् ऐसे अशोभन एवं कायरता-पूर्ण वचन योद्धा नहीं बोला करते, तुम लोगों के शरीर अनिषव्य हैं, अर्थात् तुम्हारे शरीर वाणों के प्रभाव से विमुक्त हैं, अथवा वाणों के प्रहार को सहने में असमर्थ हैं अथवा दुर्बल हैं। और [इसी कारण आपके शरीर और वचन दोनों पाप-युक्त] (गर्हित) हैं। [इन्द्र यदि तुम लोगों पर आक्रमण करने आए तो आपके नगर में प्रवेश करने का] मार्ग [भले ही] कठिन तथा दुर्लंघ्य हो, पर [इन्द्र से प्रेरित] बृहस्पति उक्त दोनों कारणों से [कि (१) तुम लोगों के वचन असेन्य हैं, तथा (२) शरीर अनिषव्य हैं,] तुम्हें सुख नहीं देगा, अर्थात् वह तुम लोगों को क्षमा नहीं करेगा, बाधा ही डालेगा।।६।।

Sarmā speaks angrily, "O you Paṇis! even if your bodies were arrow-proof, but your words do not behove armies, *i.e.*, are not to be feared, hence sinful. Let your path be unmastered, yet Bṛhaspati will show no favour to either [your arrow-proof bodies or your unwarrior-like words]." (6)

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ।। ७।।

अयं। निऽधिः। सरमे। अद्रिऽबुध्नः। गोभिः। अश्वेभिः। वसुऽभिः। निऽऋष्टः।
रक्षंति। तं। पणयः। ये। सुऽगोपाः। रेकु। पदम्। अलकं। आ। जगंथ।।

अन्वयः — सरमे! अयं कोषः गोभिः अश्वेभिः वसुभिः न्यृष्टः अद्रिबुध्नः। तं पणयः रक्षन्ति ये सुगोपाः। रेकु पदम् अलकम् आजगंथ।

विशिष्ट-पदानि— अश्वेभिः=अश्वैः। न्यृष्टः=नि + ऋष्टः, (ऋषी गतौ) प्राप्तः, सम्पन्न इत्यर्थः। अद्रिबुध्नः=अद्रिः पर्वतः बन्धको यस्य तादृशः (पर्वतैः समन्ताद् आवृत्तः)। रेकु (रेकृ शंकायाम्)=शंकितम्। पदम्=स्थानम्। अलकम्=(अलम्) व्यर्थम्।

पणयोऽग्रे कथयन्ति— हे सरमे! अयम् अस्मदीयः कोशः यो गोभिः अश्वैः धनैश्च नितरां प्राप्तोऽस्ति (सम्पन्नोऽस्ति), सः पर्वतैः समन्ताद् आवृत्तो वर्त्तते। एतं कोषं ते पणयः रक्षन्ति ये सुष्ठु गोपायितारः (रक्षकाः) सन्ति। त्वं तु इदं शंकास्थानं[1] प्राण-भयस्थानमिति यावत् व्यर्थमेव आगतवत्यसि।। ७।।

पणि आगे बोले— हे सरमे! हमारा जो यह कोष गायों, अश्वों और धनों (धन+राशि) से पूर्णतः भरा हुआ है, यह चारों ओर से पर्वतों से घिरा हुआ है। अच्छे-तगड़े रक्षक पणि इस कोष की रक्षा करते हैं। तू इस शंकायुक्त (प्राणभय-प्रद)[2] स्थान पर व्यर्थ ही आयी हो। अथवा इसका आशय यह है कि तुम्हें इस स्थान के विषय में शंका है कि यहाँ जो गौएं हैं वे सब हमारी हैं अथवा इन्द्र की हैं। पर यह जान लो कि यह सब हमारी हैं।। ७।।

---

१. रेकु पदम्=शंकितं गोभिः शब्दायमानं पदम् [अस्माभिः पालितं] स्थानम्। (सायणाचार्य)।

२. 'रेकु पदम्' का अर्थ सायणाचार्य के अनुसार है— [हमारे द्वारा पालित] वह स्थान जोकि गौओं के रंभाने से शब्दायमान है।

The Paṇis speak, "O Sarmā! This treasure—composed of kine, horses and riches—is [fully] secured in the mountains. The Paṇis—who are good watchers—protect this [treasure. Thus] you have approached this station suspiciously[1] and in vain. (7)

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अंगिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्।। ८।।

आ। इह। गमन्। ऋषयः। सोमऽशिताः। अयास्यः। अंगिरसः। नवऽग्वाः।
ते। एतं। ऊर्वं। वि। भजन्त। गोनाम्। अथ। एतत्। वचः। पणयः। वमन्। इत्।।

अन्वयः— पणयः! इह सोमशिताः अयास्यः नवग्वाः अंगिरसः ऋषय आगमन्। ते एतं गोनाम् ऊर्वं विभजन्त। अथ एतद् वचः वमन् इत्।

विशिष्ट-पदानि— सोमशिताः=सोमेन तीक्ष्णीकृताः (सोमपानेन प्रमत्ताः) अयास्यः=अश्रान्ताः अथवा 'अयास्य' इति नामा ऋषिः प्रथमः येषु ते। अंगिरसः= 'अंगिरस्' इति गोत्रजा ऋषयः। नवग्वाः=नव-गतयः। गोनाम्=गवाम्। ऊर्वम्=समूहम्। वमन्=वमन्तः, (अवद्यं वदन्तः, निन्द्यम् उद्गिरन्तः। इत्=एव।

सरमा कथयति— हे पणयः! इह (अस्मिन् युष्माकं स्थाने) सोमेन तीक्ष्णीकृताः (सोमपानेन प्रमत्ताः) [इन्द्रस्य] ऋषयः— अयास्यः, अंगिरसः, नवग्वाः इति नामानः त्रयः ऋषयः— आगमिष्यन्ति, यद्वा अंगिरसः (अंगिरो-वंशजाः) आगमिष्यन्ति ये अयास्यः (अश्रान्ताः), नवग्वाः (नवगतयः, नव-मास-व्यापि-सत्रमासीनाः वा) च सन्ति। ते [ऽत्रागत्य] गवां समूहस्य [परस्परं] विभागं कुर्युः। [यूयं] पणयः (एतानि (एतादृशानि) वचांसि [यत् 'त्वमत्र व्यर्थमागताऽसि' इति] वमन्तः उद्गिरन्त एव भवथ— इन्द्रस्य ऋषीणां शौर्यम् अवेक्ष्य यूयं जानीथ यद् अहमत्र व्यर्थं नागतवत्यस्मि इत्यभिप्रायः।।८।।

---

1. According to Sāyaṇa the words *'reku padam'* (suspicious place) stand for 'the [protected] place resounding with the lowing of the oxen'. Both Griffith and Wilson give the meaning of this word as 'lonely'.

सरमा कहती है—हे पणियो! यहां (आप लोगों के इस स्थान पर) सोमपान से प्रमत्त इन्द्र के तीन ऋषि—अयास्य, अंगिरस तथा नवग्व आएंगे, अथवा ये अंगिर-वंशज ऋषि आएंगे जोकि अयास्य (अश्रान्त) हैं, (अथवा इन ऋषियों में 'अयास्य' नामक पहला ऋषि है) तथा जो नवग्व हैं, अर्थात् नयी गति वाले हैं, अथवा जिन्होंने नौ मास तक व्याप्त रहने वाले सत्र में भाग लिया है। और वे ऋषि गायों के समूह का [आपस में] विभाजन कर [इन्हें हाँक ले जाएंगे।] तभी तुम पणिजन इस प्रकार के वचनों को कहना त्याग दोगे [कि 'तुम इस स्थान पर व्यर्थ आयी हो'।] अभिप्राय यह कि इन्द्र के शौर्य को देखकर तुम जान जाओगे कि मैं यहां व्यर्थ नहीं आयी हूँ।। ८।।

Sarmā speaks, "Inspirited with Soma, the three *ṛṣis* of Indra—by the name of Ayāsya, Aṁgirasa and Navagva-will come here, or the Aṁgirasas (the descendants of Aṁgiras), the *ṛṣis* of Indra—will come here, who are *ayāsya* (unwearing) and *navagva* (of active speed or of the nine months' rite). And they will part among them this stall of cattle. Then the Paṇis will wish these words vomitted (rejected), *i.e.*, they will revoke such words that I have come here in vain. (8)

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम।।९।।

एव। च। त्वम्। सरमे। आऽजगन्थ। प्रऽबाधिता। सहसा। दैव्येन। स्वसारम्। त्वा। कृणवै। मा। पुनः। गाः। अप। ते। गवाम् सुऽभगे। भजाम।।

अन्वयः— सरमे! एव च त्वं दैव्येन सहसा प्रबाधिता आजगन्थ, त्वा स्वसारं कृणवै। पुनः मा गाः। सुभगे! ते गवाम् अपभजाम।

विशिष्ट-पदानि— एव=एवम्। सहसा=बलेन। प्रबाधिता=प्रेरिता। आजगन्थ=आगतवत्यसि। कृणवै (समूहापेक्षमेकवचनम्)=कृणवामहै। गाः=गच्छ। अपभजाम=विभागं करवाम।

पणयः स्नेहं दर्शयन्तः वदन्ति— हे सरमे! यदि त्वम् एवं त्वदुक्तप्रकारेण दैव्येन बलेन (इन्द्र-विषयकेण बलेन) प्रबाधिता (प्रेरिता) सती अत्रागतवत्यसि [यत् 'येन केन प्रकारेण पणिपुरं प्राप्य तत्र स्थिता गाः दृष्ट्वा प्रत्यावर्तय' इति रूपेण देवैः प्रेरिता त्वमत्रागताऽसि], तर्हि वयं त्वां भगिनीं कृणवामहै। त्वम् [इन्द्रादीन्] मा प्रतिनिवर्तस्व। हे सौभाग्यशालिनि! गवां वयं तुभ्यं विभागं करवाव (गवाम् एकं भागं तुभ्यं दास्याम इत्यभिप्रायः)।। ९।।

पणिजन स्नेह व्यक्त करते हुए कहते हैं– हे सरमे। यदि तुम दिव्य (इन्द्र-विषयक) बल से प्रेरित होकर यहाँ आ पहुँची हो [कि जैसे-तैसे पणिपुर पहुँच कर वहां विद्यमान गौओं को देखकर लौट जाओ] तो हम तुम्हें भगिनी के रूप में मानते हैं। तुम [इन्द्रादि के पास] मत लौट जाओ। हम तुम्हारे लिए गौओं का विभाजन कर देते हैं, (गौओं का एक-भाग हम तुम्हें दे देते हैं)।। ९।।

The Paṇis speaks, "O Sarmā! You have indeed come here forced by celestial might, that is, Indra. You need not return, for we will make you our sister. O blessed one! we shall share the cattle with you." (9)

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः।। १०।।

न।अहम्।वेद।भ्रातृऽत्वं।नोइति।स्वसृऽत्वं।इंद्रः।विदुः।अंगिरसः।च।घोराः।
गोऽकामाः।मे।अच्छदयन्।यत्।आयम्।अप।अतः।इत।पणयः।वरीयः।।

अन्वयः— पणयः! अहं भ्रातृत्वं न वेद न स्वसृत्वम्। इन्द्रः घोराः अंगिरसश्च विदुः। गोकामाः मे अच्छदयन् यद् आयम् (अथवा यद् आयम् ये गोकामा अच्छदयन्।) अतः इतः वरीयः अपेत।

विशिष्ट-पदानि— अच्छदयन्=प्रेषयामासुः, आच्छादयन्ति वा। वरीयः=उरुतरं, दूरतरं वा।

सरमा कथयति— हे पणयः! न त्वहं [युष्माकं] भ्रातृत्वं जानामि नैव च [मम] स्वसृत्वम्। इन्द्रः भयंकरा अंगिरसश्च जानन्ति युष्माकं कपट-

पूर्ण-व्यवहारमिति शेषः। [गोकामा मे अच्छदयन् यद् आयम्' इत्येतद्-वाक्यस्य द्वौ अभिप्रायौ —] (१) गोकामाः (युष्माभिरपहताः गाः कामयमाना इन्द्रादयः) माम् प्रेषयामासुः यतोऽहम् [अत्र] आगच्छम्। यद्वा (२) यदाऽहम् अधुना इन्द्रादीन् प्रतिवर्तयामि तदा मदीयाः (मत्स्वामिनः) ते गाः कामयमानाः [युष्मदीयमेतत् स्थानम्] आच्छादयन्ति आक्रमणाय इति शेषः। एतस्मात् कारणाद् [गवाम्] उरुतरं [वृन्दं] परित्यज्य अपेत (अन्यत् स्थानं प्रति गच्छत। यद्वा अतिदूरं देशं गच्छत)।। १०।।

सरमा कहती—हे पणियो! न तो मैं [आप लोगों के] भ्रातृत्व को जानती हूं, और न ही [अपने] भगिनीत्व को। इन्द्र और भयंकर अंगिरस् [तुम लोगों के कपट-पूर्ण व्यवहार को] जानते हैं। 'गोकामा मे अच्छदयन् यद् आयम्' इस वाक्य के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ इसी अन्वय के आधार पर कि तुम लोगों द्वारा अपहृत गौओं को वापस लेने की कामना वाले इन्द्र आदि ने मुझे भेजा है, जिससे कि मैं यहां आयी हूँ। और दूसरा अर्थ 'यद् आयम् मे गोकामा अच्छदयन्' इस अन्वय के आधार पर कि जब मैं इन्द्र आदि के पास लौट कर जाती हूँ तो गौओं को वापस लेने की इच्छा वाले इन्द्र आदि मेरे स्वामी आप लोगों के इस स्थान को घेर लेंगे। इसी कारण गौओं के इस बृहत्समूह को छोड़कर कहीं अन्यत्र अथवा किसी दूर देश को चले जाओ।। १०।।

Sarmā says, "[O Paṇis!] I donot recognize [your] brotherhood, nor [my] sisterhood. Indra and the terrible Aṁgirasas know [your deceitful ways.] Desiring for kine, my [masters—Indra and others] have sent me, thus I came [here][1], Depart hence, O Paṇis! to a distant place. (10)

---

1. *'gokāmah me achadayan'* this sentence can alternatively be explained thus: when I go back to my masters [Indra and others,] they desiring for cows would overshadow [your habitation for attack on you people].

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।

बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः।।११।।

दूरं। इत। पणयः। वरीयः। उत्। गावः। यंतु। मिनतीः। ऋतेन।

बृहस्पतिः। याः। अविंदत्। निऽगूळ्हाः। सोमः। ग्रावाणः। ऋषयः। च। विप्राः।।

अन्वयः — पणयः! वरीयः दूरम् इत। मिनतीः गावः ऋतेन उद्यन्तु। या निगूळ्हाः बृहस्पतिः अविन्दत् सोमः, ग्रावाणः, विप्रा ऋषयश्च।

विशिष्ट-पदानि— वरीयः दूरम्=अतिदूरं देशम्। इत=गच्छत। मिनतीः=मीयमानाः, बाध्यमानाः। ऋतेन=सत्य-व्यवहारेण। निगूळहाः=नितरां पिहिताः। अविन्दत्-लप्स्यते।

अन्त्यायाम् अस्याम् ऋचायां सरमा कथयति— हे पणयः! [कंचिद्] अतिदूरं देशं गच्छत। [युष्माभिः] मीयमानाः (बाध्यमानाः) ताश्च गावः ऋतेन सत्य-व्यवहार-पूर्वकम् इति यावत् [पर्वताद्] उद्गच्छन्तु। [यूयम् इन्द्रस्य गाः पर्वतात् मुञ्चत इत्येष सत्य-व्यवहारः।] या गाः [इदानीं] नितरां पिहिताः ताः गाः [विमुक्तेरनन्तरं] बृहस्पतिर्लप्स्यते, सोमो लप्स्यते, [सोमाभिषवकारिणः] ग्रावाणश्च लप्स्यन्ते, मेधाविनः ऋषयश्च लप्स्यन्ते।।११।।

इस अंतिम ऋचा में सरमा कहती है— हे पणियो! [किसी] दूर देश को चले जाओ। [तुम लोगों से] बांधी गयी वे गौएं सत्य-व्यवहार-पूर्वक [पर्वत-प्रदेश से] चली जाएं, अर्थात् यही सत्य व्यवहार है कि तुम इन्द्र की गौओं को पर्वत से मुक्त कर दो। जो गौएं [अब तक पर्वत के नीचे] पूर्णतः ढपी हुई हैं तब [विमुक्त हो जाने के पश्चात्] इन गौओं को बृहस्पति प्राप्त करेगा, सोम प्राप्त करेगा, सोम का सेचन करने वाले पाषाण प्राप्त करेंगे तथा मेघावी ऋषि प्राप्त करेंगे।। ११।।

Sarmā speaks, "Go to a far-off distant place, O Paṇis! Let the barred Kine come forth in due order. And [as far as] the concealed kine [are concerned, they] will be found by Bṛhaspati, the Soma, the grinding stones and the wise ṛṣis [in due course of time]. (11)

विवृति

१. सारांश— इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति की गौएं पणियों ने– जोकि 'वल' नामक असुर के गण थे– चुरा लीं और इन्हें ले जाकर एक गुहा में छिपा दिया। बृहस्पति ने इन्द्र से गौएं चोरी हो जाने की बात कही तो उसने गौओं को ढूँढने के लिए सरमा नामक देवशुनी को यह काम सौंपा। वह एक बड़ी नदी पार कर वलपुर पहुँच गयी और उसने एक गुप्त स्थान में ये गौएं देख लीं। जब पणियों को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने सरमा से मैत्री करने के लिए बातचीत की, जोकि उपर्युक्त सूक्त में वर्णित है।

२. ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त (१०.१०८) के आधार पर बृहद्देवता (८.२४-३६क) में सरमा-पणि से सम्बन्धित कथा इस प्रकार से कही गयी है–

'पणि' कहाने वाले असुर रसा नदी के तट पर उधर दूर रहा करते थे। वे इन्द्र की गौएं हाँक कर ले गये और उन्हें अच्छी तरह छिपा कर रखा। बृहस्पति ने यह देखा तो उन्होंने इन्द्र के पास जाकर उनसे यह बात कही। पाक [नामक राक्षस के] हन्ता (इन्द्र) ने सरमा [नामक देवशुनी] को उनके पास दूती के रूप में भेजा। (२४,२५)

[ऋग्वेद के इस सूक्त के अन्तर्गत] 'किमिच्छन्ती सरमा' आदि विषम-संख्यांक मन्त्रों (मन्त्र-संख्या १, ३, ५, ७, ९,) के द्वारा पणि असुरों ने उससे पूछा, "हे कल्याणि! कहाँ से / कब [आयी हो?] तुम्हारा स्वामी कौन है? यहाँ तुम क्या करने आयी हो?" (२६)

सरमा उनसे बोली कि मैं इन्द्र की दूती हूँ। मैं आप लोगों को, आपके गोष्ठ को तथा इन्द्र की गायों को ढूँढती-ढूँढती यहाँ आ पहुँची हूँ। इन्द्र [अपनी गौओं के विषय में] पूछ रहे थे। (२७)

यह जानकर कि यह इन्द्र-दूती है, पापात्मा असुरों ने इसे कहा कि "अब कहीं मत जाओ। हमारी बहन बनकर यहाँ रहो। हम इन गौओं में से अपना-अपना भाग बाँट लेते हैं। अब हमारा अहित मत सोचना।" इस पर सरमा इस सूक्त की सभी सम-संख्यांक (२, ४, ६, ८, १०) ऋचाओं

तथा ११वीं ऋचा द्वारा बोली, "मुझे न तो आप लोगों का भगिनीत्व अभीष्ट है और न धन। पर मैं उन गौओं का दूध अवश्य पीऊँगी जिन्हें आपने छिपा रखा है।" (२८-३०)

इस पर असुरों ने हामी भरी और उसके लिए दूध ले आए। उसने मनभाता दूध छक कर पिया जो कि उत्कृष्ट, अत्यन्त उजला तथा पुष्टिकारक था। तब वह रसा नदी को पार कर गयी, जो सौ योजन (चार सौ कोस[1]) पर्यन्त विस्तृत थी। इसके पार उधर दूर उनका (इन्द्र आदि का) दुर्जेय नगर था। इन्द्र ने उससे कहा, "मुझे आशा है कि तुमने [हमारी] गौएं देखी हैं।" (३१-३३)

किन्तु उसने असुरों के [दूध के] प्रभाव से इन्द्र को उत्तर दिया, "नहीं।" इन्द्र ने क्रुद्ध होकर इसे पाँव से एक ठोकर मारी। तभी सरमा ने सारा दूध वमन कर दिया, और [इन्द्र के] भय से काँपती हुई पुनः पणियों के पास पहुँच गयी। हरिवाहन (ख़ाकी रंग के घोड़ों का सवार, अर्थात् इन्द्र) भी सरमा के पगों का अनुसरण करता हुआ रथ द्वारा वहाँ जा पहुँचा, और उसने पणियों का वध किया तथा अपनी गौएं वापस हाँक ले आया। (३४-३६क)

उल्लेख्य है कि ऋग्वेद के उक्त सूक्त में प्रस्तुत पणि-सरमा-कथा बृहद्देवता में किंचिद् भिन्न रूप में प्रस्तुत हुई है—विशेषतः पणियों द्वारा सरमा को दूध पिलाना तथा इन्द्र से भेंट करने के पश्चात् सरमा द्वारा दूध का वमन कर देना।

३. पणि शब्द की व्युत्पत्ति—

(क) पणि शब्द √पण् (व्यापार करना) से निष्पन्न है। पणि अर्थात् वणिक्[2] (व्यापारी)। वणिक् शब्द इसलिए कहाता है कि यह व्यापार की वस्तुओं को स्वच्छ करता है—**पणिः वणिग् भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनेक्ति** (निरुक्त २.१७)।

---

१. कोस = भारत देश के किसी भूभाग में डेढ़ मील और किसी में दो मील।
२. वणिक् शब्द पणि शब्द से व्युत्पन्न प्रतीत होता है (प को ब, फिर ब को व)।

उक्त कथन पर निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य के शब्दों में— **पणिः पणिति व्यवहारं करोति** (पणि इसलिए कहाता है कि वह व्यापार करता है)। **पणिर्वणिग् भवति, न हि विशुद्धेन कर्मणा व्यवहरति** (पणि अर्थात् व्यापारी, पर यह ईमानदारी से काम नहीं करता)। **नेनेक्ति नित्यकालं शुचि करोति मूल्यार्हं स्याद् इति** (नेनेक्ति अर्थात् वस्तु को स्वच्छ करता है ताकि वह अधिक मूल्यवान् हो जाए)।

(ख) 'पणि' शब्द स्त्रीलिंग में बाज़ार का वाचक है और पुंल्लिंग में कृपण का, जो यज्ञ में आहुतियों की बचत करता है तथा दक्षिणा देने में कंजूस है। यह शब्द लोभी और अपावन (पापी) मनुष्य का भी वाचक है।[१] पणि ऐसे ठग (चोर) को भी कहते हैं जो ऊपर से पुरोहित दिखाई देता है। 'पणि' से एक तात्पर्य यह भी है—असुरों का ऐसा वर्ग जो ईर्ष्यालु हैं तथा जो सदा अपने ख़ज़ाने की रक्षा करता रहता है।[२] इन्हें वृक के समान ख़ूख़ार भी कहा गया है।[३]

४. सरमा शब्द की व्युत्पत्ति—

पणि के बाद अब 'सरमा' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करें। यास्क ने सरमा की व्युत्पत्ति सृ धातु से दी है—**सरमा सरणाद्** (सरमा गतिशील होती है)। इसकी पुष्टि में इस सूक्त का पहला मन्त्र प्रस्तुत किया है तथा वृत्ति में लिखा है—"**किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट् (प्रापट्)**" ("सरमा क्या चाहती हुई इस स्थान तक चली आयी है?") 'चली आयी है'—**सरमा सरणाद्**।

'सरमा' शब्द यजुर्वेद ३३.५९ में प्रयुक्त हुआ है। उव्वट तथा महीधर के कथनानुसार यहाँ यह शब्द वाणी (देववाणी) का वाचक है—'सरमा

---

१. संस्कृत-हिन्दी-कोश (वी० एस० आप्टे)

२. संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी (एम० एम० विलियम्स)

३. **जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥** ऋग्० ७.५१.१४

वाक् त्रयीलक्षणा' (उव्वट), 'सह रमन्ते देवा विप्रा वा यस्यां सरमा वाक् .... सरमा त्रयलक्षणा वाक्।

—स्वामी दयानन्द जी ने अपने ऋग्वेद-भाष्य के अन्तर्गत १.६२.३ में प्रयुक्त 'सरमा' शब्द का अभिप्राय बताया है—'विद्याधर्मादि बोधों को उत्पन्न करने वाली माता'।

—योगिराज अरविन्द के अनुसार सरमा 'उषा' का प्रतीक है जो कि सत्यान्वेषिणी अन्तर्ज्ञान-शक्ति-स्वरूपा है। वह मानव के अवचेतन रूपी गुहा में प्रवेश करके उन गौओं (सूर्य की रश्मियों) को ढूँढ निकालती है जिन्हें हमारी कृपण (अनुदार) इन्द्रियों रूपी पणियों ने छुपा रखा है।[१] इसके अतिरिक्त उनके अनुसार सरमा और पणियों के मध्य विवाद से तात्पर्य है अन्धकार और प्रकाश की शक्तियों के बीच होने वाला संघर्ष।

—आर० टी० एच० ग्रीफ़िथ ने ऋग्वेद १.६२.३ के अनुवाद की टिप्पणी में पणियों को रात्रि का 'अन्धकार' तथा सरमा 'सूर्य की किरणें' कहा है।

—आचार्य सत्यव्रत राजेश ने इस आख्यान को निम्नोक्त रूपक में प्रस्तुत किया है—इन्द्र सूर्य है, सरमा उषा है, गौएं किरणें हैं तथा पणि से अभिप्रेत अन्धकार है। उषा रूप सरमा तमोरूप पणियों से सूर्य-किरणों को लौटा लाती है।[२]

ऋग्वेद के निम्नोक्त मन्त्रों में प्रयुक्त सरमा शब्द से प्रतीत होता है कि यह शब्द 'वृष्टि से पूर्व उस बिजली का वाचक है जो बादल में कभी यहाँ तो कभी वहाँ कौंधती-कड़कती रहती है (निरुक्त-मीमांसा, पृष्ठ ३४८)—

(क) विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
(ऋग्० ३.३१.६-क)

(ख) अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते।
(ऋग्० ४.१६.८)

इस प्रकार सरमा शब्द के अन्य अनेक प्रतीकात्मक अर्थ भी किए जाते हैं।

---

१. वेदरहस्य, पृष्ठ १०२ तथा १५६।
२. 'वेदों में इतिहास नहीं' (वैद्य रामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति, आर्य समाज, करोल बाग़, दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तिका)।

५. कौन थे पणि[1]

कुछ पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के अनुसार पणि परशियन थे तथा अन्य विद्वानों के अनुसार वे फ़िनिशियन[2] थे जो कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में काबुल के रास्ते से आये और सिन्धु घाटी में जाकर बस गये। गौएं पणियों की विशेष सम्पत्ति थी— ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में पणियों के साथ गौओं का भी उल्लेख है।[3] खेतीबाड़ी करना तथा गायों और घी का व्यापार करना इनका पेशा था। वे सोम (सोमलता)[4] के व्यापारी भी कहे जाते हैं। माना जाता है कि इनके पास स्वर्ण प्रचुर मात्रा में होता था। ये अपना व्यापार वैज्ञानिक ढंग से करते थे। ये लेखन-कला से अभिज्ञ थे तथा अपना हिसाब-किताब अपनी एक विशिष्ट लिपि में लिखते थे। शायद यह लिपि उधर फ़िनिशियन लिपि से और इधर सिन्धु घाटी की लिपि से प्रभावित हो या मेल खाती हो। हड़प्पा और लोथल आदि में इन्होने अपनी कालोनियाँ बसायी थीं। आर्यों के आगमन के

---

१. इस अंश को लिखने में प्रो० मेक्डॉनल-कृत 'वैदिक माइथालोजी' ('वैदिक देवशास्त्र' नाम से डॉ० सूर्यकान्त द्वारा अनूदित, पृष्ठ ४०७-४०८) तथा निम्नोक्त लेखों से विशेष सहायता ली गयी है—
   (1) Paṇis and Jains (Dr. S.P. Narang),
   (2) Paṇis in the light of new Harappan Knowledge (Dr. Ramesh C. Jain),
   (३) पणि और श्रमण-संस्कृति, (प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी),
   (४) क्या पणि क्षत्रिय थे (डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री),
   (५) पणि जाति और श्रमण-परम्परा (डॉ० गोकुलप्रसाद जैन)।

२. फ़िनिशिया (Phoenicia) पूर्वी मैडिटेरेनियन समुद्र-तट पर बसा प्राचीन देश, आधुनिक लेबनान के समुद्र-तट के पास पट्टी जैसा भूखण्ड।

३. यथा— ....**निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।** (ऋग्० १.३२.११)

४. कहा जाता है कि सोमलता तद्युगीन भारत के उत्तरपश्चिम में मुंजवत् शिखर पर पायी जाती थी। संभवतः यह शिखर काबुल देश के समीप कश्मीर से दक्षिण-पश्चिम में स्थित कतिपय शिखरों में से एक हो।

पश्चात् आर्यों ने इन्हें सिन्धु घाटी से मार भगाया, और वे दक्षिण में महाराष्ट्र और कर्नाटक में; और पूर्व में उज्जैन में, फिर वहां से मगध में और बाद में तमिलनाडू में जा बसे।

उपर्युक्त धारणा के विपरीत संभावना यह भी है कि ये भारत के बाहर से न आकर भारत की ही किसी आदिम जाति से सम्बन्ध रखते थे।

पणि मूलतः व्यापारी थे। ये लोग अपने पण्य (बेचने योग्य माल) को जलपोतों द्वारा फ़ारस की खाड़ी तक ले जाते और वहां सुमेरी[1] तथा मिश्री व्यापारियों के साथ लेन-देन करते थे। इसी प्रकार पणियों का सम्बन्ध सीरिया के साथ भी स्वीकार किया जाता है।

पण[2] (मुद्रा, करेंसी), पणिक् (वणिक्), पण्य (सौदा) और विपणि (बाज़ार)—इन सभी शब्दों से द्योतित होता है कि वे सफल और समृद्ध व्यापारी थे। उल्लेख्य है कि पण और पशु (गौ) पणियों द्वारा प्रयुक्त व्यापार के—लेन-देन के—शब्द हैं। पण तो मुद्रा, सिक्का, अथवा करेंसी है ही, पशु (गौ) भी करेंसी के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में पणि शब्द के अतिरिक्त देवपणि शब्द भी मिलता है। अनुमानतः, देवपणि शब्द आर्य व्यापारियों केलिए प्रयुक्त होता होगा, और पणि शब्द अवैदिक व्यापारियों के लिये। निरुक्त (११.२५) के अनुसार पणि असुर थे। इनका उल्लेख दास और दस्यु के साथ भी आता है। इन्हें अन्तरिक्ष के सर्वोच्च पटल पर रहने वाला दैत्य का एक वर्ग माना गया है। यह वर्ग आरम्भ में इन्द्र का शत्रु था, और बाद में इन्द्र के सहकारी सोम, अग्नि, बृहस्पति और अंगिरस् सभी का शत्रु बन गया। पणियों के विषय में कहा गया है कि उन्होंने लाख प्रयत्न किया, पर वे मित्र, वरुण जैसी महत्ता न पा सके।[3]

---

१. सुमेर (Sumer) = बैबिलोनिआ (ईराक) का प्राचीन जनपद।
२. पण = ८० कौड़ी के मूल्य का सिक्का — **अशीतिभिर्वराटकैः पण इत्यभिधीयते।**
३. **न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम्।**
(ऋग्० १.१५१.९-ख)

पणि आर्य-देवताओं की पूजा नहीं करते थे और न ही पुरोहित-वर्ग का सम्मान करते थे। यज्ञ आदि कर्मकाण्ड में भी इनकी आस्था नहीं थी। वस्तुतः, उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि मानव से बढ़कर कोई सर्वोच्च सत्ता हो जो उन पर शासन करे या जगत् का संचालन करे। पणियों का एक महान् नेता माना गया है जिसका नाम वल है। वल दुधारु गौओं के परिधाता थे। इन्द्र ने इन्हें रव (गर्जन) करते हुए मारकर उनकी गौएं छीन लीं।[१] आर्यजन पणियों को स्वार्थी कहते थे और भेड़िये के समान लोभी।[२] पणि लोग दक्षिणा देने में कृपण माने जाते थे। वे कटुभाषी थे। इन्हें आर्यों का घोर शत्रु मानते हुए ऋग्वेद (६.५३) के तीन मन्त्रों (५, ६, ७) में पूषा देवता से प्रार्थना की गई है कि वे इनका विनाश करें—

परि॑ तृन्धि पणी॒नामार॑या हृद॑या कवे।
अथे॑म॒स्मभ्यं॒ रन्धय।। (ऋग्० ६.५३.५)

(हे प्रतिभाशाली (पूषन्)! आप पणियों के हृदयों (छातियों) पर (आरया) कोड़े से, (परि तृन्धि) सब ओर से, प्रहार करें तथा इन्हें हमारे लिए (रन्धय) पीड़ित करें।)

वि पू॑ष॒न्नार॑या तुद प॒णेरि॑च्छ हृ॒दि प्रि॒यम्।
अथे॑म॒स्मभ्यं॒ रन्धय।। (ऋग्० ६.५३.६)

(हे पूषन्! आप (पणेः अर्थात् पणिम्) पणि को कोड़े से (तुद) कष्ट दें, हमारे लिए उन्हें पीड़ित करें, [और इस प्रकार] हमारे हृदय केलिये प्रिय इच्छा करें (हमारी यही हार्दिक एवं अभीष्ट अभिलाषा है कि पणि आपके द्वारा पीड़ित हों— इससे हमें अभीष्ट सुख की प्राप्ति होगी।)

---

१. इन्द्रो॑ व॒लं र॑क्षि॒तारं॒ दुघा॑नां क॒रेणे॑व॒ वि च॑कर्ता॒ रवे॑ण।
स्वेदा॑ञ्जिभिरा॒शिर॑मि॒च्छमा॑नोऽरो॑दयत् प॒णिमा गा अमुष्णात्।।
(ऋग्० १०.६७.६)

२. ग्रावा॑णः सोम नो॒ हि कं॑ सखित्व॒नाय॑ वाव॒शुः।
ज॒ही न्य१॒॑त्रिणं॑ प॒णिं वृको॒ हि षः।। (ऋग्० ६.५१.१४)

आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे।
अथेमस्मभ्यं रन्धय।। (ऋग्० ६.५३.७)

(हे प्रतिभाशाली (पूशन्)! आप पणियों (व्यापार करने वाले) के (किकिरा) व्यवस्था-पत्रों (संभवत: बही-खातों) को (आरिख) समन्तात् अथवा अच्छी प्रकार से लिखो, तथा दुष्टों के हृदयों को अति पीड़ित करो। इसके अनन्तर हम लोगों के लिए (ईम) सुख करो, अर्थात् हमें सुखी बनाओ।)

क्या पणियों का सम्बन्ध परवर्ती श्रमण-संस्कृति के साथ बना रहा?— इस विषय में कहा जाता है कि क्योंकि पणि ब्रह्म-सम्प्रदाय[1] से सम्बन्ध रखते थे और यह सम्प्रदाय निरामिष भोजन का पक्षपाती है। अत: श्रमण-सम्प्रदाय (विशेषत: श्वेताम्बर सम्प्रदाय) के लोग इनसे सम्बन्धित रहे होंगे। इन दोनों सम्प्रदायों में शुद्धता, पवित्रता और शारीरिक स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता है।

पणि अहिंसावादी थे। इन्द्र इनका घोर शत्रु था। एक बार देवों ने, पणियों द्वारा गौ (दूध) में निगूढ घृत को, ढूँढ लिया,[2] अर्थात् देवों को यह ज्ञात हो गया पणि दूध से घृत बनाना जानते हैं। पणियों के पास स्वर्ण प्रचुर मात्रा में था, और इन्द्र उनके ख़ज़ाने तक पहुंचने के लिए अपने जासूस भेजता रहता था। ऋग्वेद के इस (१०.१०८) सूक्त में प्रस्तुत पणि-सरमा-संवाद में सरमा एक जासूस ही तो है। इन्द्र के नृशंसतापूर्ण व्यवहार से पणि लोग छिपते-फिरते रहते थे। एक समय ऐसा भी आया

---

१. ब्रह्म-सम्प्रदाय का क्षेत्र पुष्कर से गुजरात तक जिसमें सौराष्ट्र और सिन्ध भी सम्मिलित माना जाता है।

२. त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्। (ऋग्० ४.५८.४-क) (संभवत: इससे यह आशय अभिप्रेत है कि पणियों ने यह ज्ञात कर लिया था कि दूध में घृत से दधि, दधि से नवनीत और नवनीत से घृत— इन तीन स्थितियों से गुज़ार प्राप्त किया जाता है। देवों को पणियों की यह विद्या ज्ञात हो गयी।)

कि इन्द्र ने पणियों को, और उन जातियों को जिन्होंने पणियों का साथ दिया था, खदेड़ दिया। ऋग्वेद में इनके रोने-चीखने का उल्लेख मिलता है।

खदेड़े जाने के बाद वे महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, उज्जैन, मगध, नेपाल आदि की ओर जाकर बस गये। इस संघर्षमय जीवन में इनकी धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन आने से कुछ तो जैन कहाए और कुछ पाशुपत (मिश्रित मिले-जुले)। उक्त जैन (जिन+अण्, जीते गए) शब्द आर्यों की बोलचाल में आगे चलकर संभवतः व्यंग्य और घृणा का व्यपदेशक बन जाने के कारण यह शब्द असुर, राक्षस आदि का वाचक बन गया।

११. भिक्षु-सूक्त

(ऋग्वेद १०.११७)

ऋग्वेदस्य दशम-मण्डलस्य सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्

नवर्चस्यास्य सूक्तस्याङ्गिरसो भिक्षुर्ऋषिः। धनान्नदानं देवता। प्रथमा-द्वितीय-योर्ऋचोर्जगती, तृतीयादि-सप्तानाञ्च त्रिष्टुप् छन्दसी।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल का यह ११७वाँ है। इस सूक्त में कुल ९ ऋचाएं हैं। इनका ऋषि आङ्गिरस भिक्षु है, और देवता धन तथा अन्न का दान है। पहली दो ऋचाएं जगती छन्द में हैं, और शेष सात ऋचाएं त्रिष्टुप् छन्द में।

न वा उ॑ दे॒वाः क्षुध॒मिद्व॒धं द॑दुरु॒ताशि॑त॒मुप॑ गच्छंति मृ॒त्यवः॑।
उ॒तो र॒यि पृ॑ण॒तो नोप॑ दस्यत्यु॒तापृ॑णन्मर्डि॒तारं॒ न विं॑दते।।१।।

न। वै। ऊ॒म् इति॑। दे॒वाः। क्षुध॑म्। इत्। व॒ध॑म्।
द॒दुः। उ॒त। आशि॑तम्। उप॑। ग॒च्छं॒ति॒। मृ॒त्यवः॑।
उ॒तो इति॑। र॒यिः। पृ॒ण॒तः। न। उप॑। द॒स्य॒ति॒।
उ॒त। अपृ॑णन्। म॒र्डि॒तार॑म्। न। विं॒द॒ते॒।।

अन्वयः — देवाः क्षुधं न, वा वधं ददुः। आशितम् अपगच्छन्ति मृत्यवः। उतो पृणतः रयिः न उपदस्यति। उत अपृणन् मर्डितारं न विन्दते।

विशिष्ट-पदानि — क्षुधम् = क्षुधाम्। ददुः = प्रायच्छन्। आशितम् = भुंजानम्। अपगच्छन्ति = प्राप्नुवन्ति। मृत्यवः = मरणानि। उतो (उत) = अपि। रयिः = धनम्। पृणतः = प्रयच्छतः। उपदस्यति = उपक्षीयते, अल्पो जायते। अपृणन् = अप्रयच्छन्। मर्डितारम् = सुखयितारम्।

[एकः क्षुधार्तः जनः कथयति-] देवाः [जनेभ्यः मरण-हेतुभूतां] क्षुधां न प्रायच्छन्, अपितु वधं (मरणं) प्रायच्छन्, यतः मृत्युः तु तस्यापि जनस्य

भवति यः [परेभ्यः अयच्छन् स्वयमेव] भक्षयति। [मरणं तु क्षुधार्तस्य, भोक्तुश्च द्वयोरेव भवति, अतः एतद्विषये द्वौ एव समानौ स्तः।] अपि च, [परेभ्यः] यच्छतः जनस्य धनं न अल्पं जायते। परेभ्यः अप्रयच्छन् जनस्तु न एतादृशं कञ्चिज्जनं लभते यः एतस्य सुखयिता भवेत् (दुष्काले प्राप्ते सति तस्य सहायको भवेत् इत्याशयः)।। १।।

[एक क्षुधार्त जन कहता है—] देवों ने [मानवों को मृत्यु की कारणभूत भूख नहीं दी, अपितु मरण दिया है, क्योंकि मृत्यु तो उस जन की भी होती है जो [दूसरों को दिये बिना] खाता है। [इस दृष्टि से दाता और भोक्ता दोनों समान हैं कि मृत्यु दोनों की होती है।] यों भी, दूसरों को देने वाले जन का धन अल्प नहीं हो जाता। पर हाँ, दूसरों को न देने वाले जन को ऐसा कोई जन नहीं मिलता जो उसे सुख दे (समय पड़ने पर उसकी सहायता करे)।। १।।

The gods have not assigned hunger as the cause of death, for deaths approach even to the well-fed man. The riches of one who gives never waste away. He who does not give anything to someone finds none to comfort him. (1)

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विंदते।।२।।

यः। आध्राय। चकमानाय। पित्वः। अन्नऽवान्।-सन्। रफिताय। उपऽजग्मुषे।
स्थिरं। मनः। कृणुते। सेवते। पुरा। उतो इति। चित्। सः। मर्डितारम्। न। विंदते।।

अन्वयः— यः अन्नवान् सन् आध्राय पित्वः चकमानाय रफिताय उपजग्मुषे स्थिरं मनः कुरुते, पुरा सेवते, उतो चित् स मर्डितारं न विन्दते।

विशिष्ट-पदानि— आध्राय (आधार्यते य इति आर्धः दुर्बलः, तस्मै)=दुर्बलाय। पित्वः (पितून्)=अन्नानि। चकमानाय=अभिलषितवते। रफिताय=दारिद्र्येण हिंसिताय पीडिताय इत्याशयः। उपजग्मुषे=गृहं प्रति आगताय। स्थिरं=कठोरम्। पुरा=पुरस्ताद्।

यो जनः अन्नवान् [धनवान् चापि] सन् दुर्बलाय, अन्नानि अभिलषितवे, पीडित-जनाय तस्य गृहमागताय अपि स्व-मनः कठोरं कृणुते— न दातुम् इच्छति किञ्चित् कस्मैचित् इत्याशयः, [न केवलम् इत्येव,] अपितु तस्य पुरस्तात् [अन्न-वस्त्रादीन्] भोगान् सेवते, असौ न कदापि यथाकालं स्व-सुखयितारं (सहायकं) लब्धुं शक्नोति।। २।।

जो मनुष्य अन्नवान् [तथा धनवान्] होता हुआ भी किसी दुर्बल मनुष्य केलिए, अन्न की अभिलाषा रखने वाले के लिए, उसके घर तक आ गये मनुष्य के लिए अपना मन कठोर बना लेता है– किसी को कुछ भी नहीं देना चाहता, [केवल इतना ही नहीं,] अपितु उसके सामने ही अन्न, वस्त्र आदि का उपभोग करने लगता है, उसे [समय पड़ने पर] कोई सुखदाता (सहायक) जन प्राप्त नहीं होता।। २।।

He who, though possessed of food, hardens his heart against someone—who is feeble, craves for bread, is in miserable condition and has come to him for help, and also pursues his own enjoyment even before him, such a man finds no one to comfort him. (2)

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।

अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।। ३।।

सः। इत्। भोजः। यः। गृहवे। ददाति। अन्नऽकामाय। चरते। कृशाय।

अरम्। अस्मै। भवति। यामऽहूतौ। उत। अपरीषु। कृणुते। सखायम्।।

अन्वयः— स इत भोजः यः गृहवे अन्नकामाय चरते कृशाय चरते ददाति। यामहूतौ अस्मै अरम् भवति। उत अपरीषु सखायं कृणुते।

विशिष्ट-पदानि— भोजः (भोक्ता)=दाता। गृहवे=प्रतिग्रहीत्रे उत्तमपात्राय इत्याशयः। यामहूतौ (यामाः गन्तारः देवाः आह्वयन्ते यत्र सा यामहूतिः=यज्ञः, तस्मिन्)=यज्ञे। अरम् (अलम्)=पर्याप्तम्। अपरीषु=अपरेषु, शत्रुषु।

दाता तु स एव यः उत्तम-पात्राय, अन्नं याचमानाय, भिक्षावृत्तिमाचरते, दुर्बलाय ददाति। सम्पादित-यज्ञेषु तस्मै फलं पर्याप्तं भवति स्व-सम्पादित-यज्ञानां

फलम् एतादृश-जनः पर्याप्तं प्राप्नोति इत्याशयः। [न केवलमित्येव, अपितु] असौ शत्रुषु अपि सखिभावं करोति— उत्पादयति इत्याशयः।। ३।।

दाता तो वह जो उत्तम-पात्र, अन्न की कामना करने वाले, भिक्षावृत्ति का आचरण करने वाले तथा दुर्बल जन के लिए देता है। उसके द्वारा सम्पादित यज्ञों का फल भी उसे पर्याप्त रूप में मिलता है। [केवल इतना ही नहीं,] वह तो शत्रुओं को भी अपना मित्र बना लेता है।। ३।।

Bounteous is he who gives to someone who is suppliant, desiring food, wandering about and distressed; for him there is an ample reward for the Yajñas (sacrifices) he performs. Moreover, he establishes friendship with his adversaries. (3)

न स सखा यो न ददाति सख्यै सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणंतमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।४।।

न। सः। सखा। इयात्। न। ददाति। सख्यै। सचाऽभुवे। सचमानाय। पित्वः। अप। अस्मात्। प्र। इत्यात्। न। तत्। ओकः। अस्ति। पृणंतम्। अन्यम्। अरणम्। चित्। इच्छेत्।।

अन्वय— यो सख्ये, सचाभुवे, सचमानाय, पित्वः न ददाति, स सखा न। अस्मात् अपप्रेयात्। तद् ओकः न अस्ति। अन्यं पृणन्तम् अरणं चिद् इच्छेत्।

विशिष्ट-पदानि— सचाभुवे=सदा पार्श्ववर्तिने। यचमानाय=सेवक-जनाय। पित्वः=अन्नानि। अपप्रेयात्=अपगच्छेत् (अपगच्छति)। ओकः=सदनम्। पृणन्तम्=प्रयच्छन्तम्। अरणम्=स्वामिनम्। इच्छेत्=इच्छति।

यः जनः मित्राय, सदा पार्श्ववर्तिने, सेवमानाय (शरणीभूताय) जनाय च अन्नादीनि न यच्छति, स कस्यचिदपि सखा न अस्ति। एतादृशात् जनात् अन्यः जनः अपगच्छति। तस्मिन् गते सति, अदातुः सदनं 'सदनं' कथयितुम् न युज्यते— सदनं तु तदेव यद् बन्धुभिः परिवृत्तं भवेत् इत्याशयः। सः गतः जनः कश्चिद् अन्यम् [अन्नानि] प्रयच्छन्तं स्वामिनम् एव कामयते।। ४।।

जो मनुष्य अपने मित्र को, अपने साथ सदा रहने वाले को तथा सेवा करने योग्य (शरण में आये जन को) अन्न आदि नहीं देता, वह किसी का मित्र नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्य से अन्य मनुष्य दूर हो जाते हैं, और उनके चले जाने पर उस अदाता जन का घर 'घर' कहाने योग्य नहीं होता—'घर' तो वह होता है जो बन्धु-बान्धवों से घिरा रहे। [उसके घर से] चला गया मनुष्य किसी और [अन्न आदि] देने वाले स्वामी की कामना करता है।। ४।।

He can not be a friend of anyone who does not give food, etc., to his friend, to an associate and to a refuge-seeker or servant. The servant turns away from him, as his dwelling is not a fit place to live in. He seeks another lord who is more liberal. (4)

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्याद्राघीयांसमनु पश्येत पंथाम्।
ओ हि वर्तंते रथ्यैव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठंत रायः।। ५।।

पृणीयात्। इत्। नाधमानाय। तव्यान्। द्राघीयांसे। अनु। पश्येत। पंथाम्। ओ इति। हि। वर्तंते। रथ्याऽइव। चक्रा। अन्यम् अन्यम्। उप। तिष्ठंत रायः।।

अन्वयः— तव्यान् नाधमानाय पृणीयात्। द्राघीयांसं पन्थाम् अनुपश्येत। उ हि रथ्या चक्रा इव आवर्तन्ते। रायः अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्ते।

विशिष्ट-पदानि— तव्यान् (तवीयान्)=अतिशयेन प्रवृद्धः, धनाढ्यो जनः इति यावत्। नाधमानाय=याचमानाय। पृणीयाद् (√पृ पालन-पूरणयोः)= पालन-पोषणाय दद्यात्। द्राघीयांसम्=दीर्घतमम्। रायः=धनानि।

धनाढ्यो जनः याचमानस्य जनस्य पालन-पोषणार्थम् तस्मै [अन्न-वस्त्रादीनि] दद्यात्। तेन दानिना दीर्घतमः पन्थाः द्रष्टव्यः— तेन ज्ञातव्यं यद् सुपात्राय दानं सुपरिणामकरं जायते। एतानि [धनानि तु] खलु रथस्य चक्राणि इव आवर्तन्ते — कदाचित् उपरि कदाचित्तु अधोदशां गच्छन्ति। धनानि अन्येषु अन्येषु जनेषु समवेतानि भवन्ति।। ५।।

धनाढ्य व्यक्ति याचक को उसके भरण-पोषण के लिए [अन्न-वस्त्र आदि] दे। दाता को सुदीर्घ पथ देखना चाहिए— उसे जानना चाहिए कि सुपात्र को दिये गये दान का परिणाम बहुत अच्छा होता है। धन आदि तो रथ के चक्र के समान (कभी ऊपर तो कभी नीचे) घूमते रहते हैं। ये एक से दूसरे व्यक्ति के पास जा पहुँचते हैं।। ५।।

The rich man should satisfy his poor implorer. He should look forward to a more protracted route, that is, he should know that charity given to a deserving person brings good fruit for both the giver and the receiver. Riches in fact revolve from one man to another, as the wheels of a chariot turn round. (5)

मोघमन्नं विंदते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्यं।
नार्यमणं पुष्यंति नो सखायं केवंलाघो भवति केवलादी।।६।।

मोघं। अन्नं। विंदते। अप्रऽचेताः। सत्यं। ब्रवीमि वधः। इत्। सः। तस्यं।
न। अर्यमणं। पुष्यंति। नो इति। सखायं। केवलऽअघः। भवति केवलऽआदी।।

अन्वयः— अप्रचेताः अन्नं मोघं विन्दते। सत्यं ब्रमीमि स तस्य वध इत। न अर्यमणं पुष्यति, नो सखायम्, केवलादी केवलाघो भवति।।६।।

विशिष्ट-पदानि— अप्रचेताः=अप्रकृष्ट-ज्ञानः, ज्ञानशून्यः, अनुदारचित्तः इत्याशयः। मोघम्=व्यर्थम्। स=एतत्। अर्यमणम्=देवम् (देवान् इत्यभिप्रायः)। केवलादी=अन्येभ्यः अददत् एकाकी एव भुंजानः। केवलाघः=केवल-पापवान्।

ज्ञानशून्यः अनुदारचित्तः इत्याशयः जनः अन्नं व्यर्थमेव आप्नोति। अहं [आंगिरसः] ऋषिः सत्यं वदामि। एतत् (अनुदार-चित्तत्वं) तु तस्य मरण-सदृशम् एव। यः न तु देवान् [हविष्प्रदानेन] पोषयति, न च मित्रवर्गाय किंचित् प्रयच्छति, स एकाकी एव भुंजानः जनः केवल-पापवान् कथ्यते।।६।।

ज्ञानशून्य (अनुदारचित्त) मानव धन-धान्यादि व्यर्थ में ही प्राप्त करता है। मैं आंगिरस ऋषि सत्य कहता हूँ कि अनुदारचित्त होना तो मरण-सदृश है। जो मानव न तो [हवि-प्रदान द्वारा] देवों को पुष्ट (तुष्ट)

करता है, और न ही मित्रवर्ग को कुछ देता है, वह अकेला भोक्ता व्यक्ति केवल पापी ही कहाता है।। ६।।

A person who is deficient in understanding (in this context: an inhospitable person) acquires food in vain: I [by the name of Āṅgirasa] speak the truth — it certainly is his death. He who does not cherish gods [through oblations in sacred fire], nor his friends; he who eats alone is nothing but a sinner. (6)

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृंक्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणंतमभि ष्यात्।। ७।।

कृषन्। इत्। फालः। आशितम्। कृणोति। यन्। अध्वानम्। अप। वृंक्ते। चरित्रैः।
वदन्। ब्रह्मा। अवदतः। वनीयान्। पृणन्। आपिः। अपृणंतम्। अभि। स्यात्।।

अन्वयः— कृषन् फालः आशितं कृणोति। अध्वानं यन् चरित्रैः अपवृंक्ते। वदन् ब्रह्मा अवदतः वनीयान्। पृणन् अपृणंतम् आपिः स्यात्।। ७।।

विशिष्ट-पदानि— फालः=हलस्य फलम्। आशितम्=भोक्तारम्। यन् (√या)=गच्छन्। अपवृंक्ते=आवर्जयति, त्यजति, अर्पयति। ब्रह्मा=विद्वान्, वेद-व्याख्याता। वनीयान्=सेवनीयः, आदरणीयः, अनुकरणीयः। पृणन्=दाता। आपिः=बंन्धुः।

कृषिं कुर्वत् हलस्य फलं कृषकं भोक्तारं करोति, कृषकः क्षेत्रे कर्षणेनैव अन्नम् उत्पादयति इत्याशयः। सुमार्गं गच्छन् असौ कृषकः कृत्यैः (श्रमेण) [अन्नम् उत्पाद्य] एतत् स्व-स्वामिने अर्पयति। उपदेष्टा विद्वान् अनुपदेष्टुः जनात् सेवनीय आदरणीयो वा भवति। इत्थम् दाता मानवः अदातुः जनात् (अदातृ-जनापेक्षया) बन्धुर्भवति।। ७।।

खेत को खोदता हुआ हल का फल कृषक (हल चलाने वाले) को भोक्ता बनाता है—उसे अन्न प्रदान करता है। सुपथ पर जाता हुआ, यथाविधि कार्य करता हुआ [कृषक] अपने कृत्यों (श्रम) से [अपने स्वामी को] अन्न अर्पित करता है। उपदेष्टा (वेद-व्याख्याता) विद्वान् अनुपदेष्टा की

अपेक्षा सेवनीय (आदरणीय, अनुकरणीय) होता है। इसी प्रकार दाता मनुष्य अदाता मनुष्य की तुलना में बन्धु माना जाता है।। ७।।

The plough-blade furrowing the field provides food [for the ploughman]; a man travelling along a smooth path, i.e., doing his job in proper way, acquires [wealth] through his good skill, [and gives it to his master]. A learned person [expounding the Vedas] is better than one not expounding them. In the same way, a generous person becomes a kinsman while a miser becomes not. (7)

एकंपाद्भूयो द्विपदो वि चंक्रमे द्विपान्त्रिपादमभ्यैति पश्चात्।
चतुंष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यंन्पंक्तीरुपतिष्ठमानः।।८।।

एकंऽपात्। भूयः। द्विऽपदः। वि। चक्रमे। द्विऽपात्। त्रिऽपादम्। अभि। एति पश्चात्।
चतुःऽपात्। एति। द्विऽपदाम्। अभिऽस्वरे। संऽपश्यन्। पंक्तीः। उपऽतिष्ठमानः।।

अन्वयः— यः एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे। द्विपात् त्रिपादं पश्चात् अभ्येति। चतुष्पाद् द्विपदाम् पंक्तीः अभिस्वरे संपश्यन् उपतिष्ठमानः एति।

विशिष्ट-पदानि— पादः=भागः। एकपाद्=एकभागधनः जनः। द्विपाद्=द्विभागधनः यद्वा द्विगुणधनः जनः। त्रिपाद्=त्रिभागधनः यद्वा त्रिगुणधनः जनः। चतुष्पाद्=चतुर्भागधनः यद्वा चतुर्गुणधनः जनः। भूयः=भूयसा कालेन। विचक्रमे=विविध-रूपेण गच्छति, गच्छेत् इत्याशयः। द्विपदाम् (बहुवचनाद् एकपादादयः त्रयः इत्याशयः)=एकपादादि-धनानाम्। अभिस्वरे=अभिगमने। उपतिष्ठमानः= गच्छमान इत्यर्थः।

[अस्मिन् संसारे एतत् सम्भाव्यते खलु यत्] यः एकभागधनः जनोऽस्ति, स द्विगुणधनस्य जनस्य मार्गं भूयसा कालेन विविधोपायैः प्राप्नुयात् चिरेण विन्देत्। यः द्विगुणधनः जनः, असौ त्रिगुणधनं जनं प्रतिस्पर्धेत। [अपि च, एतद् अपि संभाव्यते विलक्षणरूपेण यत् कश्चित्] चतुर्गुणधनः जनः एक-द्वि-त्रि-पाद-धनानाम्— एतेषां सर्वेषां— केनापि कारणेन पंक्तौ स्थानं

प्राप्तुं चेष्टत, लोकैः च आश्चर्येण ईक्ष्यमाणः स्यात्। अयमाशयः यत् संसारे न हि कस्यचित् जनस्य विषये कथयितुं शक्यते यदसौ जनः एव सर्वाधिकः धनवान् निर्धनो वा, भाग्यशाली भाग्यहीनो वा। अन्योन्यापेक्षया सर्वे एव उत्तमाः अधमाः च भवन्ति।। ८।।

[इस संसार में यह निश्चित रूप से होता है कि] जो एक-भाग धन वाला व्यक्ति है वह दुगने धन वाले व्यक्ति [के मार्ग] का अनुकरण पर्याप्त समय तक करता रहे [कि मैं भी वैसा बन जाऊँ]। जिसके पास दुगना धन है वह तिगुने धन वाले व्यक्ति का अनुकरण करे। और, [एक अति विलक्षण स्थिति यह भी संभव है कि] चौगुने धन वाला [जन किसी कारण से] एक, दो, तीन भाग वाले धनी व्यक्तियों की जाती हुई पंक्तियों को [लालसा-भरी दृष्टि से] देखता हुआ उन जैसा बन जाने की अभिलाषा करे [—शायद इस कारण कि अधिक धन मनःशान्ति का घातक होता है।]

आशय यह है कि अन्योन्यापेक्षा से कोई भी व्यक्ति न तो सर्वाधिक धनवान् है और न ही सर्वाधिक निर्धन। किसी सुपात्र जन की दान द्वारा सहायता करते समय कोई कृपण व्यक्ति यह बहाना न ढूँढे कि 'मैं तो औरों की अपेक्षा निर्धन हूँ। अतः मैं दान नहीं कर सकता।' अन्योन्यापेक्षा से तो सभी धनवान् भी हैं और निर्धन भी। पर दान देने का सम्बन्ध इस स्थिति से नहीं है—दान तो प्रत्येक अवस्था में करना ही चाहिए।। ८।।

He, who has one fourth of riches, should follow the path of a man who has two fourths of riches, that is, double than him, [so that he may flourish more.] Similarly, He, who has two fourth of riches should follow the path of one who has three-fourth of riches, that is, tripple than the first one. [But strangely enough, sometime it happens that] a person, who has fourtimes riches than the first one, beholds the traces of those who have double or triple riches as compared to the first one. Most probably, being fed of excess of riches, he wishes to have it less in order to lead his life peacefully. (8)

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्संतौ न समं पृणीतः।।९।।

समौ। चित्। हस्तौ। न। समम्। विविष्टः। संऽमातरा। चित्। न। समम्। दुहाते इति।
यमयोः। चित्। न। समा। वीर्याणि। ज्ञाती इति। चित्। संतौ। न। समम्। पृणीतः।।

अन्वयः— समौ चित् हस्तौ, न समं विविष्टः। संमातरा चित् न समं दुहाते। यमयोः चित् न समा वीर्याणि। ज्ञाती चित् संतौ न समं पृणीतः।।

विशिष्ट-पदानि— विविष्टः=कार्यं न व्याप्नुतः (संपादयतः)। यमयोः= सहजातयोः पुत्रयोः। ज्ञाती=एकस्मिन् कुले जातौ। पृणीतः=प्रयच्छतः।

यद्यपि द्वौ हस्तौ एकसमानौ [दृश्यमानौ] अपि कार्य-सम्पादने न एकसमानौ वर्तेते। मातरौ (धेनू इत्याशयः) समे अपि एकसमानं पयः न दत्तः। सहजातयोः अपि पुत्रयोः बलं समानं न भवति। [इत्थम्] एकस्मिन् कुले जातौ अपि बन्धू दानकर्मणि एक-समानौ उदारौ न भवतः।। ९।।

यद्यपि दोनों हाथ एक-समान [दीखते] हैं, पर कार्य-संपादन में ये एक-समान नहीं होते। दो माताएँ (गौएँ) एक-समान (एक जाति की) होती हुई भी एक-समान दूध नहीं देतीं। सहजात दो पुत्रों का बल एक-समान नहीं होता। [इसी प्रकार] एक ही कुल में उत्पन्न दो बन्धु दान-कर्म में एक-समान नहीं होते।। ९।।

The two hands though alike, yet they do not perform the same work; two mothers (cows) though of one breed, yet they do not yield the same milk; two twins have not the same strength. Similarly, two persons of the same family are not equally liberal. (9)

विवृति

भिक्षु सूक्त का नायक एक क्षुधार्त जन है, जो स्वगत-भाषण करता है। उसका कहना है कि मृत्यु अनिवार्य है— उसके लिए भी जो दूसरों को दिए बिना भोजन खाता है, उसके लिए भी जो दूसरों को देने के बाद

भोजन खाता है, उसके लिए भी, जो दूसरों के टुकड़ों पर पलता है, तथा उसके लिए भी जिसे भूखा रहना पड़ता है। अतः यह समझना उचित नहीं है कि भूख मृत्यु का कारण है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो घर आये जन को दिये बिना उसके सामने ही विभिन्न पदार्थों का उपभोग करने लगते हैं, पर उदाराशय जन तो सुपात्र को देने के पश्चात् ही वस्तुओं का उपभोग करते हैं। ऐसा मनुष्य सब का बन्धु माना जाता है। इस का सुपरिणाम यह होता है कि समय पड़ने पर लोग इसकी सहायता करते हैं।

वह घर भी क्या जहाँ से कोई भूखा चला जाए? वह धन-धान्य भला किस काम का, जो दूसरों के काम न आए? जो अकेला खाता है, वह मानो पाप खाता है।

सच्चा कृषक वह जिसका अन्न औरों के लिए भी है; और सच्चा उपदेष्टा वह जो अपनी शुभ शिक्षा से दूसरों को भी सुमार्ग दिखाता हुआ उनका हित साधता है।

दूसरे की समृद्धि देखकर उसी के समान समृद्ध होने की चेष्टा करना स्तुत्य है, पर कई अति समृद्ध जन ऐसे भी होते हैं जो अपने से कम समृद्ध जनों को लालसाभरी दृष्टि से देखते हैं कि काश! यह भी उन्हीं के समान कम समृद्ध होते— संभवतः ऐसे लोग अति समृद्धि से ऊब चुके होते हैं।

संसार में सब मनुष्य एक-समान नहीं होते, ठीक ऐसे, जैसे हमारे दोनों हाथ एक-समान कार्य-कुशल नहीं होते। सभी लोग दाता नहीं होते, और जो लोग दाता होते हैं, वे एक-समान दाता नहीं होते।

यह है एक भिक्षु का मनोविश्लेषात्मक चित्रण जो कि ऋषि ने इस सूक्त में प्रस्तुत किया है।

□□

१२

ऋग्वेदीय संवादसूक्त : प्रतीकात्मकता और इतिहास

[१]

ऋग्वेद के इन ग्यारह संवाद-सूक्तों को पढ़ने के अनन्तर किसी भी सुधी पाठक के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि इन सूक्तों में आये व्यक्तिवाचक नाम वास्तविक हैं अथवा प्रतीकात्मक[१] । ये नाम हैं — (१) इन्द्र, मरुत् और अगस्त्य, (२) इन्द्र और अगस्त्य, (३) अगस्त्य और लोपामुद्रा, (४) विश्वामित्र, विपाट् और शुतुद्री, (५) यम और यमी, (६) ऐलूश कवष (द्यूतकर), (७) सूर्या और सोम, (८) इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि, (९) पुरूरवा और उर्वशी, (१०) पणि और सरमा तथा (११) आंगिरस (भिक्षु) ।

ये नाम **वास्तविक हैं अथवा प्रतीकात्मक**? यह प्रश्न परवर्ती मनीषियों—ब्राह्मणग्रन्थकारों तथा यास्क आदि निरुक्तकारों[२]— के मन में भी उठा था और उन्होंने इन्हें अधिकांशतः प्रतीकात्मक माना । ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त के ही आधार पर अनेकानेक भारतीय विचारक अद्यावधि उक्त नामों के प्रतीकात्मक अर्थ स्वीकार करते चले आ रहे हैं। ऐसे अर्थ स्वीकार करने का संभावित कारण यह माना जाता है कि वेदों के मूल अर्थ जन-मानस से धीरे-धीरे विस्मृत होते चले गये थे । आइए, पहले इस विषय पर किंचित् चर्चा करें।

---

१. वस्तुतः यह प्रश्न चारों वेदों में प्रयुक्त प्रत्येक व्यक्तिवाचक संज्ञा के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है ।

२. यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक निरुक्तकारों का नामोल्लेख किया है। यथा— औदुम्बरायण, कौत्स, गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य आदि ।

चारों वेदों में से ऋग्वेद को प्राचीनतम माना जाता है । इसका रचनाकाल मैक्समूलर ने १५०० ई॰ पू॰ माना है, विंटरनित्स ने २५०० ई॰ पू॰, याकोबी ने ४५०० ई॰ पू॰, बालगंगाधर तिलक ने ६००० ई॰ पू॰, ब्राह्मणग्रन्थों का रचनाकाल मैक्डोनल के अनुसार ८०० ई॰ पू॰ से ५०० ई॰ पू॰ के बीच माना जाता है और विंटरनित्स के अनुसार ११०० ई॰ पू॰, तथा यास्क-प्रणीत निरुक्त का रचना-काल ८०० ई॰ पू॰ से ७०० ई॰ पू॰ के बीच माना जाता है। यों, अधिकतर भारतीय प्राज्ञ जन ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त का रचना-काल ३००० से २००० ई॰ पू॰ के बीच मानते हैं,

सुविधा केलिए ऋग्वेद का रचना-काल यदि ४५०० ई॰ पू॰ मान लिया जाए और ब्राह्मणग्रन्थों तथा यास्क-प्रणीत निरुक्त का २००० ई॰ पू॰, तो इस दृष्टि से इनके रचनाकाल में अधिक से अधिक २५०० वर्ष का अन्तर है, किन्हीं विचारकों की दृष्टि में यह अन्तर कम भी हो सकता है—लगभग १५०० वर्ष। जो हो, इस सुदीर्घ अन्तराल में वेदमन्त्रों के अर्थ प्रायः विस्मृत हो गये। इसका संभवतः कारण यह कि वेदों के मूल पाठ को तो विभिन्न उपायों— पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ, क्रमपाठ आदि 'विकृतियों' द्वारा सुरक्षित रखा गया, पर इनके वास्तविक अर्थों को, जो कि इनके ऋषियों (रचयिताओं) को मूलतः अभीष्ट रहे होंगे, सुरक्षित रखने केलिए कोई उपाय नहीं किये गये । ऐसे कोरे वेदपाठियों को लक्ष्य में रखकर यास्क ने कहा है –

— ऐसा जन जो वेद को पढ़ते हुए उसके अर्थ को नहीं जानता, स्थाणु (खम्भे अथवा ठूँठ) समान है तथा वह मात्र भार ढोने वाला है । पर जो अर्थ का ज्ञाता है, वही सब कल्याण (वेद-पठन के फल) को प्राप्त करता है ; उस का पाप मिट जाता है—वेद के वास्तविक अर्थ को न समझना मानो पाप है, वह इस पाप से विमुक्त हो जाता है, और वेद-पठन के अनन्तर उसे स्वर्ग (अतिशय आह्लाद) प्राप्त होता है ।[1]

— जो ले लिया, पर वह समझा नहीं, अर्थात् वेद-पाठ तो कर लिया, पर उसका वास्तविक अर्थ जाना नहीं, केवल कण्ठ से ही बोला

---

१. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा ॥
निरुक्त॰, १.१८

— जो ले लिया, पर वह समझा नहीं, अर्थात् वेद-पाठ तो कर लिया, पर उसका वास्तविक अर्थ जाना नहीं, केवल कण्ठ से ही बोला गया है— यह तो ऐसे है जैसे सूखा ईंधन, जो बिना आग के हो। वह भला कैसे प्रदीप्त दिखायी देगा।[1]

— एक मनुष्य वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता, पर वही वाणी किसी अन्य मनुष्य केलिए अपने स्वत्व को अर्पित कर देती है, ऐसे, जैसे सुन्दर वस्त्रों में सजी-धजी पत्नी अपने-आप को अपने पति को समर्पित कर देती है।[2]

इसी प्रकार की धारणा प्रकारान्तर से हमें ऋग्वेद में उपलब्ध हो जाती है — जो [मानव] उस अविनाशी तथा परम आकाश (वेदज्ञान) को नहीं जानता जिसमें सभी देवों का अधिवास है, तो वेदमन्त्र [का पाठ] उस [मानव] का भला क्या लाभ करेगा ?[3]

अस्तु ! वेदों के वास्तविक अर्थ सुरक्षित नहीं रहे, इस संबन्ध में यास्क ने स्पष्टतः उल्लिखित किया है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्ते ऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च'। (निरुक्त १.२०.१)

(धर्म को अर्थात् वेदों के मन्त्रों के अर्थ को साक्षात् करने वाले, उनका वास्तविक मर्म जानने वाले, ऋषि हुए। उन्होंने उन मनुष्यों को, जो वेदों के मन्त्रों के अर्थों को नहीं जानते थे, उपदेश द्वारा मन्त्रों के अर्थ समझाये। किन्तु परवर्ती काल में हीनमेधा वाले मनुष्यों ने, जो उनके

---

१. यद् गृहीतमविज्ञातं, निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ निरुक्त, १.१८

२. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
ऋग्० १०.७१.४, निरुक्त १.१९

३. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
ऋग्० १.१६४.३९

उपदेश से ग्लानि करते थे— उपदेश मात्र से मन्त्रार्थ समझ सकने में असमर्थ थे, वेद तथा वेदांगों का अभ्यास करना आरम्भ कर दिया तथा वे इनके पाठ मात्र से ही सन्तुष्ट रहे।)

इस प्रकार वेदों के वास्तविक अर्थों के सुरक्षित न रहने के परिणाम-स्वरूप इन्हें समझने के प्रयास में ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त-ग्रन्थों में अनेक शब्दों की अनेकानेक विकल्पात्मक व्युत्पत्तियाँ (निरुक्तियाँ) दे दी गयीं तथा बहुविध व्याख्याएं प्रस्तुत की गयीं। इतना ही नहीं, वेदों के मन्त्रों के अर्थ अनेक पद्धतियों से किये जाने का प्रयास भी किया गया । यथा – नैरुक्त, वैयाकरण, ऐतिहासिक, परिव्राजक, नैदान, पूर्वयाज्ञिक, याज्ञिक, आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक पद्धति आदि। आजकल प्राय: अन्तिम तीन पद्धतियां प्रचलित हैं।

उक्त सभी पद्धतियां निर्दिष्ट करती हैं कि वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थ की खोज न हो सकने के कारण इनके वैकल्पिक अर्थों अथवा एक से अधिक अर्थों का आश्रय लिया गया । और, यह माना गया कि वेदों का माहात्म्य इसमें भी है कि इनके मन्त्रों के एक से अधिक अर्थ हैं, तथा इनके अन्य भी अनेक अर्थ निर्दिष्ट किये जा सकते हैं ।

[२]

— अब अपने विषय पर आएँ । संवादसूक्तों में प्रयुक्त उपर्युक्त इन्द्र, मरुत् आदि नामों[१] को प्रतीकात्मक सिद्ध करने केलिए ब्राह्मणग्रन्थकारों तथा निरुक्तकारों ने इनके अनेक व्युत्पत्तिपरक अर्थ किये और इन्हें प्राय: प्रकृति के विभिन्न पदार्थों – मेघ, विद्युत्, सूर्य, उषा आदि का पर्याय माना, और मानो यह निर्दिष्ट किया कि वेदों के ऋषियों (रचयिताओं) को इन नामों से मूलत: प्रकृतिपरक विभिन्न पदार्थ अभीष्ट थे । यथा —

— इन्द्र वर्षाकारक वात है; मरुत् तूफ़ानी अन्धड़ है;[२] मरुत् इन्द्र के प्रमुख मित्र हैं। वृत्र अवर्षण एवं अन्धकार-रूप राक्षस है, अर्थात् वर्षा को

---

१. केवल यही नाम ही नहीं, अपितु देवतापरक सभी नाम । यथा – वरुण, मित्र, सूर्य, पूषा, विष्णु, विवस्वान्, उषस्, अश्विनौ, रुद्र, सोम आदि ।

२. **प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा॥** ऋग्० १.३९.५-ख

रोकने वाला बादल है। इन्द्र अपने वज्र से इस पर प्रहार करता है जिससे वर्षा होती है। इस कार्य में मरुद्‌गण (तूफानी अन्धड़) भी इन्द्र की सहायता करते हैं।[१] वर्षा होने पर अन्न उपजता है, तभी इन्द्र की एक व्युत्पत्ति है—

इन्द्रः इराम् अन्नं दृणाति विदारयति वर्ष-क्लेदितम् अङ्कुरं बीजं भिनत्ति।

—यम दिन है और यमी रात है, तथा यम अग्नि है तो यमी उसकी ज्वाला है। सूर्या (सूर्य की पुत्री) उषा है। वृषाकपि उदित अथवा अस्त होता हुआ सूर्य है, अथवा यह एक नक्षत्र है जिसके मार्ग का अनुसरण इन्द्र (आदित्य) करता है। पुरूरवा सूर्य है और उर्वशी उषःकालीन धुँधलका है, जो कि सूर्योदय होते ही मिट जाता है। अथवा, पुरूरवा गरजता हुआ बादल है[२] और उर्वशी कड़कती-कौंधती, चमकती-दमकती बिजली है।[३] इस संबन्ध में अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहारी कल्पना की गई है कि पुरूरवा (गरजते बादल) और उर्वशी (कड़कती बिजली) के समागम से आयु (जल) नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई (दे०, पृष्ठ २४९), किन्तु बिजली ने जब बादल को निर्वस्त्र (जलहीन) देखा तो वह भाग गयी (लुप्त हो गयी)। इस स्थल से एक अन्य प्रतीकार्थ यह भी लिया जाता है कि ज्यों ही मानव-चेतना क्षीण हो जाती है, त्यों ही उससे विचारण-ज्योति तुरन्त निःसृत होकर बुझ जाती है।

इस प्रकार आख्यान-सूक्तों (संवाद-सूक्तों) के उपर्युक्त पात्र किन्हीं चिन्तकों के अनुसार व्यक्ति-विशेष न होकर, रूपक (निरंग-रूपक) के माध्यम से, उपमान मान लिये गये और इनके उपमेय प्राकृतिक पदार्थ हो गये । यथा —

— 'यम-यमी सूक्त' में यम और यमी नामक दो व्यक्तियों की गाथा निरूपित नहीं है, अपितु इसमें आलंकारिक रूप से दिन और रात्रि का वर्णन किया गया है। पर इन दोनों को क्रमशः दिन और रात का प्रतीक मानना समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दिन और रात कभी एक-साथ नहीं होते, अतः उनका परस्पर संवाद असंभव है।

---

१. इरां दृणाति यत्काले मरुद्भिः सहितोऽम्बरे ।
रवेण महता युक्तस्तेनेन्द्रमृषयोऽब्रुवन् ॥ बृहदेवता २.३६

२. पुरूरवा बहुधा रोरूयते ।

३. उर्वशी विद्युत्, उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुते दीव्यति इति ।

— 'पुरूरवा-उर्वशी सूक्त' के संबन्ध में कहा गया कि यह इन दो व्यक्तियों के आख्यान से संबन्धित न होकर गरजते बादल और कड़कती-कौंधती बिजली के दृश्यों का वर्णन करता है। निरुक्तकार ऐसे प्रतीकात्मक अर्थों के संबन्ध में कहते हैं कि मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझाने केलिए द्रष्टाओं (ऋषियों) की प्रीति (विशेष रुचि) इन्हें किसी आख्यान-विशेष से जोड़ देने में होती है, अर्थात् वे इन्हें समझाने केलिए आख्यानों का सहारा लेते हैं—**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता** (निरुक्त १०. १०.२)। पर सम्पूर्ण ऋग्वेद के कुल १०२८ सूक्तों में मात्र २०-२२ सूक्त ऐसे हैं जो आख्यान-सूक्त माने जाते हैं। ऐसी आवश्यकता तो अन्य सूक्तों में भी हो सकती थी।

— वृषाकपि से आशय — प्रातःकालीन, मध्याह्नकालीन तथा सायंकालीन — तीनों कालों का आदित्य ग्रहण किया गया है।

[३]

इधर इस युग में स्वामी दयानन्द (सन् १८२४-१८८३) तथा इनके अनुयायियों ने वेदों का अर्थ — निरुक्तियों के आधार पर (प्रायः प्रत्येक शब्द को यौगिक अर्थात् धातुज मानते हुए) — सामाजिक, भौतिक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक और यहाँ तक कि वैज्ञानिक धरातल पर करते हुए, नवीन दृष्टि देने का प्रयास किया है। उक्त संवाद-सूक्तों के अन्तर्गत आये नामों के प्रतीकात्मक अर्थों केलिए इन्होंने न केवल ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त का आधार ग्रहण किया है, अपितु अपनी ओर से अन्य भी अनेक प्रतीकात्मक अर्थ किये हैं। यथा—

—स्वामी जी ने यम-यमी से तात्पर्य क्रमशः पति-पत्नी लिया है।

—इन्द्र को उन्होंने प्रसंगवशात् कभी परमात्मा, कभी जीवात्मा, कभी सूर्य, कभी विद्युत्, कभी शासक, कभी सभाध्यक्ष, कभी आचार्य, कभी सेनापति, कभी महान् पुरुष आदि अनेक अर्थों का वाचक माना है।

—विश्वामित्र-विपाट्-शुतुद्री-संवाद के अन्तर्गत स्वामी जी इन्द्र को एक ऐसे पराक्रमी, उद्यमी मानव का प्रतीक मानते हैं जो सांसारिक कार्यकलाप को सुचारु रूप से चलाने केलिए जलाशय खोदता है, जलाप्लावित नदियों के पार पहुँचता है। विपाट् और शुतुद्री स्वामी जी की दृष्टि में ऐसी नारियों की प्रतीक हैं जो अपने-अपने गृहकार्यों में गतिशील हैं, अर्थात् निरन्तर व्यापृत रहती हैं, आदि।

—इसी प्रकार इन्द्र और मरुद्गण को उन्होंने कहीं क्रमशः वीर शासक और उसके सैन्यगण का, तथा कहीं आत्मा और उसकी प्राणशक्ति का प्रतीक माना है।

—लोपामुद्रा-अगस्त्य-संवाद के अन्तर्गत 'अगस्त्य' शब्द से उन्हें अभीष्ट है—धर्मपरायण, साधु, विद्वान्, विज्ञान-निपुण, व्यवहार-कुशल मानव। उनके अनुसार 'लोपामुद्रा' शब्द की व्युत्पत्ति है— **'लोप एव आमुद्रा समन्तात् प्रत्ययकारिणी यस्याः सा,** अर्थात् ऐसी नारी, लोप हो जाना (लुक-छिप जाना) ही, प्रतीत होने का चिह्न है जिसका। इससे संभवतः उनका आशय है कि कामातुरा पत्नी भी लज्जाशीला होती है। इस सूक्त के आधार पर उनका निष्कर्ष है कि नारी ऐसे युवा से विवाह करे जो ब्रह्मचारी, अध्ययनशील, सत्यवादी हो और उसकी लज्जाशील पत्नी गृह-संबन्धी कार्यों में संलग्न रहती हुई गृहस्थ-धर्म का पालन करे।

—एक आख्यान के आधार पर 'अगस्त्य' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—**'अगं विन्ध्याचलं स्त्यायति स्तभ्नाति इति अगस्त्यः'** (जिसने विन्ध्य-पर्वत को जकड़ रखा है, वह अगस्त्य है)। इससे यह सिद्ध किया जाता है कि विन्ध्य-पर्वत मेरु पर्वत जैसा उत्तुंग नहीं है, और यह भी कि अगस्त्य मुनि दक्षिण दिशा में जाकर बस गये।

—ऋग्वेद के चार मन्त्रों (७.३३.१०-१३) के आधार पर अगस्त्य मुनि का जन्म 'मित्रावरुणौ' (मित्र और वरुण) से माना जाता है। स्वामी दयानन्द के अनुयायी स्वामी विद्यानन्द के अनुसार मित्र और वरुण क्रमशः आक्सीजन और हाइड्रोजन गैसें हैं, और इनके नियत अनुपात से अगस्त्य अर्थात् जल बनता है। (भूमिका-भास्कर, पृष्ठ ७८)

इस प्रकार सच पूछें तो इस अनेकार्थकता एवं प्रतीकात्मकता का तथा इनके कारण मन्त्रों की बहुविध व्याख्या का कोई अन्त नहीं है।

[४]

किन्तु उक्त धारणा के विपरीत अनेक भारतीय विचारक मानते हैं कि वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों की मध्यवर्ती कालावधि में भी वेदमन्त्रों के मूल अर्थ प्राज्ञ जनों को सदा ज्ञात रहे। किन्तु ऐसा मान लेना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता । वेदमन्त्रों का पाठ तो उपर्युक्त उपायों से अक्षुण्ण बना रहा और आज भी है, किन्तु यदि अर्थ भी अक्षुण्ण बने रहते, तो न तो

पदों के वैकल्पिक अथवा बहुविध निर्वचन करने की आवश्यकता पड़ती, और न ही वेदमन्त्रों की अनेक व्याख्या-पद्धतियाँ विकसित होतीं। अत: प्रस्तुत सन्दर्भ में वही समस्या पुन: लौट कर आती है कि संवादसूक्तों के उक्त पात्रों से क्या अभिप्रेत है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि —

- वैदिक ऋषियों को इन पात्रों से यही नाम और इनसे संबन्धित यही आख्यान ही अभीष्ट रहे होंगे।
- पर अनेक शताब्दियों अपितु कई सहस्राब्दियों पश्चात् भारतीय प्रज्ञा ने इन्हें प्राकृतिक पदार्थों से जोड़ा तथा इन्हें देवत्व के उच्च आसन पर आसीन कर दिया।
- इसके अतिरिक्त, यजुर्वेद के प्रभाव से देवयज्ञों का (कर्मकाण्ड का) महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और ब्राह्मणग्रन्थकारों ने मन्त्रों की याज्ञिक व्याख्याओं के अन्तर्गत इन देवों को विभिन्न यज्ञों से भी संबन्धित कर दिया।

विश्व भर के किसी भी काव्य-पाठ की विभिन्न व्याख्याएं विविध दृष्टियों से करना प्रत्येक प्रज्ञावान् का अधिकार है, पर ऐसा न हो कि वह व्याख्या संभावित अर्थ से बहुत दूर जा पड़े। पुरूरवा और उर्वशी को क्रमश: गरजते बादल और कड़कती बिजली का प्रतीक भले ही स्वीकार कर लिया जाए, पर इस पूरे आख्यान को इन दोनों प्राकृतिक पदार्थों के साथ, हम कहाँ तक और कितनी सीमा तक, खींचते चले जा सकते हैं ? रूपक का आधार, चाहे वह सांग हो अथवा निरंग, वहां तक ग्रहणीय है, जहां तक वह बुद्धिगम्य तथा सहज-बोध्य हो तथा अधिक दूर तक ऊहापोह-समन्वित न हो।

[५]

इसी से सम्बद्ध प्रश्न है कि **वेदों में इतिहास** माना जाए अथवा नहीं। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह निर्दिष्ट करना आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द, उनके अनुयायी तथा अन्य भी अनेक भारतीय विचारक, वेदों को पौरुषेय अर्थात् मानव-रचित नहीं मानते। उनके अनुसार वेद

नित्य हैं, क्योंकि वेद में निहित ज्ञान ईश्वरीय है । रूपक अलंकार में कहें तो चारों वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए । इसी संबन्ध में स्वामी जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोत्पत्ति' विषय के अन्तर्गत सर्वप्रथम निम्नोक्त मन्त्र उद्धृत किया है–

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे,
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

(ऋग्० १०.९०.९, यजु० ३१.७)

यहाँ 'यज्ञ' शब्द से स्वामी जी का तात्पर्य ईश्वर है । ईश्वर से ही ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद उत्पन्न हुए ।[1] इसके बाद अगले प्रकरण 'वेदानां नित्यत्वविचारः' में वे लिखते हैं कि 'ईश्वर नित्य है, अतः उसका ज्ञान (वेद) भी नित्य अर्थात् अनादि और अनन्त है–न इसका आदि है और न इसका अन्त है; यह सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। यह ज्ञान, जैसा कि इस सृष्टि के आरम्भ में था, वैसा इससे पूर्व-कल्पों[2] में भी था, ऐसे, जैसे सूर्य-चन्द्रमा आदि पूर्व-कल्पों में विद्यमान थे।[3] इस कल्प और पूर्व कल्प की मध्यवर्ती कालावधि में, अर्थात् प्रलय-काल में, यह ज्ञान अप्रत्यक्ष हो गया था । इस कल्प के आरम्भ में वही ज्ञान पुनः प्रत्यक्ष हो गया, और प्रलय आने पर फिर अप्रत्यक्ष हो जाएगा । इस प्रकार यह क्रम चलता रहा है और चलता रहेगा ।' इस कारण स्वामी जी, उनके अनुयायी तथा अन्य विचारक-बन्धु भी, वेद (ज्ञान) को सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत मानते हैं, इसे किसी व्यक्ति के द्वारा रचित नहीं मानते। वेद अपौरुषेय हैं।

---

१. इसी आशय के अन्य अनेक स्थल वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं । यथा– **अस्य महतो भूतय निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।**
(शतपथ-ब्राह्मण १४.५.४.१०)

२. इन कल्पों का आरम्भ कब से हुआ ? इस विषय में भारतीय प्रज्ञा को इस कल्प से पूर्व, अपितु उस कल्प से पूर्व, उस कल्प से पूर्व....पूर्व.....पूर्व आदि अनन्तता अभीष्ट है । एक कल्प = ब्रह्मा का एक दिन या १००० युग; मनुष्यों का ४३,२०,००००० (४३ करोड़ २० लाख) वर्ष का समय; सृष्टि की अवधि का माप।
(संस्कृत-हिन्दी-कोश, वी.एस. आप्टे)

३. **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।** (ऋग्० १०. १९०. ३-क)

ज्ञातव्य है कि वेद में निहित ज्ञान को ही नहीं, स्वामी जी वेद के पाठ को भी नित्य मानते हैं, अर्थात् पूर्वकल्पों में भी वेद का यही पाठ था, आज भी वही पाठ है, और परवर्ती कल्पों में भी यही पाठ रहेगा। किन्तु इसके विपरीत वेद-पाठ की तुलना में वे मानवों द्वारा प्रयुक्त व्यवहार-वाक्यों को अनित्य अथवा कार्य मानते हैं, अर्थात् हम मानव जो कुछ बोलते हैं वह सदा परिवर्तनशील रहा है, आज भी परिवर्तित हो रहा है तथा आगे भी परिवर्तित होता रहेगा । इस प्रकार शब्द दो प्रकार का है – नित्य और अनित्य।[1]

स्पष्ट है कि वेद को उक्त रूप में नित्य मानने का आधार वेद के प्रति अतिरिक्त आस्था एवं श्रद्धा है । किन्तु किसी भी मन्तव्य की यथार्थता के निर्णय में इस प्रकार के मनोभाव बाधा उपस्थित करते हैं । वेदों की रचना कब हुई – स्वामी जी के अनुसार यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि पूर्वकल्पों से आगत न केवल वेद का ज्ञान वरन् वेद का यह पाठ भी इस सृष्टि का आरम्भ होते ही स्वतः आविर्भूत हो गया था।

[६]

इस प्रसंग में दो प्रश्न विचारणीय हैं–

१. क्या वेदों का पाठ किसी स्थिति में बदला भी जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्पष्ट संकेत किया है कि ऋत्विक् यज्ञ करते समय किसी मन्त्र के शब्द में प्रयुक्त लिंग, वचन और विभक्तियों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर सकता है–

ऊहः खल्वपि न सर्वैर्लिंगैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्राः निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणयितव्याः ।

— महाभाष्य १.१.१

---

१. ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् । ..... शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्म-ज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्तन्ते ते तु कार्याश्च। ....यथाऽस्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसंबन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रेभविष्यन्ति च। कुतः, ईश्वरविद्यायाः नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च। अत एवेदमुक्तमृग्वेदे 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति ।

(ऋ० भा० भू०, वेदानां नित्यत्वविचारः)

किन्तु उदारचेता पतञ्जलि यह छूट देते हुए भी निःसन्देह यह कदापि स्वीकार नहीं करते कि वेद के पाठ का कोई अंश सदा केलिए परिवर्तित कर दिया जाए ।

२. क्या वेदों के किसी मन्त्र का अर्थ भी किसी स्थिति में बदला जा सकता है ? इसका उत्तर मीमांसकों के अनुसार तो यह है कि वेद अपौरुषेय हैं, अतः वे स्वतःप्रमाण हैं । इस कारण इनमें अर्थपरिवर्तन नहीं होता और न ही किया जा सकता है । अर्थपरिवर्तन तो लौकिक कथनों का ही संभव है क्योंकि ये कथन पौरुषेय होते हैं। परिणामतः, एक से अधिक मानवों द्वारा बोला गया एक ही कथन, भिन्न परिस्थितियों एवं प्रसंगों में, प्रत्येक मानव के निजी मनोभावों के अनुकूल, भिन्न-भिन्न अर्थों का द्योतन करता है।[1]

किन्तु मीमांसकों के उपर्युक्त मन्तव्य को स्वीकार करने से पहले वेदों के मूल अर्थ की खोज करनी होगी, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के रचना-काल से भी बहुत पहले जनमानस से उतर चुका होगा ।

[७]

हमारा मूल प्रश्न है कि वेदों में इतिहास है अथवा नहीं । इस प्रसंग में 'वेदों की रचना कब हुई', यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है । महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि रचना जब भी हुई हो, क्या उस देश और काल का प्रभाव वेद के पाठ और कथ्य पर पड़ा है अथवा नहीं? इसी प्रश्न को यों कहा जाता है कि वेद में इतिहास है अथवा नहीं ।

यहां 'इतिहास' शब्द आज के अर्थ में 'हिस्ट्री' का पर्याय नहीं है । यहां इससे अभीष्ट है **'इति ह आस'** (यह निश्चयपूर्वक था), अर्थात् किसी देश और काल में विशिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति का अस्तित्व निश्चित रूप से था । उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में उषा के विषय

---

१. इधर बहुत आगे चलकर नवम शती के आचार्य आनन्दवर्धन ने, मीमांसकों से प्रभावित होकर नहीं, अपितु स्व-मन्तव्य के अनुसार, लोकभाषा के संबन्ध में कहा है कि 'एक ही कथन से व्यंजना वृत्ति के बल पर विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग अर्थ द्योतित हो सकते हैं ।' (ध्वन्यालोक, ३.३३, वृत्ति)

में कहा गया है कि

— 'द्युलोक की यह बेटी प्रकाश के वस्त्र पहन कर पूर्व दिशा में प्रकट होती है और अपनी आकर्षक छवि को अनावृत करती है।'[१]

— 'वह एक नर्तकी की भाँति मोहक वस्त्रों में लिपटी, चमकती-दमकती, अपनी छाती को खोल रही है।'[२]

तो स्पष्ट है कि इस मन्त्र के रचना-काल में नारी का अस्तित्व भी था, नर्तकी का भी, तथा रंग-बिरंगे वस्त्रों का भी, आदि ।

इधर, इन सभी संवाद-सूक्तों में प्रयुक्त व्यक्तिवाचक तथा जातिवाचक संज्ञाएं और इन सूक्तों में निर्दिष्ट घटनाएं पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि जब इनकी रचना की गयी थी तो इन घटनाओं से संबन्धित सब-कुछ उस युग में विद्यमान था, और इसी विद्यमानता का नाम 'इतिहास' (इति ह आस) है । यथा–

- अगस्त्य जैसे संयमी पुरुष थे, लोपामुद्रा जैसी 'यथासमय' कामुकी नारियां थीं ।
- विपाट् और शुतुद्री सदृश नदियां थीं, तथा
- विश्वामित्र जैसे लोग थे जो नदियों को पार कर दूसरे किनारों पर जाया करते थे ।
- यम-यमी जैसे भाई-बहिन थे, तथा संभवतः अन्य भी ऐसे भाई-बहन रहे हों ।
- सूर्या का विवाह सोम से हुआ, तो स्पष्ट है कि विवाह-प्रथा प्रचलित हो चली थी । विवाह-मण्डप में नव वर-वधू के मंगल-कामनाएं की जाती थीं और वधू को आशीर्वचनों से लाद

---

१. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना परस्तात् ।
ऋग्० १.१२४.३

२. अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः ॥
ऋग्० १.९२.४

दिया जाता था, आदि ।

- पुरूरवा-उर्वशी जैसे पति-पत्नियों के बीच सम्भोग और विप्रलम्भ की घटनाएं घटित होती रहती होंगी ।
- पणियों जैसे लोग होंगे जो पशुधन की चोरी-चकारी करते होंगे, और 'सरमा' ज़ैसे जासूसी कुक्कुर भी होंगे ।
- भिक्षावृत्ति पर रहने वाले अंगिरस जैसे भिक्षुक होंगे ।
- ऐलूश कवष जैसे द्यूतकार होंगे, जो सोचते होंगे कि क्यों न खेती-बाड़ी जैसे अर्थोत्पादक काम किये जाएं ? तो द्यूत-क्रीड़ा भी होती थी और खेतीबाड़ी का काम भी होता था ।

ये सब घटनाएं सिद्ध करती हैं कि वेदों की रचना के समय एक विकसित समाज़ था । इनकी रचना चाहे जब भी हुई हो, पर इन्हें सृष्टि के आदि में स्वतः आविर्भूत मानना समुचित प्रतीत नहीं होता।

[८]

शंका अब भी शेष है कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के जो प्रकृति-परक अर्थ किये गये हैं, क्या वे मान्य हैं अथवा नहीं? निःसन्देह वे मान्य हैं, पर व्यंजित रूप में । उदाहरणार्थ, पूरे सूक्त में घटना तो पुरूरवा-उर्वशी की है, पर गरजते बादल और कड़कती बिजली का अर्थ भी यदा-कदा, और वह भी कुछ मन्त्रों में, व्यंजित हो जाता है। इसे काव्यशास्त्र के अनुसार अभिधामूला अथवा लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना का चमत्कार माना जाता है। इसी प्रकार, वर्णन तो यम-यमी का है, पर साथ ही दिन और रात का अर्थ भी कहीं-कहीं (किन्हीं मन्त्रों में) अभिव्यक्त हो रहा है । इसे काव्यशास्त्र में आर्थी व्यंजना का चमत्कार कहते हैं ।

तो क्या ऐसे स्थलों में वैदिक ऋषियों को मूल प्रसंग के साथ दूसरा अर्थ भी अनुस्यूत रूप में अभीष्ट रहा होगा । इसकी संभावना कहीं हो सकती है, कहीं नहीं हो सकती । जैसे पुरूरवा-उर्वशी तथा यम-यमी के प्रसंगों में यह संभावना प्रतीत नहीं होती । इन प्रसंगों में दूसरा अर्थ आगे चलकर परवर्ती मनीषियों द्वारा द्योतित किया गया प्रतीत होता है, और वाच्यार्थ के साथ-साथ यथासंभव ऐसे व्यंग्यार्थों को निर्दिष्ट करते चलना मनीषियों का पूर्ण अधिकार भी है । पर 'इन्द्र-मरुत् संवाद' जैसे

प्रसंगों में प्रतीत होता है कि इन व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का दूसरा अर्थ क्रमशः 'वर्षाकारक बादल' और 'तूफानी अन्धड़' रूप व्यंग्यार्थ स्वयं वैदिक ऋषियों को वाच्यार्थ के साथ-साथ अभीष्ट रहा होगा।

यह ठीक है कि काव्यसौंदर्य प्रकट करने का एक माध्यम यह भी है कि वाच्यार्थ के साथ अन्य अर्थ भी द्योतित होता रहे और इस प्रकार के विविध माध्यमों का प्रयोग विश्व भर के काव्य में आज भी होता है, अपितु कह सकते हैं कि वैदिक काल से आज तक निरन्तर होता चला आ रहा है। किन्तु यह सब होने पर भी क्या ही अच्छा होता कि यदि वेद जैसे अमर ग्रन्थ का अर्थ भी उसके पाठ के समान यथावत् एवं अक्षुण्ण बना रहता जो कि स्वयं वैदिक ऋषियों को अपने युग में अभीष्ट रहा होगा।

उपर्युक्त अभाव को तर्क-संगत सिद्ध करने केलिए निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य का निम्नोक्त मन्तव्य प्रस्तुत किया जाता है कि 'वेदों के मन्त्रों के अर्थ महान् होते हैं और साथ ही दुर्ज्ञेय भी होते हैं। जैसे अश्वारोही की पटुता के बल पर अश्व विभिन्न चालों में भाग रहा होता है, उसी प्रकार वेदाध्येता की विचारणा-शक्ति के आधार पर हम वेदों के मन्त्रों के गम्भीरातिगम्भीर एवं विभिन्न अर्थों से अवगत होते रहते हैं।[१]'

पर सत्य तो यह है कि दुर्गाचार्य की उक्त अवधारणा से इस समस्या का समाधान नहीं होता कि वैदिक मन्त्रों का मूल अर्थ क्या होगा। समय-समय पर इनके जितने अर्थ किये जाते रहेंगे, मूल समस्या और भी अधिक विकट से विकटतर होती चली जाएगी।

वेदों के प्रति श्रद्धातिरेक के कारण अनेक भारतीयों का (तथा उधर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का भी) यह मन्तव्य है कि 'स्वयं ऋषियों को मन्त्रों के वाच्यार्थ के अतिरिक्त इनके अन्य-अन्य अनेक अर्थ भी सर्वत्र

---

१. महार्था ह्येते दुश्परिज्ञानाश्च। यथाश्वरोहवैशिष्ट्यादश्वाः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधु साधुतरांश्चार्थन् स्रवन्ति....... क्वचिन्न आध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थान्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्थाः उपपद्येरन्-- आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्वे एव ते योग्याः नात्रापराधोऽस्ति। (निरुक्त २.८.१, दुर्गाचार्य)

अथवा कहीं-कहीं अभीष्ट रहे होंगे। पर वस्तुतः यह समस्या का समाधान नहीं है। वाच्यार्थ के साथ-साथ, एक-दो अन्य अर्थों की, और वह भी कहीं कहीं, न कि सर्वत्र, संभावना तो की जा सकती है, पर एक-दो से अधिक अर्थों का अस्तित्व प्रायः संभव प्रतीत नहीं होता।

इस दिशा में एक और मन्तव्य प्रस्तुत किया जाता है कि 'प्रत्येक काव्य-पाठ में उसका अर्थ निहित रहता है जिसका अन्वेषण अध्येता को स्वयं करना होता है।' यह मन्तव्य निःसन्देह मान्य है, पर उस सीमा तक, जहाँ तक अध्येता पाठ के लगभग उसी अर्थ तक पहुँचता है जो इसके मूल रचनाकार को अभीष्ट रहा होगा। अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने केलिए माना कि कहीं श्लेष अलंकार का अथवा कहीं अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का और प्रायः आर्थी व्यंजना का आश्रय लेते हुए प्र...कात्मक अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं, पर ऐसे स्थल अत्यल्प ही होते हैं।

वस्तुतः, आज आवश्यकता है वेदों के मूल अर्थ तक पहुँचने की। इसी में वेद की सुरक्षा है। इसके लिए हमें व्युत्पत्तिशास्त्र और मिथकीय गाथाओं, तथा प्रतीकात्मकता और आलंकारिकता जैसे पुरातन उपकरणों के साथ-साथ अब कुछ नये साधन ढूँढने होंगे। आधुनिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान, पौराणिक-गाथाविज्ञान, इतिहास और भूगोल-विज्ञान, समाजविज्ञान, पुरातत्त्व और नृवंशविज्ञान, नक्षत्र और उपग्रह-विज्ञान, और अधुनातन युग के जीन्स और जीनोम तथा क्लोनिंग विज्ञान, और न जाने किस-किस प्रकार के विज्ञानों की सहायता के बल पर वेदों के मूल अर्थ तक पहुँचने का सुप्रयास करना होगा, और यह सब कुछ कम्प्यूटर, इन्टरनैट आदि के युग में हो सकना असम्भव प्रतीत नहीं होता। वेद के प्रति सच्ची और यथार्थ श्रद्धा इसी और केवल इसी प्रयास में निहित है कि हम इसके वास्तविक अर्थ तक पहुँच सकें।

□□□

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद-संहिता

अभिज्ञानशाकुन्तल (कालिदास)

आर्षानुक्रमणी (शौनक)

उणादिकोष

ऋक्सर्वानुक्रमणी अथवा सर्वानुक्रमणी (कात्यायन)

ऋग्वेद-भाष्य (स्वामी दयानन्द)

ऋग्वेद-भाषाभाष्य (जयदेव वेदालंकार)

ऋग्वेदभाष्य-भूमिका (सायणाचार्य)

ऋग्वेद-संहिता (सायणाचार्य, उव्वट, महीधर-भाष्य)

ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका (स्वामी दयानन्द)

ऐतरेय ब्राह्मण

कल्याण (पत्रिका) : देवता अंक

किरातार्जनीय (भारवि)

छान्दोग्य उपनिषद्

ताण्ड्यब्राह्मण

ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन)

निरुक्त (यास्क), दुर्गाचार्य-टीका

निरुक्तमीमांसा (शिवनारायण शास्त्री)

नीतिमंजरी (द्या द्विवेद)

बृहद्देवता (शौनक)

पुराण-साहित्य : हरिवंशपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्मपुराण, भागवतपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण

मनुस्मृति

महाभारत

महाभाष्य (पतञ्जलि)

मीमांसाभाष्यवार्तिक

यजुर्वेद-संहिता

रघुवंश (कालिदास)

वाल्मीकि-रामायण

वेणीसंहार (भट्ट नारायण)

वेदरहस्य (योगिराज अरविन्द)

वेदार्थदीपिका (सद्गुरुशिष्य)

वैदिक साहित्य और संस्कृति (बलदेव उपाध्याय)

शतपथब्राह्मण

सत्यार्थप्रकाश (स्वामी दयानन्द)

सनातनधर्मालोक : आठवां सुमन (दीनानाथ शर्मा सारस्वत)

History of Indian literature (M.M. Winternitz)

History of Sanskrit Literature (A.A. Macdonell)

Vedic Mythology (A.A. Macdonell)

(वैदिक देवशास्त्र : सूर्यकान्त)

Sanskrit English Dictionary (M.M. William)

संस्कृत-हिन्दी-कोश (वामन शिवराम आप्टे)

ऋग्वेदीय-संवादसूक्त-मन्त्रानुक्रम

उद्धरणांशानुक्रम

□□□

का उल्लेख किया गया है। इस कथा-यात्रा से तत्कालीन जन-मानस और समाज की समय-समय पर परिवर्तित होती स्थिति पर भी अनायास प्रकाश पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त ये संवाद-सूक्त परवर्ती नाटक-साहित्य का निस्सन्देह आदिम स्रोत माने जा सकते हैं।

इन आख्यानों में प्रस्तुत इन्द्र, मरुत्, अगस्त्य-लोपामुद्रा, विश्वामित्र, वृषाकपि, यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, सरमा-पणि आदि देवता (पात्र), ब्राह्मणग्रन्थों और यास्क के समय से ही, प्रतीकात्मक तथा आलंकारिक रूप में ग्रहण किये जाते रहे हैं। इधर सायणाचार्य, स्वामी दयानन्द, अरविन्द घोष जैसे मनीषियों की भी यही दृष्टि रही है। इस प्रतीकात्मकता का विशिष्ट आधार है इन नामों की विभिन्न निरुक्तियाँ । यथा, 'पुरूरवा' गरजता हुआ बादल है तो 'उर्वशी' कड़कती, चमकती-दमकती ब्रिजली; यम दिन है तो यमी रात है, आदि। विवृति के अन्तर्गत तथा पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इस विषय को भी प्रस्तुत करते हुए इसके औचित्य पर प्रकाश डाला गया है कि ऐसे प्रयास अनेक कारणों से किसी निश्चित दिशा की ओर संकेत नहीं करते।

उपसंहार-स्वरूप अन्तिम अध्याय में चर्चा यह भी की गयी है कि उपर्युक्त नामों से वेदों में इतिहास ('इति ह आस') सिद्ध होता है अथवा नहीं । इसी अध्याय में अन्य अनेक विषयों के साथ-साथ इस विषय पर भी चर्चा की गयी है कि क्या हम किन्हीं उपायों से वेदों के मूल अर्थ तक पहुँच सकते हैं कि जिससे शताब्दियों से सुरक्षित इस अमूल्य निधि की वास्तविक पहचान हो सके।

आशा है कि भारत के प्राचीनतम काल के संबन्ध में रुचि रखने वाले सुबुद्ध जनों केलिए यह ग्रन्थ पर्याप्ततः मूल्यवान् सिद्ध होगा।

प्रो० सत्यदेव चौधरी (1920)–**जन्मस्थान :** जतोई ज़िला मुज़फ़्फ़रगढ़ (अब पाकिस्तान में)। **शैक्षिक योग्यता :** शास्त्री (पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर), एम.ए. (संस्कृत तथा हिन्दी, दोनों प्रथम श्रेणी में), पीएच.डी. (हिन्दी) दिल्ली विश्वविद्यालय)। **अध्यापन :** हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (1950-1983), इन्डॉलोजी डिपार्टमेंट, ट्यूबिंगन यूनिवर्सिटी, ट्यूबिंगन (जर्मनी) : प्रोफ़ेसर संस्कृत तथा हिन्दी। इन दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य-रत (अवैतनिक)। **अनुसन्धान-निर्देशन :** लगभग तीस छात्रों द्वारा एम. फ़िल और पीएच.डी. के लिए शोध-प्रबन्ध दिल्ली विश्वविद्यालय से। **विशिष्ट अध्ययन-अध्यापन :** भारतीय काव्यशास्त्र, वैदिक साहित्य, भाषाविज्ञान, मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य। **आजकल :** निदेशक, रामकृष्ण जयदयाल डालमिया श्रीवाणी न्यास, नई दिल्ली।

प्रमुख ग्रन्थ– हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य (शोध-प्रबन्ध), भारतीय काव्यशास्त्र, (भारतीय काव्यशास्त्र: संक्षिप्त संस्करण), काव्यशास्त्र के परिदृश्य, भारतीय शैलीविज्ञान, शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र, संस्कृत-समीक्षा: सिद्धान्त और प्रयोग, रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार, हिन्दी काव्यादर्श (प्रथम परिच्छेद), हिन्दी अभिज्ञानशाकुन्तल, ऋग्वेदीय संवाद-सूक्त, Dialogue Hymns of Ṛgveda, वैदिक साहित्य : परिदृश्य और परम्परा, वैदिक साहित्य का अवलोकन, ईशोपनिषद् (हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में, मुक्त छन्द में), स्वयंभू-कृत पउमचरिउ तथा रिट्ठणेमिचरिउ का संक्षिप्त विश्लेषण, Glimpses of Indian Poetics, The Bihari Satasai (English Translation in free verse).

बाल-साहित्य : हिन्दी में– शिक्षाप्रद और सरस बाल-कहानियाँ (12 पुस्तकें), क्या वे थे डायनासोर!, भारतीय स्वतन्त्रता-संघर्ष की कहानी, हमारे दाँत, बच्चे की उत्पत्ति, अन्टार्कटिका, टाइटैनिक जलयान, रोमांचिकी, चन्द्रतल पर मानव के पहले चरण।

संस्कृत में– सरसा: शिक्षाप्रदा: बालकथा: (3 पुस्तकें), के ते आसन् डायनासोरा:!, भारतीय-स्वतन्त्रता-संघर्षगाथा, अस्माकं दन्ता:, शिशो: उत्पत्ति, दक्षिणध्रुवप्रदेश: टाइटैनिक-जलयानम्, रोमाञ्चिकी, चन्द्रतंले मानवस्य प्रथमं पदार्पणम्।

पुरस्कार– पंजाब सरकार, उत्तरप्रदेश सरकार, डालमिया पुरस्कार-समिति, दिल्ली संस्कृत अकादमी तथा दिल्ली हिन्दी अकादमी द्वारा अनेक पुरस्कार।

अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली–2

ISBN 81-7943-010-3